19

...गा है। आरम्भ में विषय

प्रयोजन

'शरीर-क्रिया-विज्ञान' प्रकाशित होने के पश्चात् अनुभव से ज्ञात हुआ कि शरीर-क्रिया-विज्ञान के आधार-भूत कई सिद्धान्तों को ठीक समझाने के लिए एक पृथक् ही ग्रन्थ की आवश्यकता है। 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' की रचना इसी प्रयोजन से हुई है। ग्रन्थ का पारायण करने से वाचकों को विदित होगा कि—इस पुस्तक का विषय न केवल शरीर-क्रिया-विज्ञान का आधार-भूत है, किन्तु आयुर्वेदीय द्रव्यगुणविज्ञान और स्वस्थवृत्त तथा अंशतः चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्तों की भी व्याख्या करता है। अन्तिम अध्याय देखने से प्रतीत होगा कि, यह विषय रोग-परीक्षा का भी द्वारभूत है। कारण, जिन प्रमाणों से द्रव्य, गुण आदि पदार्थों की परीक्षा होती है, उन्हींसे रोगों तथा उनके कारणों की भी परीक्षा की जाती है। इतने से ही इस विषय का महत्त्व स्पष्ट है। परन्तु इस विषय को जैसा चाहिये वैसा स्वरूप नहीं दिया गया है। इस सम्बन्ध में मुझे जोकुछ कहना है वह प्रथम अध्याय में विस्तार से कहा है। यहाँ कुछ भी कहना पिष्टपेषण-मात्र होगा

ग्रन्थ की शैली के विषय [illegible] क है। आयुर्वेदीय संहिताओं के शब्दों का [illegible] उतना हृदयं- और विशद नहीं होता ; [illegible] जायँ तो भी [illegible] का स्वारस्य नहीं आता—ग्रन्थकार [illegible] ने की आशंका बनी रहती है। अतः इस ग्रन्थ की रचना में यह पद्धति रखी गई कि प्रायः अध्याय [illegible] को प्रथम निज शब्दों में समझा दिया है।

इसके पश्चात् मूल वचन देकर उनका अर्थ दिया है। आरम्भ में विष... प्रतिपादन कर देने से प्राचीन वचनों को ग्रहण करना सुगम हो जाता है

मूल वचनों का अर्थ "..." इन चिह्नों के मध्य में दिया है। बीच ... स्पष्टीकरण के लिये कोई शब्द या वाक्य जोड़ना अभीष्ट प्रतीत हुआ तो उसे (....) में दिया है। इसके अनन्तर व्याख्या के रूप में जोकुछ कहना हो वह चालू शीर्षक के अन्तर्गत ही दिया है। इस पद्धति से विषय का प्रवाह बना रहता है, ऐसा समझा गया है।

यत्र-तत्र प्राचीन सिद्धान्त की यथामति व्याख्या पूर्ति आदि के रूप में आधुनिक विज्ञान की सहायता ली गई है। आशा है, वाचकों को यह शैली पसन्द आयगी।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में, अपने आदरणीय गुरु वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य के अनुग्रह के प्रति संकेतमात्र कर सकता हूं। उनके सान्निध्य में मैंने आयुर्वेद को समझने की बुद्धि पायी। इसके अतिरिक्त मेरा तथा प्रकाशकों का अनुरोध मान कर उन्होंने अपनी शिथिलावस्था तथा व्यस्त समय होते हुए भी पुस्तक का प्राक्कथन लिखने का कष्ट किया। जो जिज्ञासु इस विषय का विशेष अध्ययन करना चाहें उन्हें चोपड़ा-समिति की रिपोर्ट का वह अंश पढ़ना चाहिए जिसमें आचार्य जी ने पञ्चमहाभूतों और त्रिदोष का प्राचीन मत से पूर्ण विवेचन करके नव्य मत से उनकी व्याख्या की है।

यह ग्रन्थ प्रेस में देने के पश्चात् प्रकाशकों की आज्ञा हुई कि 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' के संशोधन-परिवर्धन में भी हाथ लगा दूं। तदनुसार 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' नाम से ग्रन्थ का ...ल परिवर्तित द्वितीय

मन्थर परन्तु स्थिर गति से क्रमशः लिखा और छपाया जा रहा
ह ग्रन्थ हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कॉलेज तथा गुरुकुल
ों में पाठ्यपुस्तकतया स्वीकृत हो चुका है। जिन अनुकूल मत-
विद्वानों, अध्यापकों, विद्यार्थी बन्धुओं तथा अन्य वाचकों की
ातावश तीन ही वर्ष में इसके द्वितीय संस्करण का आशातीत
ाग्य प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं अपनी और प्रकाशकों की ओर से
सभी आश्रयदाताओं का हृदय से आभार मानता हूं। यह ग्रन्थ भी
महानुभावों की ऐसी ही कृपा का पात्र होगा, यह आशा करना मेरे
स्वाभाविक ही है। परन्तु इसकी सच्ची कृतार्थता तो मैं तब मानूंगा
समें बताये मार्ग के अनुसार 'पदार्थविज्ञान' विषय को यथार्थ आयु-
स्वरूप प्राप्त होगा

ओच्छवलाल नाभ्फर
ुर्वेद-महाविद्यालय,
सूरत।

वैद्य रणजित राय

प्रकाशकीय निवेदन

वैद्यनाथ प्रकाशन के अन्यतम रत्न "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" के सुविख्यात लेखक वैद्यराज श्री रणजितराय जी देसाई, आयुर्वेदालंकार, वाइसप्रिंसिपल, श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत का यह द्वितीय ग्रन्थ "आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान" आयुर्वेद संसार के सम्मुख रखते हुए हमें बहुत प्रसन्नता है।

इसी विषय का एक और ग्रन्थ कुछ दिन पहले हम "पदार्थविज्ञान" नाम से प्रकाशित कर चुके हैं, जिसके लेखक आयुर्वेद संसार के सुप्रसिद्ध मनीषी और अनुभवी शिक्षक वैद्यराज पण्डित रामरक्ष जी पाठक हैं।

एक ही विषय पर दो उच्च कोटि के विद्वानों की पुस्तकें प्रकाशित करते समय यह आवश्यक हो जाता है कि इस विषय में कुछ आवश्यक निवेदन हमारी ओर से हो। पर हमें खुशी है कि इस विषय में हम कुछ विशेष न कहकर इस पुस्तक के प्राक्कथन के सिलसिले में पूज्यपाद यादव जी महाराज के मन्तव्य की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। जैसा कि पूज्यपाद यादव जी महाराज ने कहा है, "दोनों (श्रीयुत् पाठक जी एवं श्रीयुत् रणजित राय जी) विषय के दो पहलुओं में एक-एक क स्वतन्त्र निरूपण किया है। विषय को यथावत् समझने के लिए दोनों

ग्रन्थों का अध्ययन और अध्यापन में उपयोग एक साथ जरूरी है।"

प्राचीन काल में अध्ययन और अध्यापन का ढंग आज से बिलकुल भिन्न था। परिवर्तित समय के शिक्षार्थियों और शिक्षकों की आवश्यकता के अनुसार नवीन ढंग से विषयनिरूपण और ग्रन्थप्रणयन की आवश्यकता आज सभी लोग महसूस करते हैं। इस क्षेत्र में कोई भी ठोस काम करने के लिए कितने परिश्रम, अध्ययन और चिन्तन की आवश्यकता है और साथ-ही-साथ प्रारम्भिक अवस्था में यह कार्य कितना दुरूह और व्ययसाध्य है, इससे सभी आयुर्वेद प्रेमी भलीभाँति परिचित हैं। अतः इसके बारे में भी हम यहाँ अधिक कुछ कहना नहीं चाहते।

हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे और अपने को गौरवान्वित समझेंगे, अगर हमारे अन्यान्य प्रकाशनों की तरह इस ग्रन्थ का भी समादर विद्वान् वैद्य, मनीषी, शिक्षक और विद्यार्थी समुदाय ने किया। नवीन ढंग से ठोस आयुर्वेदीय साहित्य के निर्माण में यह ग्रन्थ हमें और एक कदम आगे ले जाता है—यह सोचते और समझते हुए हम इसे आयुर्वेदसंसार के सम्मुख रखते हैं।

व्यवस्थापक

कलकत्ता } श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

विषयानुक्रमणिका

D.V.

अध्याय पृ

अध्याय पृष्ठ

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

ॐ नमः परमर्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः ।

पहला अध्याय

आमुख

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम् ॥

च० सू० १।२८-२९

वैदिक दर्शन

कौतूहल और जिज्ञासा मानवमात्र के, मानव ही क्यों, प्राणिमात्र के सहज स्वाभाविक गुण हैं। जीवन की व्यग्रता के कारण, शिक्षा के दोष से अथवा अन्य कारणों से हमारी तो यह वृत्ति कुण्ठित हो गयी होती है; परन्तु सांसारिक आघात-प्रतिघात से अलिप्त, प्रकृति की पाठशाला के अदूषित विद्यार्थी बालक में ये

वृत्तियाँ यथावत् पायी जाती हैं। उस पर कुछ क्षण भी दृष्टिपात कीजिए, उसकी दृष्टि, उसके कान, उसके हाथ-पैर कभी स्थिर न देखे जायँगे। जरा ऊँचा शब्द, जरा चमकती रंग-बिरंगी वस्तु, कोई भी अपूर्व पदार्थ उसकी इन्द्रियों को उत्सुक बना देते हैं। वह उस वस्तु की ओर बढ़ता है, उसे पकड़ता है, उसे झकझोरता या तोड़ डालता है, उसे मुख में रखता है। उसे तोड़ने का अर्थ यह है कि वह उसके आन्तर स्वरूप को जाँचना चाहता है। उसे मुख में रखने का अभिप्राय यह है कि जिजीविषा की सहज वृत्ति को चरितार्थ करने के लिए उसमें सर्वप्रथम रसनेन्द्रिय पुष्ट हुई होती है। इसके द्वारा वह विशेषतः अपने हिताहित आहार-द्रव्य की परीक्षा कर सकता है। सामान्यतया इसके द्वारा वह वस्तु-मात्र की परीक्षा में प्रवृत्त होता है। बालक का यह कौतूहल—यह औत्सुक्य, सच पूछो तो, उसकी ज्ञानवृद्धि का द्वारभूत है। अज्ञान माता-पिता अथवा गुरु इस वृत्ति को यथायोग्य उत्तर द्वारा परिपुष्ट करने के स्थान पर उलटे कुण्ठित कर देते हैं, यह दौर्भाग्य का विषय है।

भारतीय संस्कृति के उषःकाल में, सृष्टि को देख कर ऋषियों के बाल-सुलभ हृदयों में इसी प्रकार औत्सुक्य और कौतूहल की वृत्ति प्रादुर्भूत हुई थी। इन वृत्तियों के कारण उत्पन्न हुए प्रश्न उस काल के वाङ्मय में स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि में ऋषियों की जिज्ञासा-वृत्ति अनेक स्थलों पर परिस्फुट हुई है। सृष्टि को देख कर ऋषियों के मन में जो प्रश्न

उपस्थित हुए उनका उत्तर जानने का प्रयास जिन ग्रन्थों में विशेषतः किया गया है, उन्हें "दर्शन" यह विशेष नाम दिया गया है। वैदिक अर्थात् वेदमतावलम्बी दर्शन छः हैं—गोतम का न्याय दर्शन, कणाद का वैशेषिक दर्शन, पतञ्जलिका योगदर्शन, कपिल का सांख्य दर्शन, जैमिनि का मीमांसा दर्शन तथा व्यास का ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन।

आयुर्वेद के आधारभूत दर्शन

दर्शनों की चिन्तन-धारा से आर्षकाल की अन्य विद्याएँ तथा कलाएँ भी अस्पृष्ट न रहीं। समकालिक होने से अथवा दर्शन और आयुर्वेद दोनों के कर्ता और प्रवक्ता एक होने से आयुर्वेद पर भी दर्शनों का प्रभाव स्पष्ट पड़ा है। यों, आयुर्वेदीय संहिताओं पर छहों दर्शनों की छाया पड़ी है, तथापि मुख्यतया इस पर सांख्य का और उससे उतर कर वैशेषिक का प्रभाव पड़ा है।

आयुर्वेद के दर्शन की मौलिकता

ऊपर लिखे दो दर्शनों में जिन संज्ञाओं[1] का प्रयोग हुआ है उन्ही का प्रयोग आयुर्वेदीय संहिताकारों ने भी किया है। कहीं-

१—Term-टर्म ; अथवा Technical term—टेक्नीकल टर्म। संज्ञा के लिए हिन्दी में भ्रान्तिवश परिभाषा शब्द प्रचलित हो गया है। परन्तु परिभाषा का अर्थ है—ऐसा नियम या व्यवस्था जो नियम का अभाव होने पर प्रस्तुत की जाती है। 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा'—यह व्याकरण का प्रसिद्ध वाक्य है। परिभाषा के स्थान पर संज्ञा शब्द का ही प्रयोग इष्ट है।

कहीं तो उन्होंने उन्हीं सिद्धान्तों का तद्वत् उल्लेख भी किया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि, उन्होंने आँख मींच कर दर्शनों का ही पल्ला पकड़ा है। सत्य यह है कि, दोनों तन्त्रों (दर्शन और आयुर्वेद) में संज्ञाओं का साम्य होते हुए भी एक ही पदार्थ के विषय में दर्शनों ने जो कुछ कहा है, उससे भिन्न स्वशास्त्रोपयोगी मन्तव्य आयुर्वेदीय संहिताकारों ने व्यक्त किया है। एवम् दर्शनों के सिद्धान्त का यथावत् प्रतिपादन करते हुए उन्होंने आगे अपने मत का भी उल्लेख कर दिया है।

आशय यह है कि, आयुर्वेद के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए दार्शनिक चर्चा के चक्र में विद्यार्थियों को निरर्थक फेरने की जो परिपाटी अब तक चली आयी है वह निःसन्देह आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों से अलिप्त ही रखने वाली है। पाठ्यक्रम में, इसी कारण पदार्थ-विज्ञान विषय का अध्यापन शुद्ध दर्शन ग्रन्थों के द्वारा न करा कर आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों से सिद्धान्तों का संकलन करके ही होना चाहिये। इस बात की आवश्यकता इसलिए विशेष रूप से है कि, आयुर्वेद का पदार्थ–विज्ञान क्रिया-शारीर, स्वस्थवृत्त, निदान आदि विषयों का भी द्वारभूत है। प्रारम्भिक कक्षा में यदि पदार्थ-विज्ञान के नाम से इन विषयों के मौलिक सिद्धान्तों का अध्ययन-अध्यापन हो जायगा तो आगे इन विषयों का समझना सुकर हो जायगा। 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' का संकलन इसी दृष्टि से किया गया है।

आगे के अध्यायों का समझना सुगम हो जाय इस दृष्टि से

इस अध्याय में हम संक्षेप में उन वस्तुओं का उल्लेख करेंगे जिनके सम्बन्ध में उभय तन्त्रों में मत-भिन्नता है। सभी भिन्नताओं का एक स्थान पर समावेश करने से वाचकों के लक्ष्य में यह बात भी सरलता से आ सकेगी कि वस्तुतः आयुर्वेद का अपना दर्शन है, और उसका अध्ययन स्वयं आयुर्वेदीय संहिताओं से ही होना चाहिये।

मत-भिन्नता का कारण

प्रथम दृष्टि में भिन्न-सदृश प्रतीत होने वाले इन मतों को देख कर कोई यह कल्पना न कर ले कि दोनों तन्त्रों में कोई तात्विक मत-भेद है। ऊपर से दिखाई देने वाले इस मत-भेद या विरोधाभास का एक कारण तो यह है कि दोनों तन्त्रों के 'पदार्थ' ही भिन्न हैं। यहाँ पदार्थ शब्द का प्रयोग मैं विशेष परिभाषित अर्थ में कर रहा हूं। जैसा कि द्वितीय अध्याय के आरम्भ में पदार्थ का लक्षण देते हुए कहा है—किसी ग्रन्थ का जो प्रतिपाद्य विषय हो उसे उस ग्रन्थ का 'पदार्थ' कहते हैं। यों नामतः आयुर्वेद और दर्शनों के प्रतिपाद्य पदार्थ एक हैं तथापि उनके विषय में जिन वस्तुओं का प्रतिपादन (वर्णन) किया गया है, वे दोनों तन्त्रों में भिन्न हैं। यह भिन्नता स्वाभाविक भी है। उदाहरणतया, काल के सम्बन्ध में दर्शनों में सामान्यतया इतना ही कहा जायगा कि भूत, भविष्य और वर्तमान इन शब्दों का व्यवहार जिस पदार्थ के लिए किया जाता है उसे 'काल' कहते हैं। परन्तु, आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय, प्राणिमात्र का (जिसमें

उद्भिदों का भी समावेश है) स्वास्थ्य और उस पर हिताहित क्रिया करने वाले पदार्थ होने के कारण, स्वाभावतः आयुर्वेद में इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि कालके किस भेद (ऋतु, मास, वय आदि) में मानवों, मानवेतर प्राणियों तथा उद्भिदों पर सूर्य आदि की क्या-क्या क्रिया होती है तथा उसके अनुसार पुरुषों का आहार-विहार क्या और कैसा होना चाहिये ?

इस उदाहरण को तथा आगे के अध्यायों में कहे अन्य उदाहरणों को दृष्टि में रखते हुए स्पष्ट समझा जा सकता है कि, आयुर्वेद और दर्शनों के बीच जो मत-भिन्नता है वह अन्धगज-न्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस प्रकार षड् दर्शनों के समन्वय के लिए यह दृष्टान्त देते हुए कहा जाता है कि जैसे छः अन्धों द्वारा स्पर्श करके जाने गये हाथी के विभिन्न अवयवों के वर्णन को मिलाकर देखा जाय तो वे एक संपूर्ण द्रव्य की जानकारी कराते हैं—एवं तत्त्वतः छहों में कोई विरोध नहीं होता, इसी प्रकार सृष्टि के संबन्ध में छः प्रतिपादनीय वस्तुएँ लेकर उन छः का पृथक् वर्णन छः दर्शनों के प्रवक्ताओं ने किया है। सब मिलकर वस्तुतः एक पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं। आयुर्वेद और दर्शनों के मध्य दृष्टिगोचर होनेवाले विरोधाभास का भी समाधान इसी न्याय से करना चाहिये।

दोनों तन्त्रों में विद्यमान विसंवाद का एक अन्य भी कारण है। आयुर्वेद के आचार्यों की दृष्टि सदा स्थूल रही है। उन्हें सामान्यतः स्थूल जगत् से काम होने से उसी को उन्होंने अपने

सामने रखा है। उनके लिए प्रयुक्त 'पृथुदर्शी'[1] शब्द इस बात का स्पष्ट द्योतक है। इसी प्रकरण में आगे तो और स्पष्ट कहा है कि—चिकित्साशास्त्र में भूतों की अपेक्षया सूक्ष्म पदार्थों का न कुछ उपयोग है, न उनका आयुर्वेद में विचार किया गया है[2]।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान के अध्ययन में इन दो बातों को सदा दृष्टिगत रखना चाहिये। इतने प्रारम्भिक वक्तव्य के पश्चात् अब हम उदाहरणत्वेन संक्षेप में उन पदार्थों का निर्देश करेंगे जिनके विषय में आयुर्वेद को विशेष वक्तव्य है।

कारण द्रव्यों की भिन्नता

आयुर्वेद तथा दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों की तुलना करते हुए प्रथम ध्यान खेंचनेवाला भेद मूल द्रव्य संबन्धी है। यह सुविदित है कि, सांख्यों ने सृष्टि के कारण दो माने हैं—प्रकृति और पुरुष। उधर, वैशेषिक ने मूल सात पदार्थ माने हैं और इन्हीं से समूची सृष्टि का आरम्भ माना है। आयुर्वेद में उभय मतों का समावेश किया गया है, पर कुछ भेद के साथ। यथा—

चरक और सुश्रुत दोनों ने सांख्य मतानुसार सृष्टि के आदि तत्त्व माने हैं। इनमें सुश्रुत ने तो प्रचलित सांख्य संप्रदाय का अनुसरण करके पुरुषसंयुक्त प्रकृति को सृष्टि का आदि कारण कह कर, क्रमशः सृष्ट्युत्पत्ति बताते हुए महाभूत पर्यन्त पचीस तत्त्व माने हैं; परन्तु चरक ने अव्यक्त से सृष्टि का आरम्भ

१—देखिये—सु. शा. १।११

२—देखिये—सु. शा. १।१३

बताकर कुल चौबीस तत्त्व बताये हैं। स्वयं संहिताकार ने 'अव्यक्त' का अर्थ आत्मा बताया है, परन्तु चक्रपाणि ने क्लिष्ट कल्पना करके अव्यक्त शब्द से आत्मा और प्रकृति दोनों का ग्रहण किया है; साथ ही 'चतुर्विंशति' शब्द से पचीस संख्या की पूर्ति का प्रयास भी किया है। परन्तु, भारतीय दर्शन का इतिहास देखने से विदित होता है कि वर्तमान पञ्चविंशति-तत्त्ववादी सांख्य संप्रदाय के पूर्व एक अन्य सांख्य संप्रदाय प्रचलित था जो आत्मा से ही बुद्धि इत्यादि क्रम से सृष्ट्युत्पत्ति मानता था। प्रकृति को वह न मानता था। इस प्रकार उसके मत में कुल तत्त्व चौबीस ही होते थे। विद्वानों का मन्तव्य है कि, इस प्रथम सांख्य संप्रदाय का प्रवक्ता स्वयं चरक संहिता का आदि उपदेष्टा था[१]। अपने काल में द्वितीय सांख्य संप्रदाय प्रचलित हो जाने से चक्रपाणि को प्रथम संप्रदाय का ज्ञान न था। अतः, उन्होंने उल्लिखित क्लिष्ट कल्पना की।

द्रव्यों की पाञ्चभौतिकता

सुश्रुत ने भी यद्यपि सृष्टि का आरम्भ पुरुष संयुक्त प्रकृति से बताया है तथापि इस प्रकरण के एकदम पीछे उसने स्पष्ट कहा है कि, चिकित्साशास्त्र में इतना सूक्ष्म विचार न उपयोगी है न

१—चरक-संहिता का प्रवक्ता (प्रथमोपदेष्टा) सांख्य संप्रदाय का भी प्रवर्तक है, यह एक और प्रमाण इस बात का साधक है, कि आयुर्वेद का दर्शन समझने के लिए इतर दर्शनों का पुच्छावलम्बन इष्ट नहीं है; प्रत्युत अनुचित ही है।

आवश्यक। उसमें तो स्थावर-जङ्गम द्रव्यों को पाञ्चभौतिक (पञ्चभूतोत्पन्न) मानकर ही व्यवहार किया जाता है। आशय यह है कि शरीर के यावत् अवयव पाँच महाभूतों से ही बने हैं। ये पञ्चमहाभूत शरीर में सम (यथोचित) प्रमाण में रहें तो अवयव (दोष, धातु आदि) भी सम—अर्थात् स्वास्थ्य के लिए तथा जीवनोपयोगी निसर्गसिद्ध क्रियाएँ करने के लिए उनका शरीर में जो प्रमाण होना चाहिए उस—प्रमाण में रहते हैं। अपने-अपने अग्नियों के द्वारा क्षय आदि कारणों से दोषों तथा अन्य अवयवों के प्रमाण में निरन्तर न्यूनाधिकता होती रहती है। यथोचित आहारादि द्वारा उन्हें सम-अवस्था में बनाये रहें तो शरीर का स्वास्थ्य स्थिर रहता है—दोष आदि सम प्रमाण में रह कर अपनी प्राकृत क्रियाएँ सम रूप से कर सकते हैं। यह आहार भी पाञ्चभौतिक होना चाहिए—उसमें पाँचों भूतों का प्रमाण सम अर्थात् यथायोग्य होना चाहिए। आयुर्वेद का यह प्रधान सूत्र अथवा प्रतिष्ठा (नींव) है।

चरक ने भी सांख्य मत का निरूपण करके सुश्रुत के समान द्रव्यों (आहार और औषध) को पाञ्चभौतिक ही माना है। यहाँ तक कि, मन और सूक्ष्म इन्द्रियों को भी प्रचलित तथा स्वयं निरूपित सांख्यमतानुसार आहंकारिक (अहंकारजात) न मानकर पञ्चभूतात्मक ही माना है।

स्थूलदर्शी संहिताकार

विवाद से बचने के लिए सुश्रुत ने स्पष्ट कह दिया है—

चिकित्सक तो स्थूलदर्शी है—उसे स्थूल जगत् से ही काम है। अतः कारण द्रव्यों के पचड़े में न पड़कर जब जिस मूल कारण को मानने से काम चल जाय तब उस वस्तु को चिकित्सकजन मूल कारण मान लेते हैं। इस प्रकार स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा (आकस्मिकता), नियति (पुरुषों के धर्माधर्म) तथा मूल प्रकृति सभी को आयुर्वेद में मूल कारण माना है—कहीं किसी को और कहीं किसी को।

पदार्थों में अभाव की न गणना का कारण

इस प्रकार पञ्चभूतों को सृष्टि का आदि कारण मानते हुए संहिताकार वैशेषिकों के पदार्थों के निकट आ पहुंचते हैं। परन्तु यहाँ भी थोड़ा विरोध है। वैशेषिकों ने पदार्थ सात माने हैं, जब कि आयुर्वेद में अभाव को पृथक् पदार्थ न मानते हुए कुल छः पदार्थ माने हैं। स्थूल भावात्मक पदार्थों से ही चिकित्सक को संबन्ध होने के कारण अभाव उसके लिए प्रतिपाद्य ही नहीं। उधर कई पदार्थ अपने अभाव से ही दर्शन-ग्रन्थों में समझे जा सकते हैं, पर आयुर्वेद में उनका इतना ही परिचय अत्यन्त अपूर्ण ही रहेगा। यथा, गुरु का ही अभाव लघु तथा स्नेह का ही अभाव रूक्ष है, इतना कहने से दार्शनिक को संतोष हो सकता है, पर इन गुणों का नित्य व्यवहार करने वाले चिकित्सक का समाधान इतने से कैसे हो? अतः अभावगम्य पदार्थों का भी पृथक् नाम-रूप से ग्रहण और उपदेश संहिताकारों ने आवश्यक होने से ही किया है।

सत्व-रज-तम-मन के गुण

प्रकृति और पुरुष का अस्तित्व होते हुए भी व्यवहार में उसका अङ्गीकार न करने के कारण, प्रकृति के मूल भूत सत्व-रज-तम का भी अनङ्गीकार स्वयं हो जाता है। परन्तु भारतीयों के अन्तस्तल में प्रविष्ट और ओत-प्रोत इन गुणों का सर्वथा अस्वीकार कैसे संभव हो सकता है? और सचमुच स्थावर-जङ्गमों के आदि कारण के रूप में इन गुणों को स्वीकार न करते हुए भी मन-जैसी सूक्ष्म वस्तु के भेदक लक्षणों के रूप में इन्हें स्वीकार किया गया है। तीनों गुणों की न्यूनाधिकता के आधार पर मनों के तथा उनके आधार पर उनके स्वामी पुरुषों के सात्विक, राजस और तामस भेद संहिताकारों ने माने हैं। आगे इनके भी असंख्य प्रकार कह कर, दृष्टान्त रूप से थोड़े-थोड़े भेदों के लक्षण आचार्यों ने दिये हैं।

स्थावर-जङ्गमों को पञ्चभूतात्मक मानने से सांख्यमतानुसार पञ्चभूतों की उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि और अहंकार भी अनङ्गीकृत-से हो जाते हैं। परन्तु, उन्हें भी छोड़ना कैसे शक्य है? मन अथवा आत्मा के गुणों के रूप में उन्हें संहिताकारोंने स्वीकार किया है।

आयुर्वेदाभिमत आत्मा

आयुर्वेदीय संहिताकारों की स्थूलदर्शिता का प्रबल प्रमाण तो उनकी 'पुरुष' या 'आत्मा' सम्बन्धी परिभाषा है। आत्मा

के प्रकरण में चरक और सुश्रुत दोनों ने प्रसिद्ध जीवात्मा का अङ्गीकार करके तथा उसका दर्शन-संमत अर्थ देकर भी, आगे स्वशास्त्र-संमत अन्य ही अथ दिया है। 'चेतन शरीर किंवा शरीर, इन्द्रिय, जीवात्मा तथा मन इनके संयोग को आयुर्वेद में आत्मा या पुरुष माना है।' संहिताकारों का मत कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि, निर्विकार—जो न रोग का और न आरोग्य का अधिष्ठान (आश्रय)—हो उस आत्मा से हमें क्या प्रयोजन? उसके प्रतिपादन की हमें आवश्यकता ही क्या? इसी कारण रोग के अधिष्ठान-भूत इन्द्रिय-सहित मन तथा शरीर के संयोग को ही उन्होंने अत्मा माना। 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' तैत्तिरीयोपनिषद् के इस वचन से उपनिषदों को अभिमत पुरुष भी यही प्रतीत होता है। च० शा० १।१६ की टीका में चक्रपाणि ने वैशेषिक दर्शनाभिमत पुरुष भी यही बताया है[1]। इस स्थिति में तो, आत्मा के संबन्ध में हममें जो विचार रूढमूल हो गये हैं उनमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

मन का आयुर्वेदसम्मत स्वरूप

आत्मा अर्थात् पुरुष को अन्य शास्त्रों ने जो पद दिया है, वह आयुर्वेदीय संहिताकारों को इष्ट न होने से उसके (आत्मा के) जो कर्म दार्शनिकों ने माने हैं वे कर्म स्वभावतः आयुर्वेद में

१—अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतश्चिकित्साधिकृतः पुरुषः॥

मन के माने गये हैं। उदाहरणतया, सामान्यतः शरीर में आत्मा के प्रवेश को जन्मधारण कहा जाता है तथा शरीर से उसके निकल जाने को मृत्यु। परन्तु, सर्वगत (आकाशवत् सर्वत्र व्यापक) आत्मा का प्रवेश और निर्गमन कैसा? अतएव सूक्ष्म इन्द्रियों सहित मन के गर्भ में (संयुक्त हुए शुक्र-शोणित में) प्रवेश को ही जन्म और उसके शरीर से निकल जाने को ही मृत्यु आयुर्वेद में माना है।

इसी प्रकार निर्विकार होने से आत्मा को ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता नहीं कहा जा सकता। न उसे रोग या आरोग्य का लेप होना संभव है। अतः, आयुर्वेद में ज्ञान, कर्म, फलोपभोग, रोग, आरोग्य—सबका आश्रय इन्द्रियसहित मन से संयुक्त शरीर को ही माना है। तथापि, यह भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि, मन अचेतन है अतः उसे कर्त्ता होते हुए भी कर्त्ता कहने का प्रचार नहीं है। चेतन होने से आत्मा को ही कर्ता मानने-कहने की परिपाटी है।

परन्तु इससे भी बढ़ कर मन के आयुर्वेद में विशेष रूप से प्रतिपादित कर्म तो वे हैं जिनका निरूपण शरीर की जीवनोपयोगी क्रियाओं के प्रसंग में तथा रोगों का विवरण करते हुए किया गया है। शरीर और मन का परस्पर प्रगाढ़ संबन्ध बताते हुए प्रथम तो यह सिद्धान्त जताया गया है, कि दोनों के स्वास्थ्य अस्वास्थ्य का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र का इस बात को प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ है।

अपरं च, शरीर के आरोग्य और रोग के निदान भूत वात-पित्त और कफ का उभय अवस्थाओं में मन पर कैसा प्रभाव होता है, यह आयुर्वेद का विशेष प्रतिपाद्य विषय है। संहिताओं से संकलन करके इस ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा कुछ विस्तार से की गयी है। आशा है, विज्ञ वाचक इस दिशा में अधिक विचार करेंगे।

महाभूत विषयक आयुर्वेदीय मन्तव्य

महाभूतों को आयुर्वेद में जो महत्व दिया गया है उसका कुछ संकेत ऊपर किया गया है। पञ्च महाभूतों को विशिष्ट स्थान देने का कारण यह है कि, तत्-तत् भूत के आधिक्य के कारण द्रव्यों में अमुक-अमुक विशेष गुण-कर्म होते हैं—अर्थात् उस भूत की उपस्थिति के कारण द्रव्य की शरीर पर अमुक-अमुक विशेष क्रिया होती है। दर्शन-ग्रन्थ का अल्पमात्र भी अध्ययन जिन्होंने किया है, वे कह सकेंगे कि, उनमें पाञ्चभौतिक द्रव्यों के इन गुण-धर्मों की गन्ध भी नहीं। परन्तु आयुर्वेद का तो ये एक तरह से आधार हैं। इनका अनुशीलन आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की सहायता से ही हो सकता है—दर्शन-ग्रन्थों से नहीं।

भूतों के गुण-कर्मों के प्रसंग से यह भी आयुर्वेदमें विशेष रूप से कहा गया है कि, स्थावर-जङ्गमों की उत्पत्ति में पाचों महाभूतों का भाग होते हुए भी अग्नि और जल इन दो भूतों का स्थान मुख्य है। जैसा कि सब जानते हैं, हमारे शरीर तथा

बाह्य द्रव्यों में पृथिवी तत्त्व का प्रमाण विशेष होने से इन्हें पार्थिव कहना ही अधिक उपयुक्त है। तथापि द्रव्य को अग्नीषोमात्मक कहने का कारण यही है कि, जिन द्रव्यों का हम बाह्य या आभ्यन्तर सेवन करते हैं, उनमें इन भूतों का ही कर्म विशेषतया लक्षित होता है। इसी प्रकार शारीर दोषों में भी इन दो भूतों का कार्य विशेष है।

गुणों का स्वरूप तथा महत्त्व

महाभूतों के संबन्ध में आयुर्वेदीय मत का निर्देश हमें सीधे आयुर्वेद के गुण विषयक मन्तव्यों का स्मरण कराता है। स्थूल-दर्शी आचार्यों ने व्यवहार की सुगमता के लिए प्रथम तो द्रव्य मात्र को पाञ्चभौतिक मान कर यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, आहारौषध के रूप में बाह्य पाञ्चभौतिक द्रव्य शरीर में सम (यथोचित) प्रमाण में जाते रहें तो दोष आदि का प्रमाण सम रहता है तथा उनकी समता के कारण उनकी क्रिया का भी साम्य बना रहता है। इस सिद्धान्त को और भी सुगम बनाने के लिए पूर्वाचार्यों ने यह रीति रखी है कि, निघण्टु के अधिकार में द्रव्यों का वर्णन करते हुए तथा क्रियाशारीर या रोगाधिकार में दोषों की तीनों अवस्थाओं का निरूपण करते हुए उनके पाञ्चभौतिक स्वरूप का निर्देश नहीं किया है—अर्थात् किस द्रव्य में कौन महाभूत अधिक है, इस बात का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु, इन महाभूतों की विद्यमानता के कारण उनमें जो शरीर पर क्रिया करने वाले गुण होते हैं, उनका ही उल्लेख

किया है। दोषों की पाञ्चभौतिक रचना यद्यपि बतायी गयी है तथापि उसका विशेष उपयोग नहीं हुआ है। इस प्रकार आन्तर-बाह्य द्रव्यों की भौतिक रचना के स्थान पर गुणों के निर्देश की पद्धति स्वीकार करके यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि—आहारौषध द्रव्यों में वही गुण हों जो शरीर के दोषादि अवयवों में हैं तभी दोषादि के प्रमाण तथा उनकी क्रिया का साम्य बना रहता है। इसके विपरीत शरीर में किन्हीं गुणों की क्षीणता होने पर आहारौषध के रूप में उन गुणों की अधिकता वाले द्रव्यों का तथा किन्हीं गुणों की शरीर में अधिकता लक्षित होने पर उन गुणों की न्यूनता वाले आहारौषध द्रव्यों का यथा योग्य प्रमाण में सेवन करने से न्यून या अधिक हुए गुण पुनः समावस्था में आ जाते हैं—तथा उनकी विषमता से हुई विक्रिया (रोग) भी शान्त होती है।

गुणों के विषय में अन्य उल्लेख योग्य बात यह है कि वैशेषिकदर्शनाभिमत गुणों के समान आयुर्वेद के गुण स्पर्शेन्द्रियादि से ज्ञात होने वाले गुण नहीं हैं—अर्थात् जिन्हें आधुनिक विज्ञान में 'फिजिकल प्रॉपर्टीज'[१] (भौतिक गुण) कहा जाता है, उन प्रकार के ये गुण नहीं हैं। किन्तु, बाह्य या आभ्यन्तर सेवन करने पर शरीर पर द्रव्यों की जो क्रिया होती है, उसीके द्योतन (सूचना) करने वाले ये गुण हैं। उदाहरणतया, राजिका (राई),

१—Physical Properties.

ठी आदि द्रव्यों को हम उष्ण इसलिए नहीं कहते कि उनका र्श उष्ण है। उन्हें उष्ण कहने का कारण यह है कि शरीर के म्पर्क में आने पर उनकी केशिका-विस्फारण, रक्तिमा-जनन, दाह, ाप-वर्धन आदि क्रियाएँ होती हैं। तप्त लोह-गोलक आदि उष्ण-स्पर्श वस्तुओं को भी इसी कारण उष्ण कहा जाता है कि वे भी राजिका इत्यादि के सदृश ही क्रिया करती हैं। गुणों का यह महत्त्व होने के कारण ही इस ग्रन्थ में हमने उन्हें विशेष स्थान दिया है, तथा यथामति आधुनिक मतानुसार उनकी व्याख्या भी का है। इस दिशा में भी विशेष विचार करने का वाचकों से नम्र अनुरोध है।

गुणों का यह स्वरूप-भेद होने के कारण ही प्रथम दृष्टिपात में ही हम देख सकते हैं कि आयुर्वेदोक्त गुण संख्या, नाम, रूप (लक्षण) सभी दृष्टियों से वैशेषिक दर्शन संमत गुणों से भिन्न हैं।

इन सब गुणों में भी रस के विषय में तो आयुर्वेद में जो विस्तार से विवेचन किया है—उसके भेदों के जो गुण-कर्म, दोषों पर प्रभाव तथा अतियोग की जो हानियाँ कही हैं वह आयुर्वेद का अपना ही विषय है।

कर्म का आयुर्वेद में विशेष अर्थ

गुणों के सामन ही आयुर्वेद में कर्म का भी कुछ विशेष अर्थ है। जैसा कि सुविदित है, उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि पाँच को दर्शन में कर्म कहते हैं, आयुर्वेद में इन पांच का तो कर्म नाम है ही

२

साथ ही शरीर में दोषादि तथा शरीर के सम्पर्क में आने प
आहारौषध द्रव्य जो कुछ (क्रिया) करते हैं, उस लङ्घन-बृंहण
विरेचनादि को भी कर्म कहा जाता है। इनका विशेष अध्यय
आयुर्वेद से ही हो सकता है। दर्शन-ग्रन्थों में इनका संके
भी नहीं।

काल

दर्शनग्रन्थों में काल का इतना ही परिचय कराया गया है कि भूत-भविष्यत्-वर्तमान शब्दों का व्यवहार जिस द्रव्य के लिए किया जाता है उसे काल कहते हैं। परन्तु, आयुर्वेद में इसके दो भेद किये हैं—नित्य काल तथा रोग और रोगी की अवस्था रूप काल। वर्ष के दो विभाग—उत्तरायण और दक्षिणायन, प्राणियों और उद्भिज्जों पर इन अयनों का प्रभाव, विभिन्न ऋतुएँ, ऋतुभेद से बाह्य सृष्टि में होनेवाले परिवर्तन, उनका शरीर पर विशेष कर दोषों पर प्रभाव, दिवस और रात्रि के भिन्न-भिन्न काल, भोजन-काल—ये सब काल के प्रथम भेद के अन्तर्गत हैं। रोगी के भिन्न-भिन्न वय (बाल्य आदि), रोगी की साम-निराम आदि अवस्थाएँ, औषध-सेवन के प्राग्भक्त आदि काल—ये सब काल के द्वितीय भेद के विषय हैं। आयुर्वेद में इन कालों का कितना महत्त्व है यह जान कर काल-विषयक सिद्धान्तों का अनुशीलन भी आयुर्वेद के आधार पर होना ही सर्वथा अभीष्ट है, यह सभी स्वीकार करेंगे।

दिशा

दिशा के सम्बन्ध से सूर्य और उसके कारण चन्द्र की शक्ति में भेद होता है, यह सूय के दो अयनों का वणन करते हुए आयुर्वेद में कहा है। वायु भी भिन्न-भिन्न दिशा से आते हुए भिन्न-भिन्न गुणोंवाले होते हैं।

सामान्य—विशेष

दर्शन के शब्दों का अनुसरण करते हुए आयुर्वेद में भी कहा है कि, जिस एक धर्म की अवस्थिति से अनेक व्यक्तियों (अनेक पदार्थों) के विषय में यह प्रतीति हो कि वे सब अनेक तथा पृथक् होते हुए भी समान हैं, उस धर्म को सामान्य कहते हैं। तथापि पृथक् द्रव्यों में समानता का जो रूप बताया है वह आयुर्वेद की अपनी विशेषता है। जिन द्रव्यों, गुणों या कर्मों के सेवन से शरीर के जिस दोष, धातु आदि की वृद्धि हो वह द्रव्य, गुण या कर्म उस दोष, धातु आदि अवयव के 'समान' कहे जाते हैं; तथा समान द्रव्य, गुण, कर्म और दोष आदि के बीच जो सादृश्य (एकत्व) है उसे 'सामान्य' कहा जाता है।

जो बात सामन्य के विषय में है वही विशेष के विषय में भी है। दर्शनग्रन्थों की अनुकृति करते हुए आचार्यों ने कहा है कि अनेक भिन्न व्यक्तियों में भिन्नता का कारणरूप जो धर्म है उसे 'विशेष' कहते हैं। परन्तु इस भिन्नता का स्वरूप आयुर्वेद में यह बताया है कि, कोई द्रव्य, गुण या कर्म शरीर के किसी दोष

आदि का क्षय करता हो तो उसका कारणभूत जो विपरीत धर्म उस द्रव्य, गुण या कर्म में होता है, उसे 'विशेष' कहते हैं।

दूध और घी शुक्र के वर्धक होने से दूध-घी तथा शुक्र में सामान्य धर्म होता है ; जब कि शुण्ठी कफ की शामक होने से दोनों में विशेष धर्म होता है।

प्रमाण

जिन प्रमाणों से द्रव्य, गुण आदि की परीक्षा होती है वे ही रोग-परीक्षा में भी प्रयुक्त होते हैं। अतः प्रमाणों का सामान्य लक्षण बताते हुए ऐसे ही उदाहरण संहिताओं में विशेष रूप से दिये गये हैं, जो आयुर्वेद से ही सम्बन्ध रखते हैं। जैसे, अनुमान का उदाहरण गर्भ को देख कर मैथुन का अनुमान बताया गया है। रोग-परीक्षा में तो अनुमान प्रमाण के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। इन उदाहरणों को देख कर कोई भी यह कल्पना करेगा कि इन प्रमाणों का आयुर्वेद से कुछ सम्बन्ध है। अन्यथा, अनुमान-प्रकरण का दार्शनिक चक्र बेचारे विद्यार्थी की बुद्धि को निरर्थक चक्कर में डाल देता है। विशेष कर प्रारम्भिक वर्ष में ही इस विषय का अध्यापन तो विद्यार्थी के मानस में आयुर्वेद के प्रति अरति ही उत्पन्न करता है। विज्ञ वाचक विचार करें।

आप्त का अर्थ चक्रपाणि ने अपने रोग का ठीक-ठीक वर्णन करनेवाला रोगी तथा उसके स्वजन भी किया है, जो आयुर्वेद के सर्वथा अनुरूप है।

चरक ने कई स्थानों पर युक्ति अर्थात् तर्कपूर्वक उपचार-योजना

को भी प्रमाणों में स्थान दिया है, जो आयुर्वेद में इसकी प्रतिष्ठा को देखते हुए उचित ही है।

दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न ये तीन आयुर्वेदीय रोग-परीक्षा के अङ्ग कहे गये हैं। प्रत्यक्ष आदि तीन या चार प्रमाणों को मान कर रोगपरीक्षाधिकार में इन तीन का ही स्वीकार कैसे हुआ, यह वस्तु भी विचारणीय है। प्रमाणों के प्रकरण में हमने इस बात का भी विचार किया है।

इस अध्याय में संक्षेप में जो कुछ कहा है उसी का विस्तार आगे के अध्यायों में है। प्रवेशक-रूप में यह अध्याय इसी हेतु लिखा गया है कि अध्यापक—विशेषतया जिनके हाथ में पाठ्य-क्रम बनाने का कार्य है वे महानुभाव, आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान के अध्यापन का वास्तविक और आयुर्वेदानुरूप पाठ्य-क्रम निर्णीत करें। इस दिशा में यह ग्रन्थ कुछ भी सहायक सिद्ध हुआ तो लेखक अपना परिश्रम सफल मानेगा।

दूसरा अध्याय

सत्व-रज-तम

अथातो गुणत्रय विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

पदार्थ का लक्षण

षण्णाम्-अपि पदार्थानां साधर्म्यम्-अस्तित्वाभिधेयत्व ज्ञेयत्वानि ॥

—पदार्थधर्मसंग्रहे प्रशस्तपादाचार्यः ।

"जगत् में जिसका अस्तित्व या विद्यमानता हो, जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य हो एवं जो अभिधेय अर्थात् कथन या प्रतिपादन के योग्य हो, उसे पदार्थ कहते हैं।"

आशय यह है, कि संसार की कोई भी वस्तु पदार्थ कही जाती है, जब किसी शास्त्र या ग्रन्थादि में शिष्य, वाचक आदि उसके विषय में कुछ जानने को उत्सुक हों तथा आचार्य, ग्रन्थकार आदि उसके विषय में कुछ कहें या प्रतिपादन करें। संक्षेप में कहें तो, जिस शास्त्र या ग्रन्थ में जिस वस्तु का निरूपण (वर्णन प्रतिपादन) किया जाता है, वह वस्तु उस शास्त्र या ग्रन्थ का पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) है।

आयुर्वेद के पदार्थ

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावत् ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥

समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम् ।

च० सू० १।२८-२

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः आयुर्वेद के पदार्थ हैं। इनके यथावत् ज्ञान से, तथा इनके प्रतिपादन के प्रसंग से शास्त्र में कहे आचार आहार-विहार के पालन से पुरुष स्वस्थ और दीर्घायु होता है। पदार्थ विज्ञान में इन छः पदार्थों का प्रतिपादन संक्षेप में किया जाता है। आयुर्वेद के शेष अङ्गों में इन्हीं का विस्तार है।

वैशेषिक दर्शन में अभाव की भी पदार्थों में गणना की गयी है। इस प्रकार वैशेषिकमत से पदार्थ कुल सात हैं। "द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाया भावाःसप्त पदार्थाः" (तर्कसंग्रह) इन्हीं छः या सात पदार्थों में पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं का समावेश है। आयुर्वेद के शब्दों में कहना हो तो, चिकित्सा का अधिकरण (आश्रय) भूत यह शरीर और चिकित्सा में सहाय भूत ब्रह्माण्ड की शेष सब वस्तुएं इन्हीं पदार्थों के अन्तर्गत हैं।

सांख्यमें पदार्थ दो ही माने गये हैं—पुरुष और प्रकृति। इनको पदार्थ कहने का अर्थ यह है कि सांख्य में पुरुष और प्रकृति इन दोनों का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् सृष्टि के आदि कारण भूत इन दो तत्त्वों से क्रमशः सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, इनके क्या गुण

[क्र]म हैं, पुरुष किस प्रकार मोह जाल में फँसकर जन्म-मरण के [चक्र] में पड़ता है तथा किस प्रकार के विशुद्ध ज्ञान के उदय से वह [मोक्ष] प्राप्त करता है, इत्यादि विषयों का निरूपण सांख्य में किया [ग]या है।

ऊपर से देखने से वैशेषिक और सांख्य मतों में विरोध प्रतीत होगा; पर यथार्थ में दोनों में अविरोध है। सांख्य में सूक्ष्म प्रकृति का स्वरूप वर्णन करके अन्त में तन्मात्र (वैशेषिक के परमाणु रूप भूत) और उनसे पाँच महाभूतों की उत्क्रान्ति बतायी गयी है। इसके पश्चात् वैशेषिक का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। वह हमें महाभूतों के गुण-धर्मों का परिचय देता है तथा उनसे सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का प्रतिपादन करता है।

आयुर्वेद में इन दोनों मतों का उल्लेख है। परन्तु जैसा कि गत अध्याय में कह आये हैं, समझने-समझाने में सुगमता की दृष्टि से आयुर्वेद का आधार और भी स्थूल रखा गया है। अर्थात् यह सत्य है कि शरीर और बाह्य जगत के सब द्रव्यों में जो भी गुण और कर्म हैं, वे सब उनकी रचना में भाग लेने वाले महाभूतों के कारण हैं। परन्तु शरीरावयवों अथवा बाह्य जगत के द्रव्यों की पाञ्चभौतिक रचनापर ध्यान देना इतना सरल काम नहीं, चिकित्सा की दृष्टि से उसकी विशेष आवश्यकता-उपयोगिता भी नहीं। अतः आयुर्वेद में शरीर के दोष-धातु-मल तथा सृष्टि के आहार, औषध और विष द्रव्योंके गुण-कर्मों पर ही ध्यान दिया गया है।

सिद्धान्त रूप से आयुर्वेद में यह कहा गया है कि दोषों या

बाह्य द्रव्यों के अमुक-अमुक गुण-कर्म उनमें अमुक-अमुक महाभूतों की अधिकता के कारण हैं ; एवं महाभूतों में भी अमुक-अमुक गुण-धर्म उनमें आदि प्रकृति के तीन गुणों सत्त्व, रज, तम-में से किसी एक या दो की अधिकता के कारण होते हैं। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर, हम जान सकते हैं कि किस द्रव्य में कौन से महाभूत या सत्त्व आदि गुणों में से किस गुण की अधिकता है, परन्तु सामान्य चिकित्सा के लिए इस झमेले में पड़ना न आवश्यक है, न सरल। इसीलिए विशेष कर निघन्टुओं में हम देखते हैं कि द्रव्यों के गुण कर्म बताते हुए उनमें किस महाभूत की अधिकता है, इस बात का निर्देश नहीं किया जाता है। अस्तु।

ऊपर हमने कहा है कि सृष्टि का आदि कारण प्रकृति है। उसी से क्रमशः स्थूल द्रव्यों की उत्पत्ति होते हुए अन्त में पाँच महाभूत बने हैं। इन महाभूतों के मेल से हमारे शरीर तथा बाह्य जगत के द्रव्यों की उत्पत्ति हुई है। आयुर्वेद मत से पदार्थों का विवेचन करते हुए इस ग्रन्थ में यही क्रम रखा जायगा। अर्थात् प्रारम्भ में प्रकृति के विषय में आवश्यक परिचय दिया जायगा, और उसके पश्चात् महाभूतों के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय मन्तव्य उपस्थित करके अन्त में गुणों और कर्मों का आयुर्वेदीय परिभाषानुसार निरूपण किया जायगा।

है।

साथ

द्रव्य का लक्षण

पदार्थों में प्रथम और मुख्य पदार्थ द्रव्य है। इसका कार्य निम्न है—

सम्बन्ध हो,

यत्राश्रिताः कर्म गुणाः कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यम्॥

च० सू० १।५१

द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणम्॥ सु० सू० ४०।३

"कर्म, क्रिया और गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहें, तथा जो (द्रव्यों, गुणों और कर्मों) का समवायि कारण हो, उस पदार्थ को द्रव्य कहा जाता है।"

पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (संनिकर्ष) दो प्रकार है—एक अनित्य, दूसरा नित्य। प्रथम सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक दो (या अधिक) पदार्थ परस्पर संयुक्त (एक-दूसरे से मिले हुए-जुड़े हुए-सटे हुए) हैं तब उनमें संयोग सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध अनित्य होता है। जिस क़लम से मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूं उसका कागज से संयोग अल्पकालिक है—मैं हाथ उठा लूँ कि उसका अन्त हो जाता है; अतः उसे अनित्य कहा जाता है। इसी प्रकार लिखते समय मेरी चक्षुरिन्द्रिय का कागज आदि से जो सम्बन्ध है, वह भी संयोग सम्बन्ध है। मैं अपनी आँखें दूसरी ओर फेर लूँ अथवा ींच लूँ तो यह सम्बन्ध टूट जाता है। अतः वह अनित्य है।

प दूसरे सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। यह नित्य होता है। प्रो नित्य विशेषण सापेक्ष है। अर्थात् परमात्मा, आकाश, दिशा आयु के समान समवाय सम्बन्ध नित्य या त्रिकाल स्थायी नहीं न्तु संयोग की अपेक्षया अधिक और विशेष रूप से स्थायी ी इसे नित्य कहा गया है। द्रव्यों का अपने अवयवों

गुणों और कर्मों तथा सामान्ययुक्त पदार्थों का सामान्य धर्म से जो सम्बन्ध होता है, वह नित्य होता है—जब तक द्रव्य अथवा सामान्ययुक्त पदार्थों का अस्तित्व रहता है, तब तक उनका अपने अवयवों, गुणों, कर्मों और सामान्य के साथ सम्बन्ध भी बना रहता है। इसी दृष्टि से इसे नित्य कहा गया है। कर्म और गुण, द्रव्यों में इसी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। दोनों में आधाराधेयभाव सम्बन्ध है।

//द्रव्य का दूसरा लक्षण यह कहा गया है कि, वे द्रव्यों, गुणों और कर्मों के समवायि या उपादान कारण हैं। किसी भी उत्पन्न होते हुए द्रव्य, गुण या कर्म का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध हो, उस कारण को समवायि कारण कह[illegible]। ऊपर कह आये हैं कि द्रव्यों के अवयव (जो स्वयं द्रव्य [illegible] हैं) गुण एवं कर्म द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः [illegible]ब कोई नया द्रव्य उत्पन्न होगा तो उसका अपने अवयवों से [illegible]मवाय सम्बन्ध होगा ; अतः वे अवयव उसके समवायि कारण होंगे। एवं उत्पन्न होनेवाले गुण और कर्म जिस द्रव्य के आश्रित—जिस द्रव्य में विद्यमान—होंगे, उस द्रव्य के साथ उनका समवाय सम्बन्ध होगा ; अतः वह द्रव्य उन गुणों और कर्मों का समवायि कारण कहा जायगा। जैसे, तन्तु वस्त्र की उत्पत्ति में कारण है। क्योंकि ये वस्त्रों के अवयव हैं, अतः इनका वस्त्रों के साथ समवाय सम्बन्ध है। ऊपर कहा है कि जिस कारण का कार्य द्रव्य अर्थात् उत्पन्न होनेवाले द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध हो,

यत्राश्रिताः कर्म गुणाः कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यम् ॥

च० सू० १।५१

द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणम् ॥ सु० सू० ४०।३

"कर्म, क्रिया और गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहें, तथा जो (द्रव्यों, गुणों और कर्मों) का समवायि कारण हो, उस पदार्थ को द्रव्य कहा जाता है।"

पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध (संनिकर्ष) दो प्रकार है—एक अनित्य, दूसरा नित्य। प्रथम सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक दो (या अधिक) पदार्थ परस्पर संयुक्त (एक-दूसरे से मिले हुए-जुड़े हुए-सटे हुए) हैं तब उनमें संयोग सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध अनित्य होता है। जिस क़लम से मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूं उसका कागज से संयोग अल्पकालिक है—मैं हाथ उठा लूँ कि उसका अन्त हो जाता है; अतः उसे अनित्य कहा जाता है। इसी प्रकार लिखते समय मेरी चक्षुरिन्द्रिय का कागज आदि से जो सम्बन्ध है, वह भी संयोग सम्बन्ध है। मैं अपनी आँखें दूसरी ओर फेर लूँ अथवा ींच लूँ तो यह सम्बन्ध टूट जाता है। अतः वह अनित्य है।

प दूसरे सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। यह नित्य होता है। प्रा नित्य विशेषण सापेक्ष है। अर्थात् परमात्मा, आकाश, दिशा आयु के समान समवाय सम्बन्ध नित्य या त्रिकाल स्थायी नहीं तु संयोग की अपेक्षया अधिक और विशेष रूप से स्थायी ी इसे नित्य कहा गया है। द्रव्यों का अपने अवयवों

गुणों और कर्मों तथा सामान्ययुक्त पदार्थों का सामान्य धर्म से जो सम्बन्ध होता है, वह नित्य होता है—जब तक द्रव्य अथवा सामान्ययुक्त पदार्थों का अस्तित्व रहता है, तब तक उनका अपने अवयवों, गुणों, कर्मों और सामान्य के साथ सम्बन्ध भी बना रहता है। इसी दृष्टि से इसे नित्य कहा गया है। कर्म और गुण, द्रव्यों में इसी समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। दोनों में आधाराधेयभाव सम्बन्ध है।

द्रव्य का दूसरा लक्षण यह कहा गया है कि, वे द्रव्यों, गुणों और कर्मों के समवायि या उपादान कारण हैं। किसी भी उत्पन्न होते हुए द्रव्य, गुण या कर्म का जिसके साथ समवाय सम्बन्ध हो, उस कारण को समवायि कारण कहते हैं। ऊपर कह आये हैं कि द्रव्यों के अवयव (जो स्वयं द्रव्य ही हैं) गुण एवं कर्म द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः जब कोई नया द्रव्य उत्पन्न होगा तो उसका अपने अवयवों से समवाय सम्बन्ध होगा; अतः वे अवयव उसके समवायि कारण होंगे। एवं उत्पन्न होनेवाले गुण और कर्म जिस द्रव्य के आश्रित—जिस द्रव्य में विद्यमान—होंगे, उस द्रव्य के साथ उनका समवाय सम्बन्ध होगा; अतः वह द्रव्य उन गुणों और कर्मों का समवायि कारण कहा जायगा। जैसे, तन्तु वस्त्र की उत्पत्ति में कारण है। क्योंकि ये वस्त्रों के अवयव हैं, अतः इनका वस्त्रों के साथ समवाय सम्बन्ध है। ऊपर कहा है कि जिस कारण का कार्य द्रव्य अर्थात् उत्पन्न होनेवाले द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध हो,

उसे समवायि कारण कहते हैं। तन्तुओं का वस्त्रों के साथ ऐसा ही सम्बन्ध होने से वे वस्त्रों के समवायि या उपादान कारण हैं। इसी प्रकार वस्त्र के रूप (रंग), परिमाण आदि गुण वस्त्र में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, अतः वस्त्र इन गुणों का समवायि कारण है।

संक्षेप में कहना हो तो, द्रव्य ही द्रव्यों, गुणों और कर्मों का समवायि कारण है। वैद्यक के उदाहरण लेने हों तो शुक्र और रज हमारे शरीरों के समवायि कारण हैं, अभयादिक्वाथ, नारायण तैल, च्यवनप्राश आदि कल्पों में पड़नेवाले द्रव्य उन-उन कल्पों के समवायि कारण हैं; विभिन्न द्रव्य या कल्प किंवा प्राणि शरीर अपने-अपने गुणों और कर्मों के समवायि कारण हैं।

स्पष्टता के लिए यह बात यहाँ फिर दुहरा दी जाती है कि यहाँ कर्म शब्द से हलन-चलन आदि प्राणि व्यापार और वमन-विरेचन-तर्पण-पूरण आदि द्रव्य व्यापार दोनों का ग्रहण है।

ऊपर की चर्चा से यह बात सरलता से ध्यान में आ सकती है कि द्रव्य ही गुणों, कर्मों, सामान्य और विशेष का आधार (आश्रय) है; वही अन्य द्रव्यों, गुणों और कर्मों की उत्पत्ति में प्रमुख कारण है; अतः द्रव्य ही सब पदार्थों में प्रमुख है। सुश्रुत संहिता में सूत्र स्थान के ४० वें अध्याय में द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाक में से एक-एक को प्रधान माननेवाले वादियों का मत पृथक्-पृथक् दिखा कर अन्त में कहा है—

श्रेष्ठं द्रव्यम्-अतो ज्ञेयं शेषा भावास्तदाश्रयाः ॥

सु० सू० ४०।१८

अर्थात्—रस, गुण आदि सब द्रव्य में (द्रव्य के आश्रय से) रहते है ; अतः द्रव्य ही प्रधान है। इस विषय का विस्तार द्रव्य गुण विज्ञान के ग्रन्थों में देखना चाहिये[1]।

द्रव्य संख्या

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ॥

च० सू० १।४८

द्रव्यसंग्रह इति करचरणहरीतकी त्रिवृताद्यसंख्येयभेदभिन्नस्य कार्यद्रव्यस्य कारण द्वारा संक्षेप इत्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ॥

च० शा० १।२७

"सृष्टि के द्रव्यों की गणना नहीं की जा सकती। वृक्ष, वनस्पति, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, खनिज आदि द्रव्यों के ज्ञात-अज्ञात, सूक्ष्म-स्थूल भेद अनन्त-अपार हैं। पर, इन सबकी उत्पत्ति नव द्रव्यों से हुई है। ये नव द्रव्य निम्न हैं—आकाश, (ख), वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, आत्मा, मन, काल और दिशा। इनमें आकाश आदि पहले पाँच द्रव्यों को महाभूत या भूत कहते हैं।"

१—भदन्त नागार्जुन ने अपने रसवैशेषिक ग्रन्थ में द्रव्य का लक्षण ही यह लिखा है कि जो गुण, रस, विपाक, वीर्य और कर्म का आश्रयभूत होता है, उसे द्रव्य कहते हैं। देखिये—

द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम् ॥ र० वै० सू० अ० १ सू० १६६

रसादीनां पदार्थानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम् ॥ भाष्य

यद्यपि पाँचों महाभूत और मन भी अन्तको सूक्ष्म प्रकृति से बने हैं, तथापि जैसा कि पहले कह आये हैं, आयुर्वेद में समझने-समझाने में सरलता के खयाल से इन्हें मूल द्रव्य-तुल्य मान लिया गया है, तथा इन्हीं से आत्मा आदि शेष द्रव्यों के सहकार से सृष्टि के यावत् द्रव्यों की उत्पत्ति बतायी गयी है।

इस प्रकार सृष्टि के समस्त द्रव्यों के दो भेद हैं—कारणद्रव्य या मूलद्रव्य[1] तथा कार्यद्रव्य। पृथिवी आदि नौ को कारणद्रव्य और उनसे बने अनन्तद्रव्य—हाथ, पैर, हरीतकी, त्रिवृत् आदि—कार्यद्रव्य कहे जाते हैं[2]।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, पाँच महाभूत और मन भी अन्ततोगत्वा प्रकृति से बने हैं। सांख्यशास्त्र का मत है कि यह सम्पूण जगत् प्रकृति का विकार—प्रकृति का परिवर्तित स्थूलरूप है।

१—तत्र पृथिव्यादीनि मूलद्रव्याणि तेषाम् ॥ (भदन्त नागार्जुनकृत रस-वैशेषिक सूत्र, अ० २, सू० ३९); पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशानि मूलद्रव्याणि कारणद्रव्याणि। तेषामिति स्थावरजङ्गमानां कार्यद्रव्याणाम् ॥ भाष्य।

२—स्मरण रहे, आयुर्वेद के अङ्गभूत द्रव्यगुणविज्ञान में तो द्रव्यों को केवल पाञ्चभौतिक ही माना गया है—सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकम् अस्मिन्नर्थे ॥ च० सू०

क्योंकि चिकित्सा विधि में सब द्रव्य निर्जीव ही लिये जाते हैं, अतः आत्मा और मन उनमें विद्यमान न होने से उन्हें कारण मानना अनुपयुक्त है; दिशा और काल को कारण मानने या न मानने दोनों दशाओं में द्रव्यगुण शास्त्र में कोई भेद नहीं आता। अतः उन्हें भी कारण नहीं माना गया। इस प्रकार शेष पाँच महाभूत से ही चिकित्सोपयुक्त सब द्रव्यों की उत्पत्ति द्रव्यगुण शास्त्र या निघण्टु में मानी गयी है।

चराचर सृष्टि बनी है, उनमें भी ये तीनों गुण रहते हैं[१]। इन पाँच महाभूतों से बने सृष्टि के चेतन-अचेतन सब द्रव्यों में भी ये गुण अवश्य होते हैं। वैदिक दर्शन और आयुर्वेद के द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के अगणित द्रव्यों का केवल इन तीन गुणों द्वारा आश्चर्यजनक वर्गीकरण किया है। चेतन-अचेतन द्रव्यों के विभिन्न गुण-कर्म और मनुष्य आदि चेतन प्राणियों की प्रकृति (शरीर की बनावट और मानसिक स्वभाव) सत्त्व-रज-तम के ही कारण होती है—इन गुणों की न्यूनाधिकता के कारण ही द्रव्यों के गुण-कर्म और मनुष्यों की प्रकृति में भिन्नता आती है। जैसे क्रिया शारीर (दोष-धातु-मल विज्ञान) का सिद्धान्त है कि प्रत्येक पुरुष में वात-पित्त-कफ ये तीनों दोष अवश्य रहते हैं और अपना-अपना प्राकृतकर्म करते हैं; परन्तु जन्मसे ही किसी में वात, किसी में पित्त और किसी में कफ की अधिकता होती है और इस अधिक दोष के अनुसार ही पुरुष के शरीर की विशिष्ट रचना तथा उसके मानसिक स्वभाव का निर्माण होता है, और उस अधिक दोष के अनुसार ही पुरुष को वातप्रकृति, पित्तप्रकृति या कफप्रकृति कहा जाता है; अथवा जैसे कि निदान-प्रकरण में कहा गया है कि, प्रत्येक रोग की उत्पत्ति में तीनों दोष कारणभूत हुआ करते हैं[२], परन्तु जो दोष

१—कारण में जो गुण होते हैं वे कार्य में भी उतरते हैं, यह नियम है—कारण गुणपूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः।

२—नैकदोषास्ततोरोगाः —अ० हृ० सू० ९।३। इस सूत्र का

प्रधान होता है, उसी को लक्ष्य में रख कर रोग को वातिक आदि नाम दिये जाते हैं ; अथवा जैसे कि द्रव्यगुण-विज्ञान में कहा गया है कि सृष्टि का प्रत्येक द्रव्य यद्यपि पाञ्चभौतिक है—पाँचों महाभूतों के मेल से बना है, तथापि प्रत्येक द्रव्य में एक महाभूत की अधिकता होती है ; इस अधिक महाभूत के कारण ही उसके अमुक-अमुक भौतिक और आयुर्वेदीय गुण-कर्म होते हैं, तथा उसी अधिक महाभूत के नाम पर उस द्रव्य को पार्थिव, आप्य आदि संज्ञा दी जाती है ; उसी प्रकार चेतन-अचेतन प्रत्येक द्रव्य में सत्त्व-रज-तम तीनों गुण अवश्य रहते हैं, परन्तु प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में होते हैं, जिससे उनके विशिष्ट गुण-कर्म और स्वभाव का निर्माण होता है ; एवं इस अधिक गुण के आधार पर ही उस द्रव्य को सात्त्विक; राजस या तामस कहा जाता है। सामान्यतः इन संज्ञाओं का व्यवहार पुरुषों तथा

आशय यह है कि सृष्टि के प्रत्येक द्रव्य और रस में पाँचों महाभूत अवश्य होते हैं। अतः इनके सेवन से शरीर में पाँचों महाभूतों की न्यूनाधिक वृद्धि होना स्वाभाविक है। रोगजनक दोष—वात-पित्त-कफ—इन्हीं महाभूतों से बने हैं। अतः पञ्चभूतात्मक द्रव्यों और रसों के सेवन से इन तीनों दोषों की वृद्धि होना भी स्वाभाविक है। अहिताहार-विहार से शरीर में केवल एक ही दोष की वृद्धि नहीं होती—तीनों दोषों की वृद्धि होती है ; परन्तु प्रत्येक द्रव्य और रस में पाँच महाभूतों में से किसी एक भूत की स्वभावतः अधिकता होती है, अतः उसके अधिक सेवन से उस भूत की अधिकता वाले दोष की वृद्धि विशेष रूप से होती है, और उसी के नाम पर रोग को वातिक आदि नाम दिये जाते हैं।

उनके शुभ-अशुभ गुण-कर्मों के लिए विशेष करके दृष्टिगोचर होता है।

सत्त्व-रज-तम के विषय में इतना सामान्य परिचय देकर अब हम इनके शास्त्रोक्त लक्षण देखेंगे।

सत्त्व-रज-तम[1]—

सत्त्वं प्रकाशकं विद्धि, रजश्चापि प्रवर्तकम्।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योऽन्यमिथुनप्रियम्॥

काश्यप संहिता सु० अ० २८

१—स्मरण रहे, सत्त्व-रज-तम के लिए गुण शब्द प्रसिद्ध है; अष्टाङ्ग-संग्रहकार ने इन्हें गुणों की कोटि में रखते हुए इनके लिए 'महागुण' शब्द का प्रयोग भी किया है, पर दार्शनिक मत से ये लघु-गुरु आदि के समान गुण नहीं हैं। वास्तव में तो ये द्रव्य हैं। इनके लिए गुण नाम गौणी संज्ञा है। गुण शब्द के अनेक मुख्य अर्थों में एक 'डोरी (रज्जु)' तथा दूसरा राजा आदि के उपकरण (साधन) भूत अमात्य आदि गुण (अप्रधान) है। इनके सादृश्य से सत्त्व आदि को भी गुण कहा जाता है। कारण, ये सत्त्व आदि पुरुष को उसी प्रकार जन्म-मरण, सुख-दुख आदि के बन्धन में बाँधते हैं, जैसे डोरी से पशु बाँधा जाता है। (देखिये गीता १४-५) एवं, जैसे अमात्य (मंत्री) आदि राजा के सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करते हैं, वैसे ही सत्त्वादि भी पुरुष (जीवात्मा) के भोग और अपवर्ग (मोक्ष) रूप प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं।

देखिये—"सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न वैशेषिकगुणाः, संयोगविभागवत्त्वात्, लघुत्वगुरुत्वचलघुत्वादिधर्मकत्वाच्च। तत्र शास्त्रे गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्—विज्ञान भिक्षु"। तथा—"लघुत्वादिगुणयोगात् सत्त्वादित्रयं द्रव्यं, तत्र

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः[1] प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम् उपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

सांख्यकारिका[2] १२–१३[3]

"प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यं वैधर्म्यम्" इति सांख्यसूत्रे (अ० १ सू० १२७) 'विषादाद्यै' इति आद्यशब्दोपादानाच्चात्र प्रीत्यादीनामुपलक्षणत्वं बोध्यं, तेन प्रीतिशब्देन अनुकम्पाऽऽर्जवमार्दवलज्जासंतोष-

---

गुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात्—प्रसिद्ध वेदान्ती महादेवकृत वृत्ति ।" अन्य एक विद्वान् का मत भी देखिये—"सत्त्वरजस्तमांसि द्रव्याणि न तु गुणाः, संयोगविभागलघुत्वचलत्वगुरुत्वादिधर्मकत्वात् । गुणशब्दप्रयोगस्तु रज्जुसाम्यात् पुरुषबन्धहेतुतयौपचारिकः ॥

१—प्रीति=सुख ; अप्रीति=दुःख ; विषाद=मोह , अज्ञान या मिथ्या ज्ञान, अविद्या ; आत्मा=रूप । प्रीति आदि शब्द यहाँ उपलक्षण (अपने अर्थ के अतिरिक्त अन्य भी अर्थों का ग्रहण करने वाले) हैं—देखिये ऊपर धृत श्री बालराम उदासीन की व्याख्या ।

२—सांख्य सूत्र नाम से मिलने वाले सूत्र प्रामाणिकों के मत में कपिल मुनि कृत मूल सांख्य सूत्र नहीं हैं । अतः श्री ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका ही सांख्यमत पर मूल ग्रन्थ समझा जाता है । इस पर वाचस्पति मिश्र की सांख्य तत्त्व कौमुदी टीका प्रसिद्ध है ।

३—अर्थ करते हुए पहले दूसरी कारिका और फिर पहली कारिका ली है । अर्थ भी शब्दशः नहीं किया गया है—किन्तु दोनों कारिकाओं का सांख्यमतानुसार आशय निज शब्दों में प्रस्तुत किया है ।

विवेकक्षमादीनाम्, अप्रीतिशब्देन च मानमदमत्सरलोभादीनां, विषाद-शब्देन च वञ्चनकार्पण्यकौटिल्याज्ञानादीनां ग्रहणमत्रोह्यम्। तथा चाहुः पञ्चशिखाचार्याः —"सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षा-संतोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्, एवं रजोऽपि शोकादि नाना भेदं समासतो दुःखात्मकम्, एवं तमोऽपि निद्रादि नाना भेदं समासतो मोहात्मकम् ॥" इति ॥ श्री बालरामोदासीन व्याख्या

निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ॥

सु० शा० ४।३५

सत्त्वगुण के लक्षण—

"सत्त्वगुण का विशेष लक्षण लघुता (लाघव) है। इसके कारण द्रव्यों की ऊर्ध्वगति होती है—जैसे, जलते हुए अग्नि की ज्वालाओं की ऊपर की ओर गति का कारण सत्त्वगुण ही होता है। कभी-कभी इस लाघव के कारण द्रव्यों में तिर्यक् (पार्श्वोंमें) गति होती है—जैसे, वायु की।

"सत्त्वगुण का दूसरा लक्षण प्रकाशकत्व है। यह ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, उभयेन्द्रिय (मन), बुद्धि और अहङ्कार इन तेरह इन्द्रियों में लक्षित होता है। जैसा कि आगे देखेंगे, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन की रचना में सत्त्वगुण की अधिकता होती है। बुद्धि और अहङ्कार में भी शेष दो गुणों के साथ सत्त्वगुण रहता है। इनकी अपने-अपने विषयों के ग्रहण में प्रवृत्ति सत्त्वगुण के कारण होती है। सत्त्वगुण की इस विशेषता (धर्म) को प्रकाश या

प्रकाशकत्व कहते हैं। इन्द्रियों में सत्त्वगुण की जितनी अधिकता होगी, ज्ञान ग्रहण आदि अपने-अपने कर्मों में वे उतनी ही अधिक समर्थ होंगी। इसके विपरीति इन्द्रियों में लघुत्व-विरोधी गुरुत्व गुणयुक्त तमोगुण जितना ही अधिक होगा, उतनी ही उनकी ज्ञान-ग्रहण आदि की शक्ति न्यून होगी। अचेतन जड़ द्रव्य तमः-प्रधान होने से ही इस शक्ति से हीन होते हैं।

इन्द्रियों में ज्ञान ग्रहण की आदि उल्लिखित शक्ति सत्त्वगुण की लघुता के कारण ही होती है। चेतन द्रव्यों में सत्त्वगुण की अधिकता का प्रयोजन प्रकाश है।

सत्त्वगुण का परिणाम सुख होता है। यह सत्त्वगुण के उत्कर्ष (अधिकता) के कारण उत्पन्न मन की निर्मलता, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म आदि के कारण होता है। प्रसाद (इन्द्रियों की निर्मलता) लाघव (स्फूर्ति), अनासक्ति, प्रीति, क्षमा, सन्तोष, अनुकम्पा, सरलता, मृद्धता, लज्जा, विवेक आदि सद्गुण सुख के ही रूप हैं।

एवं—लाघव, प्रकाश और सुख ये तीन लक्षण सत्त्वगुण के हैं। अब रजोगुण के लक्षण देखिये—

रजोगुण के लक्षण

"रजोगुण का विशेष लक्षण या धर्म चलत्व है। चलका अर्थ है प्रवृत्तिशीलता। इस चलत्व धर्म के कारण रजोगुण सब चेतनाचेतन द्रव्यों का चालक है। द्रव्यों में जो भी गति, जो भी क्रिया, जो भी प्रवृत्ति है, वह सब उनमें विद्यमान रजोगुण के कारण ही है। सत्त्वगुण और तमोगुण के अपने-अपने विशेष

कार्य हैं, परन्तु वे तब तक अपने-अपने कार्य नहीं कर सकते जब तक उन्हें इसके लिए रजोगुण की प्रेरणा न हो। इसी कारण रजोगुण का दूसरा धर्म या लक्षण यह है कि वह उपष्टम्भक होता है। उपष्टम्भक शब्द का अर्थ है—प्रवर्तक-प्रेरक-चालक।

रजोगुण का परिणाम दुःख होता है। मान, मद, मत्सर, शोक आदि इसी के रूप हैं। रजोगुण का प्रयोजन प्रवृत्ति है। शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति के कारण ही पुरुष अन्तमें जन्म-मरण आदि द्वारा दुःख से पीड़ित होता है। इसीसे रजोगुण का परिणाम दुःख कहा गया है। इस विषय का विस्तार अध्यात्म-ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

एवं, चलत्व (प्रवृत्तिशीलता), उपष्टम्भकत्व और दुःख ये तीन लक्षण रजोगुण के हैं।

तमोगुण के लक्षण

तमोगुण का विशेष लक्षण गुरुत्व है। यह लघुता का विरोधी गुण है। इसके कारण द्रव्यों में मन्दता, जड़ता, (विषय-ग्रहण का असामर्थ्य) और निष्क्रियता होती है। अचेतन द्रव्यों की जड़ता का कारण उनकी तमोगुण प्रधान रचना ही है। चेतन द्रव्यों में भी तमोगुण की अधिकता होने पर मोह, (अविद्या, अज्ञान-मिथ्याज्ञान), बुद्धिमान्द्य, इन्द्रियों की विषयग्रहण आदि में अल्प शक्ति आदि विकार होते हैं।

तमोगुण का दूसरा लक्षण आवरण है। इसका आशय यह है कि अपनी गुरुता के कारण तमोगुण सर्वदा सत्त्वगुण और

रजोगुण को दबाये रखता है—उनका नियमन-नियन्त्रण करता है। इस स्थिति में, जब कभी तमोगुण का उत्कर्ष (अधिक्य) होता है, तो रजोगुण की प्रवृत्तिशीलता मन्द हो जाती है, और द्रव्य (यदि चेतन प्राणी हो) तो सर्वथा निष्क्रिय अथवा मन्दक्रिय हो जाता है। इसी प्रकार तमोगुण के आवरण से सत्त्वगुण की भी ज्ञानग्रहण की शक्ति कुण्ठित हो जाती है और पुरुष (प्राणी) को अज्ञान या मिथ्याज्ञान होता है। इस प्रकार तमोगुण, सत्त्व और रज का नियामक है।

तमोगुण का परिणाम अथवा तीसरा विशेष लक्षण विषाद (मोह-अज्ञान-मिथ्याज्ञान-अविद्या) है। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, कौटिल्य, धूर्तता, कृपणता आदि इस मोह के ही रूप हैं। तमोगुण का प्रयोजन सत्त्व और रज का नियमन है। इस नियमन के कारण ही उनकी क्रिया सर्वदा लक्षित नहीं होती।

एवं—तमोगुण के तीन लक्षण हैं—गुरुत्व, आवरण और मोह[1]।

तीनों गुणों के समान लक्षण

सत्त्वादि गुणों के ऊपर कहे धर्म (लक्षण) एक-दूसरे से भिन्न और विशिष्ट हैं। पर इनके कुछ सामान्य धर्म हैं। यथा,

१—प्रकाश क्रिया स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (योगदर्शन साधनपाद, १८)—इस सूत्र में आत्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थों की 'दृश्य' संज्ञा बताते हुए, सत्त्व, रज, तम के भेद से उनके तीन गुण प्रकाश, क्रिया और स्थिति बताये हैं।

तीनों गुणों का यह स्वभाव है कि वे अपने-अपने विरोधी स्वभाव के कारण एक-दूसरे को दबाते हैं—एक-दूसरे का अभिभव करते हैं। इसी कारण जब सत्त्व का उत्कर्ष (आधिक्य) होता है तो वह रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सुख आदि के रूप में अपनी क्रिया (शान्तावृत्ति) को प्रदर्शित करता है। जब रजोगुण का प्राबल्य होता है तो वह सत्त्व और तम को अभिभूत करके अपना स्वरूप (घोरावृत्ति) प्रकाशित करता है। एवं जब तमोगुण अधिक होता है तो वह रजोगुण और सत्त्वगुण को दबा कर अपनी क्रिया (मूढ़ावृत्ति) प्रकट करता है। परन्तु, यह स्थिति उसी समय होती है, जब उनकी शक्ति में न्यूनाधिकता हो। इसके विपरीत, तीनों का बल जब समान होता है, उस समय एक-दूसरे को समान भाव से दबा कर रखते हैं। परिणामतया किसी की क्रिया नहीं हो पाती। यह अवस्था प्रलय के समय होती है। उस समय स्थूल-सूक्ष्म, चेतन-अचेतन समस्त कार्य द्रव्य अपने मूल कारण 'प्रकृति' में लीन होते हैं। इसीसे प्रकृति का लक्षण बताते हुए सांख्यसूत्र में कहा है—

सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥

सर्गकाल (सृष्टि) में जब इन गुणों का वैषम्य हो जाता है तो प्रत्येक गुण अपनी-अपनी ज्ञान-प्रवृत्ति आदि क्रिया प्रदर्शित करता है, जिससे उत्तरोत्तर कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। यह विषय आगे विस्तार से देखेंगे।

"तीनों गुणों में दूसरा साम्य यह है कि, तीनों अपनी-अपनी

क्रिया (वृत्ति) एक-दूसरे के आश्रय या सहायता से करते हैं। अर्थात्—सत्त्वगुण की अपनी क्रिया में प्रवृत्ति रजोगुण के कारण और उसका नियमन (मर्यादा) तमोगुण के कारण होता है। उधर, रजोगुण और तमोगुण को अपनी-अपनी क्रिया में सत्त्व-गुण प्रकाश के द्वारा सहायता देता है। इसी प्रकार, रजोगुण की क्रिया सत्वगुण के प्रकाश और तमोगुण के नियम की सहायता से होती है ; और वह स्वयं प्रवृत्ति द्वारा सत्त्व और तम की सहायता करता है। तमोगुण को अपनी क्रिया में सत्त्वगुण के प्रकाश और रजोगुण की प्रवृत्ति की सहायता प्राप्त होती है ; जब कि स्वयं तमोगुण अपने नियम द्वारा दोनों की सहायता करता है।

"तीनों गुणों में तीसरा साम्य यह है कि, प्रलयावस्था में प्रकृतिरूप समान-द्रव्य की उत्पत्ति भी वे एक दूसरे की सहायता से करते हैं। इन गुणों का चौथा साम्य यह है कि, ये प्रकृति तथा उससे उत्पन्न अव्यक्त-व्यक्त (सूक्ष्म-स्थूल), चेतन-अचेतन, स्थावर-जङ्गम सब द्रव्यों में सर्वदा मिलित रूपसे रहते हैं— अर्थात् तीनों गुण मिल कर सब द्रव्यों को उत्पन्न करते हैं, और मिलित रूप से ही तीनों गुण सब द्रव्यों में सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

"ऊपर कह आये हैं कि तीनों गुणों की क्रियाएं एक-दूसरे की विरोधिनी—एक दूसरे से विरुद्धगामिनी होती हैं। सत्त्वगुण ज्ञानात्मक होने से रजोगुण की दुःखान्त प्रवृत्ति का विरोधी है।

वही सत्त्वगुण अपनी लघुता और प्रकाश के कारण गुरु, मन्द और आवरण धर्म वाले तथा अविद्या-प्रधान तमोगुण का विरोधी है। रजोगुण प्रवृत्ति प्रधान होने से मन्द और आवरक तम का विरोधी है। इस प्रकार तीनों गुणों की क्रिया विरुद्ध होने पर भी वे पिण्ड और ब्रह्माण्डके यावत् द्रव्योंके निर्माण तथा संसार के चालन-क्रममें पूर्वोक्त प्रकारसे सर्वदा साथ रहते हुए, परस्पर सहायता करते हुए अपनी-अपनी क्रिया करते हैं—सुन्दोपसुन्द न्याय से एक-दूसरे की क्रिया को कुण्ठित नहीं करते। इसका कारण है। और वह यह कि तीनों का प्रयोजन एक ही है कि पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग (मोक्ष) के साधन उपस्थित करना। प्रयोजन के इस ऐक्य के कारण ही तीनों गुण परस्पर सहकार से कार्य करते हैं। जैसे दीये की बत्ती और तैल के प्रति अग्नि का सर्वदा विरोधाभाव होते हैं— अपने सम्पर्क में आते ही उन्हें भस्म कर देता है ; परन्तु बत्ती, तैल और अग्नि तीनों मिलकर दीया-रूप एक प्रयोजन को परस्पर सहकार-पूर्वक सिद्ध करते हैं। यही स्थिति तीनों गुणों की भी है। अथवा, दूसरा दृष्टान्त यह भी दिया जा सकता है कि जैसे शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारणभूत वात, पित्त और कफ में एक दूसरे से विरुद्ध धर्म वाले होते हैं; तथा परस्पर सहकार पूर्वक शरीरका धारण करते हैं, उसी प्रकार सत्त्व-रज-तमभी धर्म वाले होते हुए भी प्रयोजन के ऐक्य के कारण परस्पर सहकार करते हुए ही क्रिया करते हैं[1]।

१—भगवद्गीता में कथित तीनों गुणों के लक्षण—गुणों के

प्रत्येक द्रव्य त्रिगुणात्मक है--

अस्तु। कारिकाओं की व्याख्या के प्रसंग से अबतक हमने सत्त्व-रज-तम के गुण-धर्मों का अवलोकन किया। सांख्य का

विषय में ऊपर कारिकाओं की व्याख्या करते हुए जो कुछ लिखा गया है, वही विषय भगवद्गीता में निम्न श्लोकों में बड़े सुन्दर रूप से प्रतिपादित है—"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबन्धन्ति महाबाहो, देहे देहिनमव्ययम्॥ तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंग-समुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेनदेहिनम्॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्नि बध्नाति भारत॥ सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्यात् प्रवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते॥ रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्य गुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्। जन्म मृत्यु-

सिद्धान्त है कि प्रकृति के ये गुण उससे बनने वाले उत्तरोत्तर द्रव्यों में भी उतरते हैं। चेतन द्रव्यों के चैतन्य में कारणभूत मन, बुद्धि, अहंकार और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ त्रिगुणात्मक प्रकृति से ही बनी हैं। इस प्रकार चेतन द्रव्यों के ज्ञान-क्रिया आदि विशिष्ट गुण-कर्मों का कारण उनकी रचना में भाग लेने वाले सत्त्व-रज-तम ही हैं। उधर, अचेतन द्रव्यों का मूल कारण भी त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है। परिणामतया, उनके जड़त्व आदि धर्म भी इन तीन गुणों के कारण ही हैं।

चेतन-अचेतन सभी द्रव्यों के निर्माण में तीन गुण भाग लेते हैं। किसी में कोई गुण अधिक होता है और अन्य गुणों तथा उनकी क्रिया को दबाये रखता है और किसी में कोई गुण अधिक होता है, जिससे उसकी क्रिया विशेषतया लक्षित होती है। पर, इतना निश्चित है कि प्रत्येक द्रव्य में तीनों गुण होते अवश्य हैं। इस कारण सब द्रव्यों में प्रकृति के इन गुणों के

जरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ (अ० १४-५-२०)। श्लोकोंका अर्थ सरल है और उनका आशय वही है जो ऊपर कारिकाओं की व्याख्या में आ गया है ; अतः इनका अर्थ यहां नहीं लिखा। वैसे भी अर्थसहित गीता सुलभ होने से इनका अर्थ सुगमता से जाना जा सकता है।

मनुस्मृति में भी १२ वें अध्याय में प्रत्येक गुण की अधिकता के विशेष लक्षण तथा सात्त्विक आदि कर्मों के कारण होनेवाली विभिन्न गतियों (पुनर्जन्म में प्राप्त होनेवाली योनियों) का विशद वर्णन किया गया है। इस प्रसंग में उसे भी देखना चाहिये।

स्वाभाविक लक्षण अवश्य पाये जाते हैं। किसी में कोई न्यून किसी में कोई अधिक।

द्रव्यमात्रमें रजोगुणजन्य गतिशीलता—— Important

आधुनिक विज्ञान हमें बताता है कि, गतिशून्य निश्चल दशा में भी प्रत्येक द्रव्य के सूक्ष्म इन्द्रियागोचर अणुओं में[१] सर्वदा एक प्रकार की विशिष्ट, वेगयुक्त और नियमित गति होती है। ताप आदि से इस गति में परिवर्तन आ जाता है। इसी गति के कारण तप्त द्रव्य के रूप, स्पर्श आदिमें भिन्नता आ जाती है। अणुओं की इस गति के अतिरिक्त परमाणुओं[२] के बनाने वाले विद्युत्कणों में भी विशिष्ट गति होती है। ये विद्युत्कण-इलेक्ट्रन[३] और प्रोटोन[४]—प्रत्येक द्रव्य के परमाणु में भिन्न-भिन्न संख्या में होते हैं। प्रोटोन के चारों ओर इलेक्ट्रन वृत्ताकार में बड़े वेग से चक्कर लगाया करते हैं—उसी प्रकार जैसे सूर्य के चारों ओर ग्रह-नक्षत्र। इस प्रकार ऊपर में देखने से स्थिर और क्रिया-शून्य अचेतन-जड़-द्रव्यों में भी ये दो प्रकार की गति या प्रवृत्ति सदा-सर्वदा स्वाभाविक रूप से होती रहती है। इस गति (प्रवृत्ति) का कारण उनमें विद्यमान रजोगुण है। आगे हम देखेंगे कि जड़ द्रव्यों का निर्माण (मुख्यतः) तमोगुण और रजोगुण से होता है।

१—Molecule मॉलिक्यूल २—Atom—एटम
३—Electron ४—Proton

उधर, चेतन द्रव्यों के मन, बुद्धि, अहंकार इन तीन अन्तः-करणों एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दस बहिःकरणों में होने वाली विभिन्न प्रवृत्ति का अनुभव तो हम सबको सदा होता ही रहता है। मन जाग्रत् और स्वप्न दोनों दशाओं में दूर-दूर गमन करता है[1]। उसकी गति सबसे अधिक वेगयुक्त मानी गयी है। तीव्रगति की उपमा मन की गति से दी जाती है—"मनोजवं मारुततुल्यवेगम्।" बुद्धि और अहंकार भी मन के साथ और स्वतन्त्र रूप से भी सदा कर्म में व्याप्त (संलग्न) रहते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी जाग्रत् और स्वप्न दशा में अपने-अपने विषयों के ग्रहण के लिए अभिमुख और प्रवृत्त रहती हैं। कर्मेन्द्रियों की क्रिया भी यदा-कदा विश्राम ले कर नित्यप्राय होती रहती है। पर इन कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त परन्तु रचना और क्रियामें अंशतः इनके सदृश कुछ अवयव हैं, जिनकी क्रिया आजीवन-आमरण प्रतिक्षण होती रहती है, पर जिनका ज्ञान हमें नहीं होता। हृदय, फुफ्फुस और रक्त वहन करने वाले स्रोतों की क्रिया एवं अन्न पचन करने वाले यन्त्रों की क्रिया इन क्रियाओं के उदाहरण हैं। ये क्रियाएँ हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों के समान हमारी इच्छा के कारण नहीं होतीं। अतः पाश्चात्य शारीर में अनैच्छिक

१—देखिये—यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ तथा—हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठम्......(यजुर्वेद अ० ३४, मं० १, ६)। अजिर=चञ्चल (अज गतिक्षेपणयोः धातु)।

क्रियाए[1] कही जाती हैं। प्राणिमात्र के जीवन के लिये ये अनिवार्य हैं। इसी कारण भारतीय दर्शन में इन्हें 'जीवनयोनि' कहा गया है। इन क्रियाओं के अतिरिक्त प्रत्येक यन्त्र या अवयव का प्रत्येक परमाणु[2] अपने अनुरूप (प्रकृति द्वारा अपने को सौंपे गये) विभिन्न कर्म करता है—यथा नाड़ी संस्थान[3] का प्रत्येक परमाणु ज्ञान और चेष्टा के वेगों का वहन, यकृत् का प्रत्येक परमाणु पित्त-निर्माण, विषनाश आदि, लाला ग्रन्थियों का प्रत्येक परमाणु लाला-निर्माण, रक्त के रक्तकण ओषजन तथा कार्बन डाईऑक्साइड के क्रमशः आदान और मोक्ष का कार्य करता है। इन कार्यों के अतिरिक्त, क्षोभ्यता[4], आहार का आत्मसात्करण[5] आदि कार्य—जो प्रत्येक परमाणु में चैतन्य के द्योतक कहे जाते हैं—शरीर-परमाणु नियत रूप से करते हैं। जड़ द्रव्यों में पायी जाने वाली पूर्वोक्त गतियाँ भी इनमें होती ही हैं। इन सब गतियों-क्रियाओं-चेष्टाओं-कर्मों या प्रवृत्तियों का कारण चेतन द्रव्यों की मन आदि उक्त इन्द्रियों में विद्यमान रजोगुण ही है।

द्रव्यमात्र में तमोगुणजन्य निष्क्रियता और गुरुता

आधुनिक विज्ञान हमें प्रकृति[6] का एक और लक्षण या स्वभाव

1—Involuntary movements इनवॉलण्टरी मूवमेंट्स।

2—Cell सेल।

3—Nervous System नर्वस सिस्टम।

4—Irritability इरिटैबिलिटी। 5—Assimilation एसिमिलेशन।

6—Matter मैटर।

बताता है और वह यह कि प्रत्येक द्रव्य में यह विशेषता होती है कि वह यदि स्थिति को दशा में हो तो उसे गतियुक्त करने के लिये बाह्य शक्ति की आवश्यकता होती है ; इसी प्रकार वह यदि सीधी रेखा में गति कर रहा हो, तो उसकी दिशा बदलने के लिये अथवा उसे स्थिर करने के लिये भी बाह्य शक्ति की आवश्यकता होती है। बाह्य शक्ति के हस्तक्षेप के बिना उसकी अवस्था में परिवर्तन नहीं हो सकता। इस विशेषता का नाम जड़ता[1] है। प्राच्य विज्ञान कहता है कि द्रव्यों की यह विशेषता उनमें स्थित प्रवृत्ति-विरोधी तमोगुण के कारण होती है। साथ ही प्राच्य-विज्ञान यह भी कहता है कि अचेतन द्रव्यों में जो ज्ञान रूप क्रिया का अभाव देखा जाता है वह भी उनमें स्थित सत्त्वगुण-विरोधी तमोगुण के कारण ही होता है। मनुष्य आदि जङ्गम चेतन द्रव्यों और पत्थर, मिट्टी आदि स्थावर अचेतन द्रव्यों के मध्यवर्ती एक और श्रेणी अर्धचेतन वनस्पतियों की है। इसमें अचेतन द्रव्यों के समान सत्त्वगुण का सर्वथा अभाव भी नहीं होता और नहीं चेतन द्रव्यों के समान सत्त्वगुण का अतिरेक (आधिक्य) होता है। इसी कारण यद्यपि इनको सुख-दुःख का अनुभव होता है, परन्तु वे मनुष्यादि के समान उसे अपने हाव-भावों के द्वारा प्रकट नहीं कर सकते। पर अब तो सूक्ष्मवेदी यन्त्रों की सहायता से सर जगदीशचन्द्र वसु आदि पण्डितों ने

१—Inertia इनर्शिया।

इसे भी प्रत्यक्ष कर दिया है। मनु ने इस श्रेणी को 'अन्तःसंज्ञ' कहा है[1]।

एवं, तमोगुण के दो प्रधान स्वरूप हैं—एक रजोगुण अथवा प्रवृत्ति का विरोधी तथा दूसरा सत्त्वगुण अथवा ज्ञान का विरोधी। मट्टी, पाषाण आदि जड़-द्रव्यों में सत्त्वगुण तमोगुण से अभिभूत (दबा हुआ) होने से उनमें ज्ञान सर्वथा नहीं होता।

१—महाभारत और मनुस्मृति में वनस्पतियों की चेतना के प्रमाण-देखिये—वृक्षगुल्मं बहुविधं तत्रैव तृणजातयः। तमसाऽधर्मरूपेणाच्छादिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःखसमन्विताः॥ (मनुस्मृति अध्याय १) महाभारत में भरद्वाज और भृगु के संवाद के रूप में कहा गया है कि चेतन द्रव्यों के समान वनस्पतियाँ भी पञ्चभूतमय होती हैं; और एक-एक भूत की अधिकता के परिणामस्वरूप प्राणियों में जैसे एक-एक इन्द्रिय होती है, वैसे ही वनस्पतियों में भी पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं और इन इन्द्रियों से वे तत्-तत् कर्म करती हैं। देखिये—"भरद्वाज उवाच—पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावर जङ्गमाः। स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः॥ अनुष्मणामचेष्टानां घनानाञ्चैव तत्त्वतः। वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः॥ न श्रृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्धरसवेदिनः। न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः॥ अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुतः। आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम्॥ भृगुरुवाच—घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः। तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपलभ्यते॥ ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च। म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनाऽत्र विद्यते॥ वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते। श्रोत्रेण गृह्यते स्पर्शस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः॥ वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति। न ह्यदृष्टैश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः॥ पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि। अरोगाः

इसी कारण ज्ञान के आश्रय से कर्मेन्द्रियों द्वारा होने वाली रजोगुणात्मक ऐच्छिक प्रवृत्तियों का भी अभाव होता है। वृक्ष-वनस्पतियों में सत्त्वगुण तमोगुण से उतना आवृत (अभिभूत) नहीं होता, जितना मट्टी-पाषाण आदि निर्जीव द्रव्यों में। इसीसे उनमें अव्यक्त संज्ञा होती है। तदनुसार कुछ क्रियाएँ भी देखी जाती हैं। वनस्पति-शास्त्र के अनुशीलन से विदित होगा कि वनस्पतियों के फूल, पत्ते, मूल विभिन्न अवयव परिस्थिति के अनुरूप इस प्रकार के स्वरूप धारण करते तथा विविध क्रियाएँ करते हैं, जानो वे बुद्धिपूर्वक की गयी हों। इसके सिवाय कई विलक्षण वनस्पतियाँ तो सचमुच मानवी बुद्धि को भी जानो परास्त कर देती हैं। जैसे, कई वनस्पतियाँ अपने शिकार को पकड़ने के लिए अपनी तीक्ष्ण कण्टकयुक्त शाखाओं को चारों ओर फैलाये रखती हैं और ज्यों ही कोई पशु उनके मध्य में आया, वैसे

पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥ पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनाञ्चापि दर्शनात्। व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे। वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत्। तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिवति पादपः ॥ सुखदुःखोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्। जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥ तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ। आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते ॥ जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः। प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते ॥ त्वक् च मांसं तथाऽस्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम्। इत्येतदिह संघातं शरीरं पृथिवीमयम् ॥" (महाभारत, शान्तिपर्व, १८४ अ०, ६-२० श्लो०)। विस्तार भय से तथा सरल होने से श्लोकों का अर्थ यहाँ नहीं दिया है। ऊपर आशयमात्र दिया है।

ही ये शाखायें एक-दूसरे के निकट आ जाती हैं, जिससे वह पशु चारों ओर से उनसे आवेष्टित हो जाता है, उसके शरीर में वनस्पति के काँटे घुस जाते हैं। ये काँटे वध्य पशु के शरीर से रस-रक्त-मांस को क्रमशः चूस लेते हैं। जब वह पूर्णतया कङ्काल-मात्र शेष रह जाता है, तो उक्त कण्टकिनी शाखायें आप से आप अगले ग्रास को पकड़ने के लिए उसी प्रकार पुनः फैल जाती हैं, जैसे इस वध्य पशु को पकड़ने के लिए संकुचित हुई थीं। वनस्पति-जगत् में पाये जाने वाले इस प्रकार के सामान्य तथा विशेष चमत्कारी व्यापारों को जानने के लिए वनस्पति-शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये। इन व्यापारों से स्पष्ट ही अनुमान होता है कि वृक्ष-वनस्पतियों को भी मनुष्यों के समान ज्ञान और बुद्धि है—भले ही वह अव्यक्त और अन्तर्निगूढ़ हो।

वनस्पतियों से ऊपर विभिन्न कीट-पतङ्ग-पक्षी-पशु आदि की श्रेणी है। इनमें ज्ञान और ज्ञानमूलक प्रवृत्तियाँ वनस्पतियों की अपेक्षा कुछ अधिक व्यक्त होती हैं। जीवविद्या[1] का अभ्यास करने से इस मनोरञ्जक विषय का ठीक-ठीक अनुभव हो सकता है। इस संबन्ध में मधु-मक्खी, दीमक, बया आदि के जीवनों का अनुशीलन बड़ा उपयोगी है। जो प्राणी अपनी विशेष परि-स्थिति के कारण जिस ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय का उपयोग विशेष रूप से करता है, उसकी वही इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों की तुलना में अधिक विकसित होती है। उस इन्द्रिय के मस्तिष्कगत केन्द्र का

१—Biology–बायोलॉजी।

विकास भी अन्य अवयवों के केन्द्र की अपेक्षा विशेष होता है। विकास की दृष्टि से पशु-पक्षी आदि से ऊपर मनुष्य का क्रम है। अपने ज्ञान और ज्ञानमूलक प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य ने भूत तथा वर्तमान में कितना अभ्युदय किया है, तथा भविष्य में भी कितना अभ्युदय प्राप्त करेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। प्राच्य विज्ञान का मन्तव्य है कि मनुष्य की यह विशेषता उसमें सत्त्वगुण के अतिरेक (आधिक्य) के कारण है। मनुष्यों में भी जिसमें सत्त्वगुण विशेष होता है, उसकी बुद्धि, मन आदि इन्द्रियों की शक्ति उतनी ही प्रबल और विकसित होती है। यह और बात है कि रजोगुण अथवा तमोगुण से प्रेरित होकर वह इस शक्ति का उपयोग कुत्सित कर्मों में करता है, अथवा सत्त्वगुण द्वारा प्रदर्शित मार्ग से चलता हुआ सत्कार्यों में उसका विनियोग करता है। आगे सात्त्विक, राजस, तामस पुरुषों के लक्षण आयुर्वेदीय संहिताओं तथा भगवद्गीता के आधार पर देखते हुए हम जान सकेंगे कि कौन से कर्म सात्त्विक हैं, कौन से राजस तथा कौन से तामस।

तमोगुण का एक प्रमुख लक्षण निष्क्रियता है। सांख्यमत से इसका कारण तमोगुण का गुरुत्व है। इस गुरुत्व के कारण द्रव्यों में एक ओर भार (वजन) होता है ; दूसरी ओर इसी गुरुत्व के कारण रजोगुण और सत्त्वगुण का अभिभव होकर प्रवृत्ति और ज्ञान की अल्पता होती है। पूर्व कथित गुण भार की आधुनिक मत से उपपत्ति इस प्रकार की जा सकती है।

विशेष अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक परमाणु के केन्द्र में केवल प्रोटोन नहीं होता, किन्तु दो प्रकार के कण होते हैं। इनमें से एक इलेक्ट्रन-सहित अन्य सब कणों की अपेक्षा सहस्रों गुण भारवान् होता है। यद्यपि इलेक्ट्रन आदि में भी यत्किञ्चित् भार होता है, परन्तु वह अत्यन्त नगण्य होने से परमाणु का भार वास्तव में इन भारवान् कणों के कारण ही होता है। इन कारणों की तुलना हम तमोगुण से कर सकते हैं।

जड़-द्रव्यों में सत्त्वगुण-जन्य प्रकाश

सत्त्वगुण के लक्षण देते हुए उसका एक लक्षण 'प्रकाश' बताया गया है और कहा गया है कि इसके कारण इन्द्रियों में ज्ञान-ग्रहण का सामर्थ्य होता है। परन्तु, जड़-द्रव्यों के साथ भी आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रकाश का सम्बन्ध बताया है। वे कहते हैं कि प्रत्येक परमाणु के विद्युत्कणों से प्रकाश की किरणों के रूप में कतिपय विद्युत्कण सदा निकला करते हैं। इस प्रकार उनके आणविक भार आदि धर्म क्रमशः क्षीण होकर अन्त को एक तत्त्व अन्य तत्त्व में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रेडियम धातु सीसक भी बन जाता है। यह प्रकाश सत्त्वगुण से कुछ संबन्ध रखता है, ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी।

इस प्रकार अब तक हमने आधुनिक विज्ञान के साथ तुलना करते हुए प्रकृति के पूर्वोक्त गुणों की व्याख्या की। आगे बुद्धि, अहंकार आदि का निरूपण करते हुए आधुनिक विज्ञानोक्त कुछ अन्य लक्षणों की तुलना की जायगी।

ऊपर चेतन-अचेतन द्रव्यों के लक्षणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि दोनों में लघुता या गुरुता, प्रवृत्ति या जड़ता, ऊर्ध्वगति या अधोगति होते हैं। पर यह स्पष्ट है कि चेतनों की लघुता और प्रकाश जो उनकी इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों को शीघ्र ग्रहण करने के स्वभाव से सूचित होते हैं, अग्नि आदि अचेतन द्रव्यों की उस लघुता और प्रकाश से भिन्न है, जिनके कारण उनमें ऊर्ध्व या तिर्यक् (तिरछे) गति या एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में रूपान्तर होता है। इसी प्रकार चेतन द्रव्यों की प्रवृत्ति (ज्ञानमूलक क्रिया) तया अचेतन जड़ द्रव्यों के परमाणुओं की पूर्व लिखित गति से भिन्न है। एवं, चेतन द्रव्यों की तमोगुणजन्य गुरुता (जिससे बुद्धि, मन, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपना-अपना कर्म यथावत् नहीं कर सकतीं अथवा सर्वथा नहीं कर सकतीं) स्पष्ट ही निर्जीव द्रव्यों की उस गुरुता से भिन्न है, जिसके कारण उनमें अधोगमन का स्वभाव या ज्ञानशून्यता होती है। तमोगुणी पुरुष अधोगति को प्राप्त होता है, इसके विपरीत सत्त्वगुणी की ऊर्ध्व गति होती है[1], इस उक्ति में जिस तमोगुणजन्य अधोगति तथा सत्त्वगुणजन्य ऊर्ध्वगतिका वर्णन है, वह अचेतन द्रव्यों की तमोगुण की गुरुता के कारण अधोगति और सत्त्वगुण के कारण ऊर्ध्व या तिर्यक् गति से स्पष्ट ही भिन्न है। तथापि, प्राच्य दर्शन का मन्तव्य है कि,

---

१—देखिये—"ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्थाः" इत्यादि (गीता)

दोनों प्रकार की लघुता तथा ऊर्ध्वगति का मूल एक ही है—प्रकृति का सत्त्वगुण ; दोनों प्रकार की गुरुता का कारण भी एक ही है—प्रकृति का तमोगुण ; एवं दोनों प्रकार की प्रवृत्ति का कारण भी एक ही है—प्रकृति का रजोगुण। चेतन द्रव्यों की अचेतनों से विशेषता उनमें मन आदि तेरह इन्द्रियों की विद्यमानता है। इन इन्द्रियों की रचना भी उसी प्रकृति से हुई है, जिससे मिट्टी, पाषाण आदि जड़ द्रव्य बने हैं। अतः जो सत्त्व, रज, तम जड़ अचेतन द्रव्यों में हैं, वही मिट्टी, पाषाण आदि अचेतन द्रव्यों में भी हैं। परन्तु, शास्त्र में सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से मानव-स्वभाव का ही परिचय विशेष रूप से कराया जाता है। जनता में भी इन शब्दों से मनुष्यों की विभिन्न प्रकृतियों का बोध कराने की ही रूढ़ि है[1]। अगले अध्याय में हम प्रकृति से क्रमशः उत्पन्न होने वाले बुद्धि तत्त्व और अहंकार का निरूपण करेंगे। ये भी सांख्यमतानुसार चेतन और अचेतन दोनों में समान रूप से होते हैं ; तथापि जनता में इन्हें भी केवल चेतन प्राणियों के ही धर्म समझा जाता है। वैदिक दर्शन तथा आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान का अनुशीलन करते हुए यह स्थिति ध्यान में रखनी चाहिये।

१—स्मरण रहे, गुजराती भाषा में तमोगुण; तामस आदि शब्दों का अर्थ अहंकार, रोष, क्रोध आदि होता है। वास्तव में प्राच्य दर्शन के अनुसार ये कार्य रजोगुण के हैं।

प्रकृति के तीन गुणों के विषय में इतना परिचय कराने के पश्चात् अब हम देखेंगे कि सांख्यमतानुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति से त्रिगुणात्मक सृष्टि की उत्पत्ति किस क्रम से होती है।

तीसरा अध्याय

सांख्य मत से सृष्टि की उत्पत्ति

अथातो भूत सर्ग विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव । तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहंकार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति । तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजस सहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणवाग्घस्तोपस्थ पायुपाद मनांसीति ; तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः ; भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यन्ते—शब्द तन्मात्रं, स्पर्श तन्मात्रं, रूप तन्मात्रं, रस तन्मात्रं, गन्ध तन्मात्रमिति ; तेषां विशेषाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ; तेभ्यो भूतानि—व्योमानिलानलजलोर्व्यः ; एवमेषा तत्त्व चतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥

सु० शा० १।४

× × × महानिति बुद्धितत्त्वम् । × × × । वैकारिकः सात्त्विकः ; तैजसो राजसः, भूतादिस्तामसः । × × × । तत्र सात्त्विकादहंकाराद्दा–

जससहायात् तमोमात्रयाऽनुविद्धादेकादशेन्द्रियाणि ; तल्लक्षणानि प्रकाश लक्षणानि, सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात् । तान्यहंकारादुत्पन्नान्यहंकारकारिकाणीति सांख्ये, वैद्यके तु भौतिकानि । × × × । तामसादहंकारात् राजस सहायात् सत्त्वमात्रयाऽनुविद्धात् । × × × । तेभ्यः पञ्चभ्यः शब्द तन्मात्रादिभ्य एकोत्तरपरिवृद्ध्या व्योमादय उत्पद्यन्ते । तद्यथा—शब्द तन्मात्राच्छब्दगुणं व्योम, शब्द तन्मात्र सहितात् स्पर्श तन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्द स्पर्श तन्मात्र सहिताद्रूपतन्मात्राच्छब्द स्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्द स्पर्शरूपतन्मात्र सहिताद्रस तन्मात्राच्छब्द स्पर्शरूपरसगुणा आपः, शब्द स्पर्शरूपरस तन्मात्र सहितात् गन्ध तन्मात्राच्छब्द स्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी × × × ॥ —डह्लन

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धयाऽहमिति मन्यते ।
परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ॥
ततः संपूर्ण सर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।

च० शा० १।६६

संप्रति महा प्रलयानन्तरं यथाऽऽदिसर्गे बुद्ध्याद्युत्पादो भवति तदाह—जायत इत्यादि । × × × तत इति आहंकारिक कार्यानन्तरं तन्मात्रेभ्य उत्पन्न स्थूल भूत संबन्धात् । संपूर्ण सर्वाङ्गो जात इति आदिसर्गे जातः ॥

समुदय कारणं तु ब्रूमः—अव्यक्तान्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् खादीनि, ता अष्टौ भूत प्रकृतयः । चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि, तान्येव बुद्धीन्द्रियाणि ; हस्तौ पादौ जिह्वा गुद उपस्थ इति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि ; शब्द स्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चेन्द्रियार्थाः ; अती-

न्द्रियं तु मनः ; इत्येते षोडश विकाराः। महदादि सर्वं क्षेत्रमव्यक्त-माचक्षते, क्षेत्रज्ञं तु शाश्वतमचिन्त्यमात्मानम् ॥

काश्यप संहिता शा० ४ ॥

××× प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः । ××× ॥ च० शा० ४।८

Imp ० (सांख्य के मत से सृष्टि के आदि मूल दो हैं--प्रकृति और पुरुष। इनमें भी पुरुष अपरिणामी (परिवर्तन-शून्य) और निर्विकार है ; केवल प्रकृति ही परिणामी है—उसीमें उत्तरोत्तर विकार (परिवर्तन) हो कर आगे कहे जाने वाले द्रव्यों का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रक्रिया में पुरुष का कर्म केवल इतना है कि यद्यपि उसका अपना कोई कार्य नहीं है अर्थात् उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, परन्तु प्रकृति से जो उत्तरोत्तर काय द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उसमें कारण पुरुष—आत्मा का सांनिध्य-संग, विद्यमानता—ही है। इस विषय में अन्य वक्तव्य आगे प्रकरणानुसार आयगा। इस समय हम देखेंगे कि प्रलय के पश्चात् जब सृष्टि का आरम्भ होता है, उस समय तीनों गुणों में क्षोभ या वैषम्य हो कर प्रकृति से क्रमशः कौन-कौन से द्रव्य उत्पन्न होते हैं।)

"त्रिगुणात्मक प्रकृति[1] से सर्व प्रथम महान् (महत्तत्त्व, बुद्धि तत्त्व) उत्पन्न होता है। इसमें भी सत्त्व रज तम तीनों

१—प्रकृति अन्य नाम प्रधान, अव्यक्त आदि हैं।

गुण रहते हैं। त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) होती है। वह भी अपने कारण द्रव्य महत्तत्त्व के सदृश त्रिगुणात्मक होता है। (गुणों के भेद से) यह अहंकार तीन प्रकार का है—वैकारिक या सात्त्विक, तैजस या राजस तथा भूतादि या तामस। सात्त्विक अहंकार से, राजस की सहायता से (तथा तमोगुण के भी लेश—अल्पमात्रा से) ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। ये ग्यारह इन्द्रियाँ निम्नोक्त हैं—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हस्त, उपस्थ (लिङ्ग), पायु (गुद), पाद और मन। इनमें पहली पाँच इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय या बुद्धी-न्द्रिय तथा अगली पाँच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं; मन उभयेन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों) है। ये ग्यारह इन्द्रियां भी त्रिगुणमय होती हैं।

"तामस अहंकार से, राजस की सहायता से (तथा सत्वगुण के भी किञ्चिन्मात्र मेल से) पाँच तन्मात्र (वैशेषिकों के परमाणु रूप पञ्च महाभूत) उत्पन्न होते हैं। ये पाँच तन्मात्र निम्नोक्त हैं—शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्ध तन्मात्र। इन तन्मात्रों में से प्रत्येक का एक-एक विशेष गुण है—शब्द तन्मात्र का शब्द, स्पर्श तन्मात्र का स्पर्श, रूप तन्मात्र का रूप, रस तन्मात्र का रस और गन्ध तन्मात्र का गन्ध। इन तन्मात्रों में भी अपने कारण द्रव्य के समान तीनों गुण विद्यमान होते हैं। क्रमशः पाँच तन्मात्रों से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। महाभूतों की

उत्पत्ति में यद्यपि क्रमशः एक-एक तन्मात्र प्रधान होता है, तथापि अगले-अगले भूत की उत्पत्ति में पिछला-पिछला तन्मात्र भी सहायक होता है ; एवं, प्रत्येक भूत में अपने घटक तन्मात्रों के गुण उतरते हैं ; अर्थात्—शब्द-तन्मात्र से शब्द गुणयुक्त आकाश उत्पन्न होता है ; शब्द तन्मात्र-सहित स्पर्श तन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणयुक्त वायु उत्पन्न होता है ; शब्द और स्पर्श तन्मात्र की सहायता से शब्द, स्पर्श और रूप गुणयुक्त अग्नि (तेज) उत्पन्न होता है ; शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्र की सहायता से रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणयुक्त जल (अप्-आपः), उत्पन्न होता है ; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-गुणयुक्त पृथ्वी उत्पन्न होती है।

"महाभूतों की उत्पत्ति विशेष क्रम से होती है। सर्व प्रथम (किंचित् व्यक्त स्वरूपवाला) आकाश उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् क्रमसे अपेक्षा कृत व्यक्त स्वरूप वाले वायु आदि महाभूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति, महान, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियां पाँच तन्मात्र, और पाँच महाभूत इन चौबीस को 'तत्व चतुर्विंशति' कहा जाता है। महाभूत पर्यन्त सम्पूर्ण द्रव्यों के उत्पन्न होने पर पुरुष के सर्व अङ्ग (योग और अपवर्ग के साधन) बन जाते हैं, और उसने 'जन्म ग्रहण किया ऐसा कहा जाता है'[1]"

१—शुक्र और आर्तवका संयोग होने पर जब उसमें पुरुष (जीवात्मा) का प्रवेश होता है, वे उस समय भी गर्भ की वृद्धि में आकाशादि महाभूतों का इसी क्रम से उपयोग होता है ; देखिये—च.शा. ४।८। ऊपर यह सूत्र अंशतः उद्धृत किया है।

आधुनिक विज्ञान-मत से मूल तत्त्व एक है—

संहिताओं के मूल वचनों का अर्थ देकर अब इस विषय में कुछ विचार किया जाता है। संहितानुसारी अन्य वक्तव्य प्रकरणानुसार आगे आवेगा।

आधुनिक वैज्ञानिकों का अब तक मत था कि, सृष्टि के संपूर्ण द्रव्यों की रचना ९० के लगभग मूलतत्वों से हुई है। पर यह सिद्धान्त अब पहले के समान दृढ़ नहीं रहा है। वैज्ञानिक लोग अब मानने लगे हैं कि, ये मूलतत्व भी यथार्थतः मूलतत्व नहीं हैं; अन्ततोगत्वा ये भी इलेक्ट्रन-नामक अति सूक्ष्म विद्युत्कणिका-ओंसे बने हैं। देखा गया है कि, अब तक मूलतत्व समझे जानेवाले कुछ द्रव्य अन्य कुछ मूलतत्वोंमें से इन कणिकाओं के अंशतः निकल जाने से बने हैं। शीशे जैसा प्रसिद्ध मूलतत्व भी इसी प्रकार अन्य तत्वोंसे बनता है। सम्पूर्ण तत्वों की इस प्रकार उत्पत्ति अब तक प्रत्यक्ष देखने में नहीं आयी है, तथापि अन्य प्रमाणों से उनके विषय में भी यही सिद्धान्त स्थिर कर लिया गया है। प्रत्येक मूलतत्व की 'विद्युत्कणिकाओं की गणना भी की गयी है। इस प्रकार कमसे कम संख्या की दृष्टि से तो भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान एक कक्षा में आ गये हैं— भारतीय दर्शन एक प्रकृति से ही सृष्टि के यावत् द्रव्यों की उत्पत्ति मानता है, और अब आधुनिक विज्ञान भी एक विद्युत्कणिका से ही समस्त मूलतत्वों तथा उनके द्वारा समस्त

द्रव्यों की उत्पत्ति मानता है। प्रकृति और विद्युत्कणिका स्वरूपतः समान हैं या नहीं, इस बातका निर्णय भविष्य करेगा।

प्रलयावस्था में सत्व-रज-तम तीनों समावस्था में होते हैं, जिससे किसी गुण की क्रिया प्रकट नहीं हो पाती—अपने विरोधी सम शक्तिवाले गुण के प्रभाव से दबी रहती है। प्रलयकाल समाप्त होने पर, जीवों के अदृष्ट (शुभाशुभ कर्म) के बल से तीनों गुणों में विषमता आती है, जिससे उनकी ज्ञान आदि क्रियाएँ व्यक्त होती हैं और नाना नामरूपात्मक असंख्य चेतन-अचेतन द्रव्यों की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। उत्पत्ति क्रम-में सबसे प्रथम बुद्धि या बुद्धि तत्व उत्पन्न होता है। इसे ही 'महान' या 'महत्तत्त्व' भी कहते हैं। अन्य शास्त्रों में इसी को 'ब्रह्मा' कहा है[१]।

बुद्धितत्त्व और आधुनिक विज्ञान

दर्शन तथा आयुर्वेद दोनों में बुद्धि शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ज्ञान

१—देखिये—हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः। महानिति च योगेषु विरिंचिरिति चाप्यजः॥ महानात्मा मतिर्विष्णुः जिष्णुः शंभुश्च वीर्यवान्। बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः। पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते॥ (अनुगीता, अ. २६)। मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुरं चोच्यते बुधैः। (वायुपुराण अ. ४)।

है[१]। परन्तु यहां यह अर्थ कुछ विशेष रूप से आया है। पुरुष (आत्मा) के ज्ञान-कर्म तथा उनके फल-रूप भोग और अपवर्ग (सांसारिक सुख-दुःखादि और मोक्ष) जिन साधनों की सहायता से होते हैं, उन्हें करण कहा जाता है। ये करण दो प्रकार के हैं—बाह्यकरण तथा अन्तःकरण। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को बाह्यकरण कहते हैं। अन्तःकरण के तीन भेद हैं—मन, बुद्धि और अहंकार। कोई-कोई आचार्य्य चित्तनामक चौथा अन्तःकरण भी मानते हैं। इनमें बुद्धि का कार्य 'अध्यवसाय' अथवा निश्चय करना है—अर्थात् मन के द्वारा विषयों का ज्ञान प्राप्त करके पुरुष जो निश्चय करता है कि अब यह बोलना चाहिये (यह नहीं), तथा यह करना चाहिये (यह नहीं), इत्यादि प्रकार का निश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। इस विषय का विस्तार आगे मन के प्रकरण में आएगा।

चेतन-द्रव्यों अर्थात् स्थावर-जङ्गम प्राणियों के यावत् कर्मों के सम्पादन के लिये ऊपर कहे दोनों प्रकार के करणों और तदन्तर्गत बुद्धि की कितनी आवश्यकता है, यह सरलता से समझा जा सकता है। परन्तु अचेतन द्रव्यों की भी उत्पत्ति और वृद्धि के लिये बुद्धि अनिवार्य्य है। गत अध्याय में हम देख आये हैं कि लघुता-गुरुता, प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति, आदि प्रकृतिजन्य धर्म जिस प्रकार चेतन द्रव्योंमें होते हैं, उसी प्रकार अचेतन द्रव्यों में भी

१—देखिये—बुद्धिर्ज्ञानमिति अनर्थान्तरम् (सांख्य सूत्र)। इस विषय के आयुर्वेदीय प्रमाणवचन आगे ज्ञान के प्रकरण में आयेंगे।

रहते हैं। इन धर्मों के समान ही बुद्धि एवं उससे उत्पन्न होनेवाला अहंकार भी प्रकृतिजन्य होते हैं, तथा चेतन-अचेतन दोनों में समान रूप से विद्यमान होते हैं। यह भारतीय दर्शन का मन्तव्य है।

द्रव्यों की उत्पत्ति उनके मूल द्रव्यों या करण द्रव्यों के अवयवों के संयोग-विभाग से होती है। उनमें भी संयोग प्रधान है। आधुनिक विज्ञान कहता है कि यह संयोग दो प्रकार का है। एक संयोग का नाम रासायनिक संयोग है। इस संयोग के अनुसार दो या अधिक द्रव्यों के परमाणुओं के मिलने से जो नया द्रव्य उत्पन्न होता है, उसके गुण-धर्म अपने करण-द्रव्यों के गुण-धर्मों से भिन्न होते हैं। सृष्टि के सभी तत्त्वों के परमाणुओं में इस प्रकार का संयोग होना संभव नहीं। किन्तु अमुक तत्त्व का अमुक तत्त्व या तत्त्वों के प्रति सहज स्वाभाविक (प्राकृतिक) आकर्षण हो, तभी उनके परमाणु परस्पर संयुक्त हो कर अपूर्व-नवीन गुणधर्मों वाले नये द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। इस परस्पर आकर्षण का 'रासायनिक प्रीति'[1] नाम दिया गया है[2]।

१—Affinity—केमिकल एफिनिटी। २—आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य्य ने अपने 'द्रव्य गुण विज्ञान' में लिखा है कि रासायनिक प्रीति से संयुक्त द्रव्यों को आयुर्वेद में 'विकृति विषम समवेत' कहा गया है, तथा इस प्रीति के लिए 'विकृति विषम समवाय' शब्द का व्यवहार किया गया है। इसके विपरीत 'भौतिक मिश्रण' के लिए 'प्रकृति सम समवेत' तथा उसके कारणभूत संयोग के लिए 'प्रकृति सम समवाय' शब्द आयुर्वेद में आया है।

देखिये पूर्वार्द्ध, पृ० १९४

दूसरे संयोग के अनुसार जब द्रव्य संयुक्त होते हैं, तब नये द्रव्य के गुण-धर्म अपने कारण-द्रव्यों के गुण-धर्म से भिन्न नहीं होते, किन्तु संयुक्त द्रव्य में उनके गुण-धर्म पृथक्-पृथक् विद्यमान रहते हैं। इस संयोग को 'भौतिक मिश्रण' कहते हैं। यह संयोग भी द्रव्यों के दो विशेष गुणों के कारण होता है। इन गुणों को 'संसक्ति'[1] तथा 'संलग्नता'[2] कहते हैं। इन गुणों के कारण विजातीय द्रव्यों के संयोग के अतिरिक्त सजातीय द्रव्यों के अणु-परमाणु भी परस्पर संयुक्त रहते हैं। इस विषय का विस्तार विज्ञान के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

अचेतन द्रव्योंके ये तीन गुण वही कार्य करते हैं जो चेतन द्रव्यों में बुद्धि द्वारा किये जाते हैं। बुद्धि द्वारा हम चेतन प्राणी प्रथम यह निश्चय करते हैं कि अमुक वस्तु अथवा कार्य हितकर है या अहितकर; अमुक बात बोलनी चाहिये या नहीं; अमुक कार्य करना चाहिये या नहीं...इत्यादि। इसके पश्चात् यदि वह वस्तु या कार्य हमें योग्य, हितकर और अभीष्ट प्रतीत होता हो तो हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं—उसमें प्रवृत्त होते हैं; परन्तु यदि वह वस्तु या कार्य हमारी बुद्धि की दृष्टि में हितकर, योग्य या अभीष्ट न जँचे तो हम उससे निवृत्त या पराङ्मुख होने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार जिन वस्तुओं या कार्यों में हमारी प्रवृत्ति होती है, उनसे हमारा संयोग होता है तथा विपरीत वस्तुओं अथवा कार्यों से हमारा वियोग होता है। अन्य शब्दों में कहना

१—Cohesion—कोहीशन। २—Adhesion—एढीशन।

हो तो बुद्धिजन्य निश्चय के पश्चात् कुछ वस्तुओं या कार्यों के प्रति हमारी इच्छा, उसके पश्चात् प्रवृत्ति और प्रयत्न तथा उसके पश्चात् उससे संयोग होता है ; इसके विपरीत अनभीष्ट वस्तुओं या कार्यों के प्रति हममें द्वेष (अप्रीति), उसके फलस्वरूप निवृत्ति तथा उसके पश्चात् उस वस्तु या कार्य से वियोग होता है। यह हमारे जीवन का नित्य-क्रम है। अचेतन द्रव्यों में भी परस्पर रासायनिक आकर्षण, संसक्ति और संलग्नता के कारण मूल द्रव्यों के अणु-परमाणुओं अथवा उनके स्थूल अवयवों का परस्पर संयोग होता है तथा नये-नये द्रव्य बनते हैं। प्राणधारियों में, संयोग के अतिरिक्त वियोग या विभाग भी बुद्धि का कार्य (परिणाम) होता है ; जैसा कि ऊपर कह आये हैं, यह द्वेष या निवृत्ति के कारण होता है। वर्तमान विज्ञान अचेतन द्रव्यों में जिस प्रकार संयोग में उपयोगी प्रीति आदि गुणों का अस्तित्व स्वीकार करता है, उस प्रकार उनके वियोग या विभाग में उपयोगी द्वेष आदि गुणों को नहीं मानता। भारतीय दर्शन और तद-नुसारी आयुर्वेद का मन्तव्य है कि जिस प्रकार इच्छा-द्वेषात्मक बुद्धि और तज्जन्य संयोग-विभाग चेतन द्रव्यों में होते हैं, उसी प्रकार अचेतन द्रव्यों में भी इच्छा और द्वेष—बुद्धि के ये दोनों गुण होते हैं तथा तदनुसार उनमें प्रवृत्ति-निवृत्ति और संयोग-विभाग होते हैं। अस्तु।

चेतनों में बुद्धि के विशेष उत्कर्ष का कारण

यह बुद्धि प्रकृति का कार्य है—प्रकृति से उत्पन्न होती है। चेतन

प्राणियों में यह पुरुष (जीवात्मा) के संग (सान्निध्य-सम्पर्क) से चैतन्य को प्राप्त होती है। इसमें सत्त्वगुण विशेष होता है। देखिये—

महानिति बुद्धि तत्त्वं, तत्तु सत्त्वसमुद्रे कान्निर्मलस्फटिकोपलप्रख्यं चिच्छायासंक्रान्ति प्राप्त चैतन्यं पुरुषवन्नानात्मक[1] मध्यवसेय विषयं निश्चतार्थ कारणमित्यर्थः ॥ सु० शा० १।४ पर—डल्हन[2]

श्री बालगंगाधर तिलक ने तो गीतारहस्य में लिखा है कि अब तो पाश्चात्य विद्वान मानने लग गये हैं कि अचेतन परमाणुओं में आन्दोलन के लिये इच्छा, द्वेषात्मक बुद्धि वैसी ही होती है, जैसी चेतन प्राणियों में।

प्रतीत होता है कि आगे प्रकृति के सूक्ष्म अणु-परमाणुओं के संयोग-विभाग से नये-नये चेतनाचेतन द्रव्यों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक जो बुद्धि उत्पन्न हुई, उससे समस्त प्रकृति के भावित (व्याप्त) होने के कारण सारी प्रकृति को ही इस अवस्था में बुद्धि या बुद्धितत्त्व नाम दिया गया है[3]। बुद्धि के विषय में इतना

१—बुद्धि सात्त्विक आदि भेदों से अनेक प्रकार की होती है। उसके लक्षण आगे अन्तःकरण के प्रकरण में देखेंगे।

२—यही बात सांख्यकारिका की २३ वीं कारिका की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने निम्न शब्दों में कही है—"सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य मत्त्वाऽहंमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तत इति लोक प्रसिद्धं, तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसंनिधानादापन्न चैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापारः।

३–स्मरण रहे, बुद्धि का वास्तविक अर्थ निश्चय (अध्यवसाय,व्यवसाय) है।

विवेचन कर अब हम उससे उत्पन्न अगले द्रव्य अहंकार का विचार करेंगे।

ऊपर दिये गये सुश्रुत-व्याख्याकार डह्लन के वचन से तथा नीचे स्वतन्त्र टिप्पणि में उद्धृत सांख्यकारिका के व्याख्याकार सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र के वचन से विदित होगा कि, बुद्धि अथवा बुद्धि का कारणभूत अन्तःकरण-विशेष स्वयं जड़ है। जड़ और चेतन दोनों में एक ही जड़ बुद्धि होती है। परन्तु दोनों की बुद्धियों में कुछ भिन्नता होती है। चेतन द्रव्यों की विशेषता यह है कि, उनमें आत्मा (पुरुष) के संग से इन्द्रिय, मन, आदि पाञ्चभौतिक अवयवों के कार्य में कुछ विशिष्टता आ जाती है, जो मिट्टी-पाषाण आदि पाञ्चभौतिक जड़ द्रव्यों में नहीं होती।

पिछले अध्याय में हम देख आये हैं कि, सत्त्व-रज-तम के लघुता-गुरुता आदि कर्मों का स्वरूप भी जड़ और चेतन में कुछ भिन्न-सा होता है। इस भिन्नता का कारण भी चेतनों में आत्मा की विद्यमानता तथा जड़ द्रव्यों में उसका विद्यमान न होना ही है।

यह बुद्धि जिसमें होती है, उस अन्तःकरण-विशेष को भी 'बुद्धि' ही नाम दिया गया है। इसमें क्रिया और क्रियावान् का अभेद माना गया है। "अध्यवसायो बुद्धिः" सांख्यकारिका (२३) में दिये बुद्धि के इस लक्षण पर वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—'अध्यवसायो बुद्धिः' क्रियाक्रिया-वतोरभेदविवक्षया × × × सोऽध्यवसायो बुद्धेर्व्यापारः, तदभेदा बुद्धिः। इस उद्धरण का परित्यक्त अंश ऊपर टिप्पणि में दिया जा चुका है।

अहंकार का स्वरूप समझने में भी इस बात को स्मरण रखना चाहिये।

प्रयोजनवाद और बुद्धि तत्त्व

चराचर मात्र में बुद्धितत्त्व की व्यापकता की कुछ अंश तक व्याख्या आधुनिक प्रयोजनवाद[१] के सहारे की जा सकती है। यह आधुनिक मनोविज्ञान का लगभग सर्वसम्मतवाद है, जिसके प्रवर्तक मनोवैज्ञानिक-शिरोमणि श्री मैग्डूगल[२] हैं। इस वाद का आशय यह है कि प्राणी के कार्य यान्त्रिक नहीं हैं—जड़यन्त्र के साथ उनकी तुलना करके हम उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकते। प्राणिमात्र के किसी भी कार्य को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उसकी प्रवृत्ति किसी न किसी प्रयोजन या उद्देश्य से होती है। कोई अज्ञात शक्ति उसको जैसे तत्-तत् काय करने की प्रेरणा दे रही होती है। पुरुष-भिन्न प्राणियों में भी यह सप्रयोजनता देखी जाती है। जैसे एक मक्खी ऐसी होती है जो अपने शिकार को मारती नहीं, किन्तु केवल मूर्च्छित कर देती है और इसी दशा में अपने बच्चों को खिलाने के लिए ले आती है। शिकार को न मारने का प्रयोजन यह है कि यदि वह उसे मार दे तो बच्चे शिकार के ताजे रक्त से वञ्चित रह जायँ।

१—Purposivism — पर्पसिविज्म ; Motivism—मोटिविज्म या Hormic psychology—हार्मिक साइकालॉजी। हार्म का अर्थ सप्रयोजन क्रिया होता है।

२—Mc·Dougall

संभव है और यह सत्य भी है कि मक्खी के मन में साद्यन्त योजना न हो, तथापि उसको क्रिया एक प्रयोजन-विशेष को दृष्टिगत रख कर होती है। यही स्थिति सब प्राणिमात्र की यावत् क्रियाओं में देखी जाती है। इस विषय का चमत्कारपूर्ण विवरण जानने की जिन्हें इच्छा हो, उन्हें जीव-विद्या के विभिन्न ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये। मधुमक्खियों की राजकीय और कौटुम्बिक व्यवस्था, दीमकों की विविध भाँति की पटुता एवं अन्य ज्ञात-अज्ञात पशु-पक्षियों की जीवन-लीला किसी भी मानव-इतिहास से कम कौतुकप्रद नहीं हैं।

प्रयोजनवादियों का कथन है कि यह सप्रयोजन क्रियाशीलता प्राणिमात्र में होती है, पर उच्च प्राणियों में ही अभिव्यक्त होती है, यह बात सत्य है। परन्तु इससे भी आगे बढ़ कर विचारने की बात है कि वृक्ष-वनस्पतियों में भी तो प्राणियों के समान ही, परन्तु प्रायः इन्द्रियातीत रूप में, सब प्रकार के ज्ञान और चेष्टाएँ होती हैं। उद्भिज्ज शास्त्र के सूक्ष्म यन्त्रों ने इन सूक्ष्म क्रियाओं को भी प्रत्यक्ष कर दिया है। यहाँ तक कहा गया है कि वृक्ष मनुष्य के समान ही प्रार्थना भी करते हैं। ऐसी स्थिति में क्या इनमें भी सप्रयोजन क्रिया-शीलता को स्थान नहीं दिया जाना चाहिये? मैं समझता हूं, इस विषय में विशेष विवाद की आवश्यकता नहीं। परन्तु—

क्या सर्वथा जड़ पदार्थों में जो विभिन्न चेष्टायें देखी जाती हैं, वे निष्प्रयोजन हैं। परमाणुओं की विद्युत्कणिकाओं की गति से

लेकर विशाल सौर ब्रह्माण्ड पर्यन्त पदार्थों में जो असंख्य प्रकार की अविराम चेष्टाएँ देखी जाती हैं, क्या वे एक निश्चित प्रयोजन को लक्ष्य में रख कर नहीं होतीं ? अवश्य ही उनका भी एक ध्येय है—प्रयोजन है—उद्देश्य है ।

इस विवेचन से सिद्ध है कि न केवल प्राणियों में, किन्तु स्थावरों में, यहाँ तक कि जड़ पदार्थों में भी प्रयोजन सहित ही विभिन्न क्रियाएँ देखी जाती हैं। पर वास्तविक प्रश्न अब उपस्थित होता है कि जिस प्रकार उच्च प्राणियों में प्रयोजन इच्छा-द्वेष किंवा बुद्धि के अधीन स्पष्ट रूपसे देखा जाता है, उसी प्रकार निम्न वर्ग के प्राणियों में भी इसी प्रकार की, परन्तु निम्न श्रेणी की, बुद्धि नहीं होती। वर्तमान जीवविद्या विशारद कहते हैं कि निम्न प्राणियों में भी एक सहज शक्ति होती है, जिसकी प्रेरणा से वे उल्लिखित प्रकार के कार्य किया करते हैं। इसे वे 'इंस्टिंक्ट'[१] नाम देते हैं। इसे तमोगुण से आवृत बुद्धि का एक रूप समझा जा सकता है। इसी कल्पना को और आगे बढ़ा कर हम यह भी कह सकते हैं कि प्राणियों की अपेक्षया अधिक तमोगुण से आवृत बुद्धि वृक्ष-वनस्पतियों में होती है, तथा उनसे भी अधिक तमोमय बुद्धि जड़ द्रव्यों में होती है। इसके अधीन उनके विभिन्न क्रियाएँ होती हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन और आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि समस्त द्रव्यों में एक ही बुद्धितत्त्व रम रहा है।

१—Instinct.

प्रसंगवश स्पष्टीकरण के लिए एक बात लिख दें कि—जो विचारक मनुष्यों और अन्य प्राणियों को एक कोटि में रखने की उक्त विचारशृङ्खला से त्रस्त होते हों—जिन्हें यह स्फूर्ति होती हो कि मनुष्य तो उन्नत बुद्धिशाली विचारशील प्राणी है, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य की अधिकांश क्रियाएँ उसकी इच्छा और ज्ञान के बिना कुछ उसी प्रकार होती हैं, जिस प्रकार पशु-पक्षियों में 'इंस्टिंक्ट' की प्रेरणा से होती हैं। श्वास-क्रिया, हृदय का स्पन्दन, पाचन आदि जीवनोपयोगी क्रियाएँ—सब हमारी इच्छा के बिना स्वतन्त्र रूप से होती रहती हैं। इनके सिवाय जो क्रियाएँ इच्छाधीन अवयवों से होती हैं, उनका भी बहुत बड़ा भाग हमारी इच्छाजन्य प्रेरणा के बिना ही होता है। इन क्रियाओं को 'प्रतिसंक्रमित क्रिया'[1] कहते हैं। जिस प्रकार किसी राज्य में तत्काल आवश्यक कर्म स्थानिक अधिकारी ही कर दिया करते हैं, उनकी सूचनामात्र केन्द्र में पहुंचा देते हैं, वैसे ही शरीर में अधिकांश क्रियाएँ सुषुम्नागत 'नाड़ी संस्थान' और 'अन्तः-स्रावीग्रन्थि' रूपी स्थानिक अधिकारी ही किया करते हैं और करने के बाद उनकी सूचना इच्छा और ज्ञान के केन्द्र मस्तिष्क में पहुंचा देते हैं। संक्षेप में यह 'प्रतिसंक्रमित क्रिया' का स्वरूप है। विशेष गुरुमुख से जानना चाहिये। इस प्रकार मनुष्यों में भी अधिकांश क्रियाएँ इच्छा-विरहित होने से उनमें भी बुद्धि पशुओं की अपेक्षया अत्यन्त विशेष और व्यक्त प्रमाण में होती है, यह मानने का कोई

१—Reflex action— रिफ्लेक्स एक्शन।

कारण नहीं। हाँ, जो पुरुषोत्तम सत्त्वगुण के अ... विशेष बुद्धि-सम्पन्न होते हैं उनमें इच्छाधीन क्रिया विशे... और होती है। उनमें इसी कारण प्रयोजन-सहित—किसी उदात्त उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए—क्रियाशीलता विशेषतया देखी जाती है।

सांख्य-मत से यह बुद्धितत्त्व आत्मा के संयोग से प्रकृति में आता है। प्राचीन काल में सांख्यों का एक सम्प्रदाय था, जो मानता था कि मूलतत्त्व कुल चौबीस हैं। प्रकृति और पुरुष—ये पृथक् तत्त्व नहीं, किन्तु 'अव्यक्त' नामका एक ही तत्त्व है। सांख्यों के दूसरे सम्प्रदाय ने 'अव्यक्त' शब्द के दो अर्थ करके प्रकृति और पुरुष—ये पृथक् तत्त्व स्वीकार किये हैं[1]। इस प्रकार सांख्यों के प्रथम सम्प्रदाय के मत से तो पुरुष और प्रकृति एक होने से प्रकृतिजात द्रव्यमात्र में बुद्धितत्त्व की विद्यमानता और भी सुलभ हो जाती है। वेदान्त में तो सारे द्रव्य ब्रह्म से उत्पन्न होने से उनमें ब्रह्म के चिन्मय (ज्ञानमय) स्वरूप का प्रतिविम्ब पड़ना और भी स्वाभाविक है। आशय यह है कि इन तथा अन्य सब भारतीय दर्शनों के मत से द्रव्यमात्र में बुद्धितत्त्व ओत-प्रोत है। एवं उनकी प्रयोजनयुक्त क्रियाशीलता और उनके प्रयोजनयुक्त गुणधर्मों का कारण है। अस्तु।

१—कहा जाता है कि चरक इसी सम्प्रदाय का अनुयायी है। उसमें (च० शा० १।३५ आदि में) तत्त्व चौबीस ही गिनाये हैं। च० शा० १।६०-६९ आदि में 'अव्यक्त' शब्द से एक और अभिन्न तत्त्व का ही ग्रहण किया गया है। इस विषय का विशेष प्रतिपादन कविराज ज्योतिषचन्द्र-सरस्वती ने अपनी 'चरक-प्रदीपिका' टीका में किया है।

प्रसंगवश नवीन विज्ञान—

"यह वस्तु मेरी है, यह कार्य मैंने किया है, मैं यह कर सकता हूँ," इत्यादि रूपों में जो 'मैं' का भाव पुरुषों में पाया जाता है, उसे अहङ्कार या अभिमान कहते हैं। अन्तःकरण का जो भेद यह क्रिया करता है, उसे भी (क्रिया और क्रियावान् में अभेद मान कर) अहङ्कार कहा जाता है। (अहङ्कार का सामान्यतया प्रचलित अर्थ है अपनी शक्ति और योग्यता के विषय में अति विश्वास और उसके साथ दूसरों की शक्ति और योग्यता को न्यून मानने तथा उन्हें तिरस्कार की दृष्टिसे देखने का भाव। इसे घमण्ड भी कहते हैं।)

शास्त्र में अहंकार का प्रथम अर्थ लिया जाता है, परन्तु उसमें भी इतनी विशेषता जाननी चाहिये कि दार्शनिक मत से जिस प्रकार मनुष्य आदि चेतन प्राणियों में अहंकार होता है, वैसे ही मिट्टी-पाषाण आदि अचेतन द्रव्यों में भी वह होता है। अहंकार का अति उत्कर्ष या आधिक्य होने पर मनुष्य की वृत्ति इस प्रकार की होती है कि वह किसी भी हालत में अपने विचार, वचन, हठ, प्रतिज्ञा या लिये हुए काम को छोड़ना नहीं चाहता ; भले ही कमर टूट जाय, पर झुकना नहीं—अपि भज्येत न नमेत। अचेतन द्रव्यों में भी यह विशेषता होती है। जब तक उनका नाश न हो जाय वे अपने आकार, आकृति, स्थिति स्थापकता, गुरुत्व, द्रवत्व, आदि गुण-धर्मों को छोड़ते नहीं। यही बात द्रव्यों के बनाने वाले मूल तत्त्वों तथा उनके अणु-परमाणुओं के

विषय में है। वे हर हालत में अपनी वर्तमान अवस्था और अपने गुण-धर्मों से चिपटे रहने का जानो प्रयत्न करते हैं। द्रव्यों और उनके परमाणुओं की यह विशेषता उनके अन्दर विद्यमान अहंकार के कारण होती है। इस अहंकार के कारण परमाणुओं में कितनी शक्ति अन्तर्हित होती है, यह परमाणुओं के विच्छेद के सफल प्रयत्नों को देख कर जाना जा सकता है। इस अहंकार के कारण ही द्रव्यों में एक और विशेषता यह होती है कि उन्हें लक्ष्य करके-उनके प्रति-कोई क्रिया की जाय तो उतने ही जोर से वे उसके प्रति क्रिया करते हैं। यह न्यूटन के तीन प्रसिद्ध नियमों में एक नियम है। प्रतिरोध, अविनाश्यता, अभेद्यता, जड़ता, स्थिति स्थापकता, दृढ़ता, कठिनता, आदि अहंकार के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। सृष्टि के चेतन-अचेतन द्रव्य पृथक-पृथक उत्पन्न होने के क्रम में, बुद्धि के पश्चात् आवश्यक उल्लिखित अहंकार-नामक धर्म उत्पन्न हुआ। उसके कारण, उससे भावित समस्त प्रकृति को ही अहंकार नाम दे दिया गया। इस अहंकार के कारण ही द्रव्यों के असंख्य भेद और उनके अगणित गुण-धर्म होते हैं।

प्रकृति के अणु-परमाणुओं के संयोग-विभाग से चेतन-अचेतन द्रव्यों के निर्माण के लिए प्रथम आवश्यक बुद्धि और अहंकार की उत्पत्ति के पश्चात् चेतन और अचेतन उभयविध द्रव्यों की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। इस उद्देश्य से एक ओर पञ्च ानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक उभयेन्द्रिय मन की

उत्पत्ति होती है ; और दूसरी ओर अचेतन द्रव्यों के आरम्भक (निर्माणकारी-घटक) महाभूतों के सूक्ष्म रूप पाँच तन्मात्रों का प्रादुर्भाव होता है ।

इन्द्रिय शब्द से सामान्यत: आँखों से दिखाई देनेवाले नेत्र, कर्ण, आदि स्थूल अवयवों का ग्रहण होता है । परन्तु यहाँ इन्द्रिय शब्द का यह अर्थ नहीं है । लोक-व्यवहार में जिन अवयवों को इन्द्रिय कहा जाता है, वे वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं । वास्तविक इन्द्रियाँ अति सूक्ष्म, इन्द्रियागोचर (इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने वाली) और केवल अनुमानगम्य (अनुमान से ज्ञात होने वाली) हैं । हम सामान्यत: जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वे इन वास्तविक इन्द्रियों के आश्रय (अधिष्ठान) हैं—उसी प्रकार जैसे कि समस्त शरीर आत्मा का आश्रय है ।

ऊपर कहा गया है कि, प्रलय के पश्चात् बुद्धि, अहंकार, आदि क्रम से चौवीस तत्त्व बनने के पश्चात् कहा जाता है कि "पुरुष के सम्पूर्ण अङ्ग बन गये, और वह उत्पन्न हुआ ।" इसका आशय यह है कि, प्रलय के पश्चात् प्रत्येक जीवात्मा के उपयोग के लिए इन तत्त्वों से पृथक-पृथक सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है । पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच तन्मात्र, पाँच प्राण, (प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान) मन और बुद्धि-इन सत्रहों के समुदाय से यह सूक्ष्म शरीर बनता है । यही सत्रह प्रत्येक जीव के पृथक-पृथक अङ्ग हैं । इन्ही अङ्गों के साथ वह गर्भाशय में प्रवेश करता है, तथा मृत्यु के समय इन्हीं के साथ स्थूल शरीर को छोड़ता है । ये अङ्ग

अथवा यह सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जीव के पास अगले प्रलय तक रहते हैं। यह दृश्यमान शरीर स्थूल शरीर है। प्रत्येक गर्भाधान के क्षण से इसी की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है, तथा मृत्यु के समय यही नष्ट होता है। मृत्यु की दशा में इसमें केवल पाँच महाभूत रह जाते हैं, इसी से इसे 'पञ्चत्व को प्राप्त' कहा जाता है। इन्ही शरीरों को जीव के आवरण रूप होने से 'कोष' भी कहा जाता है। स्थूल शरीर ही अन्नमय कोष है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय–ये तीन कोष ऊपर वर्णित सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत हैं। उक्त दो शरीरों को कार्य शरीर कहा जाता है। इनके अतिरिक्त तीसरा एक कारण शरीर होता है। इसे आनन्दमय कोष कहते हैं। इनका विशेष विचार अप्रासंगिक होने से यहाँ नहीं किया जाता।

इन्द्रियों की उत्पत्ति में मुख्य भाग सात्त्विक अहंकार का होता है। इसी कारण वे अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। राजस अहंकार भी इनके निर्माण में भाग लेता है। तामस अहंकार भी इनमें अंशतः होता है। तथापि सब पुरुषों की इन्द्रियों में इनका परिमाण सम नहीं होता एवं इनकी न्यूनाधिकता से ही पुरुषों के स्वभाव में भेद होता है।

तन्मात्रों[1] की उत्पत्ति तामस अहंकार से होती है। तामस अहंकार को अपने कर्म में प्रवृत्त करने के लिए राजस अहंकार का भी योग होता है। अंशतः सत्त्वगुण भी तन्मात्र के निर्माण में

१—स्मरण रहे, शुद्ध शब्द तन्मात्र है, तन्मात्रा नहीं।

भाग लेता है। तामस अहंकार से तन्मात्र और उनसे पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, इसी कारण तामस अहंकार को भूतादि (भूतों का आदि=मूल) भी कहते हैं। यद्यपि ऊपर कहे अनुसार इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न होती हैं, तथापि आयुर्वेद में द्रव्यमात्र के समान इन्हें भौतिक (पञ्चभूतोत्पन्न) कहा गया है। इसका कारण चिकित्सा-कार्य में उपयोगिता है। यह विषय आगे देखेंगे।

"एतानि च खादीनि सूक्ष्माणि तन्मात्ररूपाणि ज्ञेयानि, स्थूल भूतानि तु खादीनि विकारतया तत्र सांख्यमते उक्तानि। प्रकृतिवर्गे सूक्ष्मरूपास्तन्मात्रा उक्ताः। वचनं हि—"तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च" (सांख्यकारिका ३८) तेनेहापि खादीनि तन्मात्रशब्दोक्तानि सूक्ष्माणि बोद्धव्यानि"

च० शा० १।२९-३० पर–चक्रपाणि

चक्रपाणिदत्त के उल्लिखित वचन से स्पष्ट है कि, वैशेषिक आदि अन्य शास्त्रों में जिन्हें पाँच महाभूतों का सूक्ष्म रूप (परमाणु) कहा जाता है, उन्हें ही सांख्य में पञ्च तन्मात्र कहते हैं। इन तन्मात्रों का एक-एक विशेष गुण होता है। मुख्यतः एक-एक तन्मात्र से एक-एक भूत क्रम से उत्पन्न होता है, परन्तु पिछले-पिछले तन्मात्र भी प्रत्येक तन्मात्र को अपने भूत की उत्पत्ति में साथ देते हैं। परिणामतया, प्रत्येक महाभूत में एक मुख्य तन्मात्र के गुण के अतिरिक्त उससे पूर्व के तन्मात्रों के भी गुण होते हैं और अन्तिम महाभूत पृथ्वी में पाँचों तन्मात्रों के गुण होते हैं।

सो, यह पृथिवी या जल एकमात्र पृथिवी या जल महाभूत नहीं, किन्तु इन महाभूतों की अधिकता वाले पृथक द्रव्य हैं। यही बात प्रत्यक्ष वायु, अग्नि और आकाश के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए। इस बात का एक प्रमाण यह है कि, मधुर आदि रसों की उत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि, पृथिवी और जल के मेल से मधुर रस बनता है, पृथिवी और अग्नि के मेल से अम्ल रस बनता है इत्यादि। रसों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले प्रसिद्ध पृथिवी, जल, आदि द्रव्यों के मेलसे होती है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का मन्तव्य था यह तो कदापि माना नहीं जा सकता। अग्नि के विषय में तो यह भी कहा जा सकता है कि रसों की उत्पत्ति में अथवा द्रव्यमात्र की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष ज्वालामय अग्नि भाग लेता है ऐसी आर्यों की मान्यता है, इस बात पर भी विश्वास नहीं होता। अतः, रसोत्पत्ति के प्रसंग में और इसी प्रकार अन्यत्र आये महाभूत-वाचक पृथ्वी आदि शब्द कदापि मिट्टी, पानी आदि के वाचक नहीं; प्रत्युत इनसे भिन्न और इनके आदि कारणभूत अन्य ही द्रव्यों के वाचक हैं।

प्रश्न यह है कि ये पञ्चभूत आखिर क्या हैं? मैं समझता हूं, वर्तमान विज्ञान के जो ९२ तत्त्व हैं, उन्हीं का पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों के नाम से प्राचीन आचार्यों ने वर्गीकरण किया है। अर्थात्—पृथ्वी आदि नाम एक-एक तत्त्व के नहीं हैं, किन्तु ये पृथ्वी आदि समान गुण-धर्म वाले अनेक तत्त्वों के वर्ग हैं। पृथ्वी आदि महाभूतों में अन्य अनेक गुण होते हुए भी

इनमें प्रत्येक में गन्ध, रस आदि एक-एक गुण विशेष रूप से होता है, यह दर्शन और आयुर्वेद का मन्तव्य है। ये गन्ध, रस, आदि गुण नासिका, जिह्वा आदि एक-एक इन्द्रिय से गृहीत या ज्ञात होते हैं। सो, कदाचित् कहा जा सकता है कि प्रधानतः घ्राणेन्द्रिय से गृहीत होने वाला द्रव्य पार्थिव होगा। प्रधानतः रसनेन्द्रिय से गृहीत होने वाला द्रव्य आप्य (जलीय) होगा.... इत्यादि। एवं, इन पार्थिव आदि द्रव्यों में जो-जो तत्त्व प्रधान रूपसे उपलब्ध हों वे पृथिवी, जल, आदि वर्गों के अन्तर्गत समझे जा सकते हैं। महाभूतों का वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा अन्वेषित मूल तत्त्वों के साथ समन्वय करने के लिए इस दृष्टि से प्रयास होना चाहिए, ऐसा मेरा नम्र मत है।

इस दिशा में पार्थिव आदि द्रव्यों के आयुर्वेदोक्त गुण भी मार्ग-दर्शक हो सकते हैं। वैशेषिक आदि में महाभूतों तथा तत्तत् महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्यों के जो गुण बताये गये हैं, वे भौतिक[1] हैं। परन्तु, आयुर्वेद में कहे गये इनके गुण शरीर पर होने वाली इनकी क्रिया और विक्रिया को देखकर बताये गये हैं[2]।

१—Physical-फिजिकल।

२—इस प्रसंग में यह भी कह देना उचित है कि वर्गीकरण की इसी पद्धति का अनुसरण वात, पित्त और कफ के विषय में भी किया गया है अर्थात् ये वात, पित्त, कफ भी एक-एक द्रव्य के नाम नहीं, किन्तु गुण-धर्म आदि की दृष्टि से समान अनेक-अनेक द्रव्यों के नाम हैं! इस विषय का विस्तार "आयुर्वेदीय क्रिया शारीर" में देखिये।

पांचवें महाभूत आकाश के सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं। संभव है, वह आधुनिकों का ईथर नामक द्रव्य हो। सृष्टि में दिखाई पड़ने वाले अनेक कार्यों की व्याख्या के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस द्रव्य को कल्पना की है, और प्राचीन भारतीयों के आकाश के समान उसे सर्व-व्यापक बताया है। परन्तु आइन्स्टाइन इत्यादि वैज्ञानिकों का कथन है कि शून्य स्थान[1] में ही वे सब विशेषताएं हैं, जो ईथर में मानी जाती हैं। काल्पनिक ईथर के कार्य वास्तव में शून्य स्थान के ही हैं। यह शून्य स्थान या अवकाश ही संभवतः प्राचीन भारतीयों का आकाश हो।

महाभूतों की परिभाषा एक-एक इन्द्रिय से ग्राह्यता

ऊपर मैंने सूचित किया है कि प्रत्येक महाभूत की परिभाषा यह है कि वह अपनी-अपनी इन्द्रिय से गृहीत होता है। चक्रपाणि ने महाभूतों की परिभाषा स्पष्ट शब्दों में यही दी है। देखिये—

यच्छ्रोत्रग्राह्यं तत्सर्वमाकाशं शब्दश्च, यत्स्पर्शेन गृह्यते तत्वसर्वं वायुः स्पर्शश्चेत्यादि ज्ञेयम् ॥ च० शा० १।३१ पर—चक्रपाणि

"श्रोत्रेन्द्रिय से जिसका ज्ञान होता है, वह सब आकाश और शब्द है एवं स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) से जिसका ज्ञान होता है, वह सब वायु और स्पर्श है ; यही परिभाषा अन्य भूतों और दोषों की समझनी चाहिये।" यह वचन महाभूतों का स्वरूप समझने में सहायक हो सकता है।

१—Space—स्पेस।

प्रकृति आदि के नामान्तर

अव्यक्तं महानहंकारः पञ्च तन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः ; शेषाः षोडश विकाराः ॥ सु० शा० १।६

× × तान्मात्राणि चेति चकारः प्रकृतयश्चेत्यत्र संबन्धनीयः। तेन महदादयः सप्त कार्यत्वेन विकृतयोऽपि ॥ —डल्हन

एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥ सु० शा० १।४

खादीनी बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥

च० शा० १।६३-६४

× × खादीनि सूक्ष्मभूतखादीनि तन्मात्रशब्दाभिधेयानि। × × भूतानां स्थावरजङ्गमानां प्रकृतिभूत प्रकृतिः। अत्र चाव्यक्तं प्रकृतिरेव परं, बुद्ध्याद्यास्तु स्वकारण विकृतिरूपा अपि स्वकार्यापेक्षया प्रकृतिरूपा इह प्रकृतित्वेनोक्ताः। यदुक्तम्-"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" (सांख्यकारिका ३) इति। × × पञ्चार्था इति स्थूला आकाशादयः शब्दादिरूपाः गुणगुणिनोर्हि परमार्थतो भेदो नास्त्येवास्मिन्दर्शने।

—चक्रपाणि

इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्त वर्जितम् ।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥ च० शा० १।६५

× × अव्यक्तवर्जितमिति प्रकृत्युदासीनवर्जितम् ॥ —चक्रपाणि

पुरुषधारणाद्धातुः ॥ च० शा० १।३ पर —चक्रपाणि

"अव्यक्त (प्रकृति, प्रधान), महान् (महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व), अहंकार और पाँच तन्मात्र—इन आठ को प्रकृति कहा जाता है। प्रकृति यह अन्वर्थक नाम आदि प्रकृति का ही है, बुद्धि आदि शेष सात पदार्थ प्रकृति आदि अपने-अपने कारण-द्रव्य से उत्पन्न होते हैं, अतः इनके लिए प्रकृति नाम अन्वर्थक नहीं है ; तथापि अपने-अपने कार्य द्रव्य (अपने से उत्पन्न होने वाले द्रव्य) को लक्ष्यमें रखकर इन्हें भी प्रकृति कहा जाता है। इन सात को विकृति भी कहते हैं। महत्तत्त्व आदि से आदि प्रकृति की भिन्नता सूचित करने के लिए आदि प्रकृति को मूल प्रकृति, अव्यक्त (या प्रधान) भी कहते हैं। अव्यक्त आदि आठ सम्पूर्ण भूतों अर्थात् स्थावर-जङ्गमों की प्रकृति (आदि करण) होने से भूत प्रकृति भी कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच महाभूत और मन इन सोलह को विकार कहते हैं। प्रकृति से महाभूत पर्यन्त चौबीस द्रव्यों को तत्त्वचतुर्विंशति कहते हैं। ये २४ तत्त्व क्योंकि आयुर्वेदोक्त पुरुष या आत्मा के धारण अर्थात् निर्माण में भाग लेते हैं, अतः इन्हें 'धातु' भी कहा जाता है। आयुर्वेदोक्त पुरुष का वर्णन आगे (५म अध्याय में) किया जायगा। आत्मा (और मूल प्रकृति ?) के अतिरिक्त शेष द्रव्यों का नाम क्षेत्र है। इस क्षेत्र का ज्ञाता (और भोक्ता) होने से आत्मा को क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है।"

प्रकृति में चैतन्य का कारण आत्मा

तत्र सर्व एवचेतन एष वर्गः पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकरणसंयुक्त-

श्चेतयिता भवति, सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ॥ सु० शा० १।८

×× कार्येण महदादिविकार गणेन, कारणेन मूलप्रकृत्या, संयुक्तः संयोगी। ×× क्षीरादीनित्यादि। यथा क्षीरमज्ञं वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते आदिशब्दाच्च यथैकान्ते कमनीयकामिनीसुरतमहोत्सवे तत्सुखातिशयोत्पादनार्थमज्ञं रेतः प्रवर्तते, तद्वदित्यर्थः ॥ डल्हन

"प्रकृति तथा उससे बने हुए महाभूत पर्यन्त चौवीस तत्त्व स्वयं अचेतन हैं। (उनके अणु-परमाणुओं में संयोग-विभाग आदि चैतन्य-साध्य क्रियाएँ स्वयं नहीं हो सकतीं)। पुरुष (आत्मा) के संग (विद्यमानता) से उनमें चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। उक्त चौवीस तत्त्वों में सृष्टि के निर्माण रूप प्रवृत्ति का कारण पुरुषों को (माया की दुःखान्तता दिखला कर अन्त को) मोक्ष दिलाना है। इस प्रकार चेतन के संग या सांनिध्य से चेतन के उपकार के हेतु अचेतनों में प्रवृत्ति स्थूल जगत् में भी देखी जाती है—यथा, बछड़े की वृद्धि के लिए माता के स्तन से जड़ भी दूध का स्राव होता है, अथवा, सम्भोग के अन्त में स्त्री-पुरुष के सुखार्थ अचेतन भी शुक्र का स्राव हुआ करता है।"

इस प्रकार सांख्य मत से पुरुष के संग से प्रकृति में क्षोभ होता है और उसके कारण बुद्धि आदि के क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। एवम्, सांख्य मत से सृष्टि के मूलद्रव्य दो हैं—प्रकृति और पुरुष। इनमें प्रकृति का वर्णन करके उसके पश्चात् पुरुषका वर्णन क्रम-प्राप्त है। परन्तु, पुरुष अथवा आत्मा, द्रव्यों

के अन्तर्गत होने से, उसका वर्णन अन्य द्रव्यों के साथ ही किया जायगा।

चेतन-अचेतन भेद से द्रव्यभेद

तद् (द्रव्यं) चेतनावदचेतनं च ॥ च० सू० २६।१०

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ च० सू० १।४८

यद्यपि चात्मैव चेतनो न शरीरं, नापि मनः, यदुक्तं—'चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते' (च० शा० १।७६) इति, तथापि सलिलौष्ण्यवत् संयुक्तसमवायेन शरीराद्यपि चेतनम् । इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रिय संयोगे सति ज्ञानशालित्वं, न केवलस्यात्मनश्चेतनत्वं ; यदुक्तं—'आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानंत्वस्य प्रवर्तते'[1] (च० शा० १।५४) इति। अत्र सेन्द्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वं बोद्धव्यं ; तथाहि × × × ॥

—चक्रपाणि

उक्त सृष्टि-क्रमानुसार इन्द्रियों के उत्पन्न होने पर द्रव्यों के दो भेद हो जाते हैं—"चेतन और अचेतन। जिनमें इन्द्रियाँ हों, उन्हें चेतन कहते हैं, तथा जिनमें इन्द्रियाँ न हों, उन्हें अचेतन कहा जाता है। यद्यपि वास्तव में तो आत्मा चेतन है, न शरीर, न मन और न इन्द्रियाँ ; तथापि आत्मा के सङ्ग के कारण शरीरादि भी चेतन कहे जाते हैं। सत्य तो यह है कि स्वयं आत्मा की चेतनता इन्द्रियादि के संयोग से ही (अभिव्यक्त) होती है। वनस्पतियाँ भी इन्द्रिययुक्त होने से चेतन हैं।"

१—आगे चक्रपाणि ने दृष्टान्त और प्रमाण द्वारा वृक्षों में चैतन्य की सिद्धि की है। विस्तारभय से वह भाग यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।

चौथा अध्याय

पाँच महाभूत

अथातो महाभूतविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अब तक हमने सृष्टि की आदिकारणभूत प्रकृति और उससे बुद्धि आदि क्रम से उत्पन्न होने वाले द्रव्यों का उनके लक्षण आदि सहित सांख्य मत से वर्णन किया है। अब अवसर है कि शेष रहे महाभूतों के विषय में आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का विचार किया जाय। पृथिवी आदि महाभूत 'द्रव्यों' के अन्तर्गत हैं; और ये द्रव्य छः (वैशेषिक मत से सात) पदार्थों में प्रथम हैं। अतः प्रस्तुत अध्याय में महाभूतों का वर्णन करके आगे अन्य द्रव्यों और उनके पश्चात् गुण आदि पदार्थों का क्रमशः वर्णन किया जायगा।

पहले कहा जा चुका है कि वैदिक या हिन्दू धर्म की प्रचलित मान्यता के अनुसार पाँच महाभूतों से ही पिण्ड और ब्रह्माण्ड के समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। त्रिगुण, प्रकृति, बुद्धि आदि सूक्ष्म द्रव्यों की चर्चा साधारण पुरुषों के लिए क्लिष्ट होने से उनके लिए महाभूतों से सृष्ट्युत्पत्ति का सिद्धान्त ही आचार्यों ने स्थिर किया है। आयुर्वेद में भी व्यवहारार्थ इसी दृष्टि से महाभूतों से ही शरीर के विभिन्न अवयवों और बाह्य द्रव्यों की

उत्पत्ति मानी गयी है। इस सिद्धान्त को भी और सुबोध बनाने के लिए आचार्यों ने यह पद्धति निर्धारित की है कि—यद्यपि सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार किया गया है कि समस्त द्रव्यों की उत्पत्ति महाभूतों से होती है, परन्तु दोष-धातु-मल-विज्ञान में दोषों, धातुओं और मलों का वर्णन उनके गुण-कर्मों के निर्देश के रूप में ही किया है ; निघण्टु-भाग में भी द्रव्यों के गुण-कर्मों का ही उल्लेख किया गया है। ये गुण-कर्म यद्यपि शरीरावयवों और बाह्य द्रव्यों की पाञ्चभौतिक रचना के कारण ही होते हैं, तथापि प्रत्येक अवयव (दोष-धातु-मल) अथवा प्रत्येक द्रव्य का वर्णन करते हुए उनकी भौतिक रचना का नहीं किया जाता।

इस प्रसंग में यह कहना योग्य प्रतीत होता है कि यद्यपि आयुर्वेद में मन को भी भौतिक ही माना गया है, तथापि उसके सूक्ष्म होने से उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों का निर्देश किया जाता है। इस दृष्टि से मन के सात्त्विकादि भेदों का उल्लेख आगे यथावसर किया जायगा।

द्रव्यमात्र की पाञ्चभौतिकता

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥
तस्योपयोगोऽभिहित-श्चिकित्सां प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥

यतोऽभिहितं 'तत्संभवद्द्रव्यसमूहो भूतादि रुक्तः' (सु० सू० १।३८); भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ॥ सु०शा० १।१२-१४

× × × तन्मयानीति अवकाशचलोष्णद्रवखरस्वभावादिधर्मविशेषाक्रान्तप्रकृतिपरिणाममयानि ; भूतान्याकाशादीनि ; तद्‌गुणान्येवेति सत्वरजस्तमोगुणान्येवेत्यर्थः, सत्वबहुलमाकाशमित्याद्युक्तत्वात् । × × व्यजन्यत विविधो जनितः । भूतानांपृथिव्यादीनां पुनर्लक्षणं स्थिरगुरुकठिनत्वमित्यादि, तल्लक्षणश्च स्थावरजङ्गमात्मको भूतग्रामः । तस्य पंचमहाभूतारब्धस्य भूतग्रामस्य परस्परोपकार्योपकारकत्वेन व्यवस्थितस्य । × × तेभ्यः पञ्चमहाभूतारब्धभूतग्रामेभ्यः परं चिकित्सिते चिन्ता नास्ति । तदुक्त माद्येऽध्याये,—"तत्रास्मिन् पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ; तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं, कस्मात् ? लोकद्वैविध्यात् , लोको हि द्विविधः — स्थावरो जङ्गमश्च, तस्मिन् पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्" (सु० सू० १।२२) इति । तेन पञ्चमहाभूतारब्धस्यैव भूतग्रामस्य चिकित्सोपकरणत्वम् । अतो भूतेभ्यः परं यदव्यक्तादि तत्र चिन्ताऽपि नास्ति । × × × । तस्य पुरुषस्य संभवद्द्रव्याणि शुक्रशोणितादीनि तेषां समूहः संयोगविशेषः, भूतादिः भूतं पृथिव्यादिकमादिर्मूलकारणं यस्य स तथा । × × × ॥ —डल्हन

अग्रे तावद्‌द्रव्यभेदमभिप्रेत्य किंचिदभिधास्यामः । सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे ॥ च० सू० २६।१०[1]

१—आगे आयुर्वेद मत से पुरुष की परिभाषा बताते हुए आत्मा और पञ्चभूतों के समुदाय को पुरुष कहा गया है । इस विषय के प्रमाण भी द्रव्यों की पाञ्चभौतिकता के समर्थक हैं ।

× × किंचिदिति आयुर्वेदोपयोगि द्रव्यस्वरूपं न सर्वम्, अप्रसंगदोषादिति भावः। × ×॥ —चक्रपाणि

अस्मिन्नर्थ इत्यस्मिन् प्रकरणे, तेन पाञ्चभौतिकत्वं यद् द्रव्याणां तदायुर्वेद सिद्धान्तः, न तु शास्त्रान्तरस्येत्यर्थः, नैयायिकादिभिः पाञ्चभौतिकत्वादनभ्युपगमात्॥ —शिवराम सेन

"पृथक्-पृथक् गुण-धर्मयुक्त पृथिवी आदि पाँच महाभूत मूल प्रकृति के ही परिणाम या विकार (कार्य) हैं[1]। प्रकृति के अन्य विकारों के समान इन महाभूतों की रचना भी त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त) होती है। (ये तीनों ही गुण प्रत्येक महाभूत में होते हुए भी अमुक-अमुक गुण की अधिकतावश महाभूतों के अपने-अपने विशेष धर्म-गुण और कर्म—होते हैं।) विभिन्न गुण-धर्मों वाले स्थावर-जङ्गम समस्त द्रव्य इन पाँच महाभूतों के ही संयोग से बने हैं। महाभूतों में जो गुरुत्व, स्थिरत्व, चलत्व, उष्णत्व, द्रवत्व आदि गुण होते हैं, वे ही स्थावर-जङ्गम द्रव्यों में भी होते हैं।

"(यद्यपि वस्तुस्थित्या द्रव्य सूक्ष्म प्रकृति से बने हैं, तथापि) आयुर्वेद में चिकित्सा को लक्ष्य में रखकर यह सिद्धान्त स्थिर

१—सांख्य मत से कारण-द्रव्य उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान होता है, (सत्कार्यवाद); उत्पत्ति के पश्चात् भी उसका विनाश नहीं होता—केवल कारण-द्रव्य कार्य द्रव्य के रूप में परिवर्तित (परिणत) हो जाता है। इस मत-भिन्नता के कारण कार्य द्रव्य को सांख्य में परिणाम यह विशेष संज्ञा दी गयी है।

किया गया है कि सब द्रव्य महाभूतों से ही बने हैं। आयुर्वेद में महाभूतों के कारणभूत प्रकृति आदि का विचार नहीं किया जाता, क्योंकि चिकित्सा में उसका कोई उपयोग नहीं। यद्यपि अन्य शास्त्रों में इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न माना है, तथापि आयुर्वेद में इन्हें भी महाभूतों से ही उत्पन्न माना गया है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय भी यद्यपि तन्मात्रों के विशेष गुण हैं, परन्तु आयुर्वेद में इन्हें भी भौतिक अर्थात् अमुक-अमुक महाभूत का ही विशेष गुण माना गया है। 'पुरुष' की विशेष परिभाषा करते हुए भी यही बात कही गयी है—पञ्चमहाभूत और आत्मा—इनके संयोग को पुरुष कहा जाता है।

"पुरुष की उक्त परिभाषा के अनुसार यद्यपि मनुष्य, गज, अश्व तथा वृक्ष-वनस्पति आदि सभी चेतन पुरुष शब्द वाच्य हैं, तथापि समस्त चेतन और अचेतन स्थावर-जङ्गम द्रव्यों में मनुष्य जाति प्रधान है; क्योंकि मनुष्य उपकार्य (उपकार का विषय) है, शेष स्थावर-जङ्गम उसके उपकारक हैं, अतः 'पुरुष' शब्द से आयुर्वेद में मनुष्य का ही ग्रहण होता है। इस पुरुष के सम्पूर्ण अवयव अथवा अन्य शब्दों में कहना हो तो दोष, धातु, उपधातु और मल पञ्चमहाभूतों से ही बने हैं; इनकी स्थिति (समता), क्षय और वृद्धि पाञ्चभौतिक आहार-ओषधि द्रव्यों के यथायोग्य उपयोग से ही होती है। इसी बात का आयुर्वेद में निदान-चिकित्सा में विस्तार से विचार होता है। इसी कारण आयुर्वेद

में पुरुष तथा अन्य चेतन द्रव्यों और तद्भिन्न अचेतन द्रव्यों को पाञ्चभौतिक माना गया है।"

त्रिगुणात्मक भी महाभूतों में तत्-तत् गुण का आधिक्य

तत्र सत्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति ॥ सु० शा० १।२०

×× सत्वबहुलमाकाशं प्रकाशकत्वात्,र जोबहुलो वायुश्चलत्वात्, सत्वरजोबहुलोऽग्निः प्रकाशकत्वाच्चलत्वाच्च, सत्वतमोबहुला आपः स्वच्छत्वात् प्रकाशकत्वाद्गुरुत्वादावरणत्वाच्च, तमोबहुला पृथिवी अत्यन्तावरकत्वात् ॥

—डल्हन

"यद्यपि आकाशादि पाँचों महाभूतों में सत्त्व-रज-तम तीनों गुण होते हैं, तथापि प्रत्येक में एक-दो, एक-दो गुण अधिक होते हैं। यह अधिक गुण ही प्रत्येक महाभूत की अपनी-अपनी विशेषता का, अपने-अपने विशिष्ट गुण-कर्म का कारण होता है।

"आकाश में सत्त्वगुण अधिक होता है, क्योंकि वह प्रकाशक (विषयों का ज्ञान कराने में सहायक) होता है। वायु में रजोगुण की अधिकता होती है, क्योंकि वह चल (चञ्चल एवं चेष्टाओं का कारणभूत) होता है। अग्नि या तेज में सत्त्व और रज का आधिक्य होता है, क्योंकि वह प्रकाशक और चल होता है। जल में सत्त्व और तम की अधिकता होती है, क्योंकि जल स्वच्छ प्रकाशक, गुरु और आवरक होता है। पृथिवी में तमोगुण का बाहुल्य होता है; कारण, वह अत्यन्त आवरक होती है।

चेतन द्रव्यों में महाभूतों से उत्पन्न अवयव तथा कार्य

ऊपर कहा गया है कि पुरुष-शरीर के विभिन्न अवयव पाँच महाभूतों के समुदाय से बने हैं। उनमें भी अमुक-अमुक अवयव में अमुक-अमुक महाभूत की अधिकता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक महाभूत के कारण शरीर में अमुक-अमुक क्रिया होती है। शरीर में किस महाभूत से कौन अवयव उत्पन्न होता है तथा कौन-सा कार्य होता है, इस बात का ज्ञान चिकित्सा-कर्म में आवश्यक होने से नीचे दिया जाता है[1]।

तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति ॥

सु० सू० ४२।५

आत्ममैवात्मेति आत्मैव योनिः, वायुतो वातोत्पत्तिरित्यर्थः ; पित्तमाग्नेयमिति अनलः पितस्य योनिरित्यर्थः ; श्लेष्मा सौम्य इति सोमादुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ डह्लन

× × वायोः कुपिताकुपितस्य शरीरा-शरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिः शरीभ्यो वा भवन्ति······॥ च० सू० १२।८

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः.......॥ च० सू० १२।११

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः......॥ च० सू० १२।१२

वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तं, अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा ॥

अ० सं० सू० २०

१—इस ज्ञान का चिकित्सा में उपयोग कैसे होता है, यह विषय अगले प्रकरण में आयेगा। वैसे कुछ संकेत पहले भी कर आये हैं।

शरीरान्तः संचारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदेन प्राणापानादि संज्ञां लभते ॥ तर्कसंग्रह

भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते ; तथेन्द्रियार्थाः ॥

सु० शा० १।१४

× × तथा चोक्तं पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि—"खं श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्। सलिल-रसने भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्"—इति। इन्द्रियाणामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, ते चायुर्वेदशास्त्रे तथा भौतिका-इत्यर्थः। उक्तं च—"शब्दोवैहायसः, स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः। रूपमाग्नेयमाप्योऽत्ररसो, गन्धस्तु पार्थिवः ॥ —डह्लन

तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेण प्रतीयते ; तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात् तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च ॥ च० सू० ८।१४

× × ×। विभुत्वादिति शक्तत्वात् × × ×॥ —चक्रपाणि

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।
पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥

च० शा० १।२४

××× एकैकाधिकपदेन पञ्चापि पाञ्चभौतिकानि, परं चक्षुषि तेजोऽधिकमित्याद्युक्तं सूचयति। × × येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तत इति यानि बुद्धीन्द्रियाणि तानीमानि पञ्चेति दर्शयति। यद्यपि च सांख्ये आहंकारिकाणीन्द्रियाणि, यदुक्तं—"सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्" (सां० का० २५) इति, तथापि मतभेदाद्भौतिकत्वमिन्द्रियाणांज्ञेयं ; किंवा, औपचारिक-

मेतद्भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम् ; उपचारबीजं च यद्गुणभूयिष्ठं यदिन्द्रियं गृह्णाति, तत्तद्भूयिष्ठमुच्यते ; चक्षुस्तेजो गृह्णाति तेन तैजसमुच्यत इत्यादि ज्ञेयम् ॥ —चक्रपाणि

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्मृतः ॥

सु० शा० १।१५

इन्द्रियाणामिन्द्रियार्थानां च पाञ्चभौतिकस्याऽपि यस्य भूतत्वे यत्र यत्रेन्द्रिये आधिक्यं तेन तेनेन्द्रियेण तस्य तस्यैव गुणाः शब्दादयो गृह्यन्त इति दर्शयितुमाह—इन्द्रियेणेत्यादि × × × ॥ —डल्हन

तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसंतापः, वायुः प्राणः, वियत्सुषिराणि, ब्रह्मान्तरात्मा । मूर्तिः काठिन्यम् ॥ —चक्रपाणि

आन्तरिक्षाः—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च ; वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च ; तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः संतापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च ; आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च ; पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥

सु० शा० १।१९

× × × विविक्तता शारीराणां भावानां सिरास्नाय्वस्थिपेशीप्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः पृथक्त्वम् । × × × सर्वचेष्टासमूहो नमनोन्नमनादि सर्वक्रियासमूहः, कायवाङ्मनःक्रियासमूह इत्यन्ये । स्पन्दनं चलनम् × × रूपं लावण्यम् । × × सन्ताप औष्ण्यम् । × × पक्तिः अग्निकृताऽऽहार परिणतिः । × × तैक्ष्ण्यम् आशुक्रिया । × × सर्वद्रवसमूहः दोषधातुमलेषु

द्रुतिमयद्रव्यनिवहः। × × सर्वमूर्तसमूहः दोषधातुमलेषु यः कश्चित् काठिन्यनिवहः॥ —डल्हन

महाभूतविकारप्रविभागेनास्याङ्गावयवाननुव्याख्यास्यामः। तत्रास्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं, विरेकश्च (विवेकश्च-इति पाठान्तरम्), वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः; अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यं च; अबात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च, पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति॥ च. शा. ४।१२

× × ×। लाघवं यद्यपि वायौ पठन्ति,—"रूक्षः शीतो लघुश्चैव" (च. सू. १।५९) इत्यादिना, तथापि आकाशेऽतिशयितं ज्ञेयं, तेनेहाकाशविकारे पठन्ति; आकाशं हि अत्यर्थसूक्ष्मत्वाद् वातादपि लघु। विवेको विच्छेदः। धातुव्यूहनं धातुरचना धातुवहनं च। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम्। मूर्तिः काठिन्यम्॥ —चक्रपाणि

शब्दश्च श्रोत्रं च लाघवं च सौक्ष्म्यं च विवेकश्च मुखं च कण्ठश्च कोष्ठं चाकाशात्मकानि भवन्ति; स्पर्शश्च स्पर्शनं च प्रेरणं च धातुव्यूहनं च प्राणश्चापानश्च शरीरचेष्टा च वाय्वात्मकानि भवन्ति; रूपं च चक्षुश्च प्रकाशश्च पित्तं च पक्तिश्चोष्मा च शरीरवृद्धिश्च तैजसानि भवन्ति; रसश्च रसनं च शैत्यं च मार्दवं द्रवश्च स्नेहश्च क्लेदश्च श्लेष्मा च मेदश्च रक्तं च मांसं च शुक्रं चाप्यानि भवन्ति; गन्धश्च घ्राणं च गौरवं च स्थैर्यं च मूर्तिश्च पार्थिवानि भवन्ति॥ काश्यपसंहिता शारीरस्थान, गर्भावक्रान्ति शारीरध्याय

सखलु (रसः) द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते॥ सु० सू० १४।३

स खल्वाप्यो रसः ॥ सु० सू० १४।४

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम् ॥ सु० शा० ३।३

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य ॥ सु० सू० १४।७

आर्तवं शोणितं चाग्नेयम् ॥ —डह्लन

क्रिया शरीर, (दोष-धातु-मल विज्ञान) के अनुशीलन से विदित होगा कि, वात-पित्त-कफ ये तीन दोष जब समावस्था में होते हैं तो इन्हीं के कारण शरीर यन्त्र में जीवित दशा में होने वाली समस्त क्रियाय हाती हैं[1]। ये ही जब कुपित अर्थात् क्षीण अथवा वृद्ध (न्यून-अधिक) होते हैं तो इन्हीं के कारण शरीर के समस्त रोग होते हैं। इन्हें समावस्था में रखना तथा कुपित होने पर पुनः समावस्था में लाना ही आयुर्वेदका प्रयोजन है—इसी को चिकित्सा कहते हैं[2]। "ये वात-पित्त-कफ पञ्च महाभूतात्मक (पांच महाभूतों से बने) ही हैं। वायुकी उत्पत्ति बाह्य वायु से होती है—अथवा सत्य यह है कि, बाह्य वायु ही शरीर के अन्तर्गत विविध जीवनोपयोगी क्रिया करता है—और स्थल भेदसे प्राण-अपान आदि विभिन्न नाम

१—देखिये—च० सू० १२।१३ ; च० चि० २६।२९२ ; सु० सू० २१।३-४; सु० सू० २१।३; सु० सू० २१।७; च० वि० १।५; च० सू० २०।९; च० शा० ६।१८ ; अ० हृ० सू० १।७

२—देखिये—च० सू० १७।३४; च० शा० ६।१८ ; च० सू० १।५३ ; च० सू० ९।४ ; अ० हृ० सू० १।२०।

धारण करता है[१]। वाग्भटने वायु की उत्पत्ति वायु और आकाश दो महाभूतों से बतायी है। पित्त आग्नेय अर्थात् अग्नि महाभूत से उत्पन्न होता है। कफ या श्लेष्मा जल (सोम) भूत से—वाग्भट के मत में जल और पृथिवी दो महाभूतों से उत्पन्न होता है।

"चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ सांख्य मतानुसार अहंकारसे उत्पन्न होती हैं, तथापि आयुर्वेदमें इन्हें भी पाञ्चभौतिक ही माना गया है। ये इन्द्रियां प्रत्यक्ष नहीं होतीं—अपने-अपने कार्य के द्वारा अनुमान से इनका ज्ञान होता है। प्रत्येक इन्द्रिय यद्यपि पञ्च-महाभूतमय होती है, तथापि प्रत्येक में एक-एक महाभूतका आधिक्य होता है—चक्षुरिन्द्रिय में तेज (अग्नि) अधिक होता है, श्रोत्र में आकाश, घ्राण में पृथ्वी, रसनेन्द्रिय में जल और स्पर्शेन्द्रिय में वायु अधिक होता है।

"शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध पांच ज्ञानेन्द्रियों के ये पांच विषय एक-एक महाभूत के पृथक्-पृथक् विशेष गुण हैं। शब्द आकाश का विशेष गुण है, स्पर्श वायु का, रूप अग्नि का, रस जल का और गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है। ज्ञानेन्द्रियों का यह स्वभाव और सामर्थ्य है कि, प्रत्येक इन्द्रिय में जिस भूतकी

१—जैसे मठाकाश (मठ या मन्दिर में जो आकाश है वह) जब घट से व्याप्त होता है तो उसे घटाकाश यह पृथक् नाम दिया जाता है, वैसे ही बाह्य वायु जब शरीर रूप उपाधि (विशेषण) से युक्त होता है तो उसे प्राण आदि नाम दिये जाते हैं।

अधिकता होती है, उस भूत के विशेष गुण का ही वह ग्रहण करती है। यथा—श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है, त्वचा या स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श का ; चक्षु रूप का, रसना रस का और घ्राणेन्द्रिय गन्ध का ही ग्रहण करती है, अन्य का नहीं।"

दोषों और इन्द्रियों के अतिरिक्त शरीर में महाभूतों के अन्य भी कार्य हैं—संक्षेप में 'शरीर में जो भी कठिन (ठोस, घन)[1] अंश है वह पृथिवी महाभूत से बना है ; जितना भी क्लेद अर्थात् द्रवत्व और आर्द्रत्व है, उसका कारण जल महाभूत है ; उष्णता (और तज्जन्य पाक) अग्नि महाभूत के कारण होता है ; प्राण (शरीरान्तर्गत वायु=प्राणादिक पञ्च विध वायु) स्वयं महाभूत है ; जो भी छिद्र अर्थात् अवकाशमय पोले भाग हैं, वे सब आकाशमय हैं।"

महाभूतों के उल्लिखित तथा अन्य कार्य मिलित रूप में निम्नलिखित हैं—

"शरीरान्तर्गत शब्द, शब्देन्द्रिय (श्रोत्र), समस्त छिद्र अर्थात् अवकाश (स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, आशय ये खाली स्थान)[2] ; सिरा, स्नायु, अस्थि, पेशी आदि शरीरावयवों की

१—Solid—सॉलिड।

२—स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीर छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति—च० वि० ५।९। काश्यप संहिता में ये खाली स्थान मुख, कण्ठ, कोष्ठ इन शब्दों से गिनाये हैं। "स्थानान्या

परस्पर पृथक्‌ता (विविक्तता-विवेक-विरेक) ; लघुता, सूक्ष्मता—ये अवयव तथा कार्य शरीर में आकाश के हैं।

"स्पर्श (शीत-उष्ण-मृदु-खर-गुरु-लघु आदि त्वचा से ग्राह्य विषय), स्पर्शेन्द्रिय या त्वचा (इसमें सुश्रुतोक्त मांसधरा कला और मांस भी गृहीत है – क्योंकि उससे गुरुत्व-लघुत्व—भार का ज्ञान होता है। इसी कारण सुश्रुत ने इसकी सात त्वचाओं में गणना की है) ; सर्वप्रकार की चेष्टाएँ (ऐच्छिक कर्म) ; सब प्रकार का स्पन्दन (अनैच्छिक क्रियाएँ, जिन्हें दार्शनिक परिभाषा में जीवनयोनि क्रिया कहा जाता है) ; (ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों एवं अन्तःकरणों को) प्रेरणा ; धातुओं (दोषों, धातुओं और मलों) की रचना (उत्पत्ति और पुष्टि) तथा इनका अपने-अपने स्रोतों द्वारा वहन ; प्राण-अपान (तथा अन्य वायु) ; लघुता और रूक्षता ये कार्य शरीर में वायु के हैं। (अर्थात् वायु महा-भूत शरीर के अन्तर्गत स्व-रूप से रहता हुआ दोष नाम से इन तथा अन्य शास्त्रोक्त विभिन्न क्रियाओं का सम्पादन करता है।)

"रूप (लावण्य), चक्षुरिन्द्रिय, गौर-श्याम आदि वर्ण (त्वचा, रक्त, पित्त आदि के विभिन्न रङ्ग), सन्ताप (उष्णता), दीप्ति, प्रकाश, अन्न का रस के रूप में तथा रस का आहारादि के रूप में पाक (पक्ति), (उसके द्वारा) शरीर की अभिवृद्धि, क्रोध, तीक्ष्णता (शीघ्र क्रिया करना), शूरता, रक्त और आर्तव—ये कर्म

माग्नि पक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकं फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते–सु० चि० २।१२"। कोष्ठ के इस लक्षण में आशय इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

शरीरान्तर्गत अग्नि महाभूत के हैं। (दूसरे शब्दों में, अग्नि ही शरीर में पाँच पित्तों के रूप में उल्लिखित तथा अन्य शास्त्रोक्त विभिन्न क्रियाएँ करता है।)

"रस (मधुरादि छः), रसनेन्द्रिय, शरीर के विभिन्न अवयवों की द्रवता, और क्लेद (आर्द्रता), गुरुता, शैत्य, स्निग्धता, मृदुता, रक्त, मांस, मेद, शुक्र और श्लेष्मा (कफ)—ये कार्य शरीर में जल के हैं। (यों भी कह सकते हैं कि, जल महाभूत ही पाँच प्रकार के श्लेष्मा या कफ के रूप में उपर्युक्त तथा शास्त्रोक्त अन्य नाना प्रकार के कार्य करता है।)

"गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, शरीर के अन्तर्गत समस्त कठिन अवयव, गुरुत्व (भारीपन तथा पोषण), स्थिरता—ये कार्य शरीर में पृथिवी महाभूत के हैं।" (दार्शनिकों ने पृथिवी आदि प्रत्येक महाभूत की अधिकता वाले पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय शरीर बताये हैं। इनमें पृथिवी लोक पर पाये जाने वाले मनुष्य आदि के शरीर पार्थिव शरीर कहे हैं। शेष शरीर वरुण लोक आदि लोकों में होते हैं—ऐसा कहा गया है। सो, दार्शनिकों के मत से हम लोगों के शरीर पृथिवी महाभूतमय हैं—उधर आयुर्वेद में रस, रक्त, मांस आदि सात धातुओं से शरीर का धारण या रचना होती है, ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि इन धातुओं में जो अस्थि, मांस आदि कठिन धातु हैं, वे अधिकांशतः और शेष धातुओं का द्रवातिरिक्त अंश पार्थिव है।)

धातुओं और मलों के प्रधान भूत—

डह्लन ने सु० सू० १५।१० की व्याख्या में धातुओं और मलों के वर्धक द्रव्यों के प्रसंग से प्रत्येक धातु और मल के आरम्भक प्रधान भूत का निर्देश निम्न श्लोकों में किया है—

> यद्यपि पञ्चभूतानां वाच्यः पाको द्विधा पुनः ।
> तथाप्यपां प्रधानत्वाद्रसः सौम्योऽभिधीयते ।।
> अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवाः ।
> मेदस्यम्बुभुवोरस्थ्नि पृथिव्यनिलतेजसाम् ।।
> मज्ज्ञि शुक्रे च सोमस्य मूत्रेऽम्बुशिखिनोर्गुणाः ।
> भुवो विड्यार्तवे त्वग्नेः प्रस्वेदस्तन्ययोरपाम् ।।
> इति धातुमलेषूक्ता गुणाः प्राधान्यतः स्थिताः ।
> प्रायेण भू गुणा गर्भे स्तोका ह्यन्यगुणा अपि ।।

यद्यपि सभी धातु और मल पाञ्चभौतिक हैं, तथापि रस में जल की प्रधानता होती है, अतः उसे सौम्य कहते हैं। रक्त में अग्नि के गुणों की और मांस में पृथिवी के गुणों की अधिकता है। मेद में पृथिवी और जल के गुणों की, अस्थि में पृथिवी, वायु और अग्नि के गुणों की एवं मज्जा और शुक्र में जल के गुणों की अधिकता होती है। पुरीष में पृथिवी के, मूत्र में जल और अग्नि के, आर्तव में अग्नि के, स्वेद और स्तन्य (दूध) में जल के गुण अधिकता से होते हैं। गर्भ में अधिकतः पृथिवी के गुण होते हैं और अंशतः अन्य भूतों के भी गुण होते हैं।

ऊपर दिये अनेक प्रमाणों में रक्त को आग्नेय कहा है, परन्तु कई आचार्यों के मत में इसमें पाँचों गुण होते हैं—

पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः ॥
विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा ।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥

सु० सू० १४।८-९

इस मत की पुष्टि में कहा जाता है कि रक्त में पाँचों महाभूतों के गुण देखे जाते हैं; यथा—विस्रता (कच्ची गन्ध) पृथ्वी का गुण है, द्रवता जल का, रक्तिमा अग्नि का, स्पन्दन (चलन) वात का और लघुता आकाश का गुण है।

शरीरावयवों तथा शरीरान्तर्गत कार्यों की पाञ्चभौतिकता के वर्णन का प्रयोजन—

भूत जन्यत्वेनाभिधानमङ्गानां क्षये वा वृद्धौ वा सत्यां तत्कारणभूत-भूतोपयोगप्रतिषेधाभ्यां वृद्धिक्षयजननज्ञानार्थम्। यदङ्गं यद्भूतप्रभवं, तदङ्गं तद्भूतप्रधानेन द्रव्येण वर्धते, क्षीयते च तद्विपरीतेन ॥

च० शा० ४।२० पर—चक्रपाणि

समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम् ॥ च० सू० १२।५

तत्र (दोषाणां धातूनां च क्षये) स्वयोनि वर्धनान्येव प्रतीकारः ॥

सु० सू० १५।८,१०

चिकित्सितं कारणगुणप्रत्यनीकं विधानम् ॥ सु० चि० ३९। १ पर

—डह्लन

संक्षेपतः क्रियायोग निदानपरिवर्जनम्॥
गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा॥
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः॥

सु० सू० ४१।१२

× × स्थानं दोषधातुमलसाम्येनावस्थानं, वृद्धिर्दोषादेराधिक्यं, क्षयः ह्रासो रोगादीनाम्। द्रव्यहेतुकाः पाञ्चभौतिक द्रव्यहेतुकाः॥

—डल्हन

गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां द्रव्याणां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धि-ह्रासौ, यथोक्तं—गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम्, एवमेवेतरेषामिति॥ च० सू० ३०।२७

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत्॥

सु० सू० ४६।५२६

× × × गुणानीति गुणशब्देनात्र गुणिनः पृथिव्यादय उच्यन्ते × ×॥

—डल्हन

"शरीर के अवयवों, दोषों, धातुओं और मलों की रचना में कौन-कौन महाभूत मुख्यतया होता है, इस बात के निर्देश का प्रयोजन यह है कि, जो अवयव आदि जिस भूत की प्रधानता वाला होता है, उस भूत की प्रधानता वाले द्रव्य (और उसके समान गुणवाले कर्म—विहार) के सेवन से उसकी पुष्टि होती है, तथा रोगादि के कारण वह अवयवादि क्षीण हो गया हो तो

उसीके विशेष सेवन से उसकी पूर्ति होकर समता होती है। इसके विपरीत, यदि कोई अवयवादिक वृद्धि को प्राप्त हो गया हो तो ऐसे द्रव्य (या विहार) के विशेष सेवन (अभ्यास) से वह अवयव क्षीण होकर समता को प्राप्त होता है, जिसकी रचना में उस अवयव के प्रधान भूत से विपरीत भूत की अधिकता हो। इस प्रकार द्रव्यों की पाञ्चभौतिक रचना का ज्ञान चिकित्सा में सहायक होता है। चिकित्सा का अर्थ ही यह है कि रोग के निदान या कारण का त्याग करना और उसकी विरोधिनी क्रिया करना।

"हम जो आहार करते हैं, वह भी पाञ्चभौतिक होता है। वह शरीर में अपनी-अपनी अग्नियों से परिपक्व होकर शरीर में अपने-अपने भूत की (और उसके द्वारा अपने भूत की अधिकता वाले अवयवादिक की) पुष्टि करता है।"

दोषों के कोपक-शामक महाभूत—

द्रव्यों की पाञ्चभौतिक रचना का ज्ञान दोष, धातु और मल के साम्य के कार्य में कैसे उपयोगी हो सकता है, यह बात निम्न पद्यों से स्पष्ट होगी—

भू तेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः ॥
भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम् ॥
ख तेजोऽनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम् ।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मारुतः ॥

आग्नेयमेव यद्द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते ।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते ॥

सु० सू० ४१।७–९

"पृथिवी, अग्नि और जल से उत्पन्न (अर्थात् इनकी अधिकता वाले) द्रव्यों से वायु शान्त होता है। पृथ्वी, जल और वायु से उत्पन्न द्रव्यों से पित्त शीघ्र ही शमन होता है। और जिन द्रव्यों में आकाश, अग्नि और वायु की अधिकता होती है, उनसे श्लेष्मा की शान्ति होती है।

"(इसके विपरीत), आकाश और वायु से उत्पन्न द्रव्यों के सेवन से वायु की वृद्धि होती है; आग्नेय (अग्निभूत-प्रधान) द्रव्यों से पित्त का कोप होता है और पृथ्वी तथा जल से उत्पन्न द्रव्य कफ की वृद्धि करते हैं।"

गुणों के निर्देश द्वारा द्रव्यों के परिचय की पद्धति—

शरीरान्तर्गत दोष, धातु, मल और उपधातु तथा शरीर के बाहर स्थित आहार, औषध और विषरूप असंख्य द्रव्य पाँच महाभूतों से बने हैं, यह अनेक बार कहा जा चुका है। आगे महाभूतों के गुण-कर्मों का उल्लेख किया जायगा। ये गुण-कर्म ज्ञात हों तो किसी भी द्रव्य के विषय में केवल इतना परिचय देना पर्याप्त होगा कि उसकी रचना में किस महाभूत का प्राधान्य है। इतने ज्ञान से ही उस द्रव्य के समस्त गुण-कर्म ज्ञात हो सकते हैं। परन्तु, आयुर्वेद में दोष-धातु-मलविज्ञान अथवा

द्रव्यगुणशास्त्र में इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है; किन्तु दोष आदि शारीरिक द्रव्यों एवं हरीतकी-त्रिवृत् आदि बाह्य द्रव्यों के गुण-कर्म ही विस्तार से बताये जाते हैं; उनकी भौतिक रचना का निर्देश नहीं किया जाता। वास्तव में, साधारण बुद्धि के लिए सुबोध होने में यही पद्धति उपयोगी है, इसमें संशय नहीं। इसके अतिरिक्त गुणों के द्वारा द्रव्यों का परिचय देने में एक अच्छाई यह है कि महाभूत-सिद्धान्त वर्तमान विज्ञान की परिभाषा में दुर्बोध होने से मन को उतना आकर्षित नहीं करता जितना कि प्रत्यक्ष और सुबोध गुणोंके द्वारा द्रव्योंका ज्ञान प्राप्त करता। एवं, ये गुण दोष-धातु-मलविज्ञान और द्रव्य-गुण विज्ञान के आधारभूत हैं। अब अवसर है कि हम देखें कि प्रत्येक महाभूत के कौन-कौन गुण-कर्म हैं।

महाभूतों का सहकार के लिए परस्पर अनुप्रवेश—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥

सु० शा० १।२१

तत्र शब्दगुणकमाकाशं मारुते प्रविष्टं, शब्दस्पर्शगुणत्वान्मारुतस्य; आकाशमारुतौ तेजसि प्रविष्टौ, शब्दस्पर्शरूपगुणत्वात्तेजसः; आकाशमरुत्तेजांसि तोय द्रव्ये प्रविष्टानि, शब्दस्पर्शरूपरसगुणत्वात्तोयस्य; आकाशमरुत्तेजस्तोयानि पृथिव्यामनुप्रविष्टानि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणत्वात् पृथिव्याः। एवं व्योमानिलानलजलोर्वीणां परस्परमनुप्रवेशकानुप्रवेश्यत्वेना

वस्थितानामन्योन्यानुप्रविष्टत्वमुक्तम् । अन्ये पुनरन्योऽन्यानुप्रविष्टत्वमन्यथा । व्याचक्षते–तत्राकाशेऽपि भूमिरणुरूपेणावस्थिता, सूक्ष्मरूपतोयतेजोऽनुगतमारुतस्य संचरणादाकाशे पवनदहनतोयान्यपि बोद्धव्यानि । तथा वायावप्याकाशं व्यवस्थितं, व्यापकत्वात् । "अनुष्णशीतस्पर्शोऽयं द्रव्यज्ञैर्वायुरिष्यते । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्—" इत्युक्तत्वाद्वायौ तेजोऽम्बुनी अपि तिष्ठतः भूमिरप्यणुना विशेषेण मारुते तिष्ठति । तथा तेजोद्रव्येऽप्याकाशं व्यवस्थितं, व्यापकत्वात् ; पवनोऽपि प्रेरणात्मकत्वात् ; तेजोद्रव्ये पानीयमप्यनुमीयते कार्यकारणयोरैक्यात्, कारणं तोयं कार्यमग्निरित्युक्तत्वात्, अद्भ्योऽग्निरित्युक्तत्वात् ; भूमिरपि धूमादि रूपेण तेजसि व्यवस्थिता । अथ तोयद्रव्येऽप्याकाशं व्यवस्थितं, व्यापकत्वात् ; वायुरपि तोये व्यवस्थिता तरंगबुद्बुदादिकारणत्वात् ; बह्निरपि तोये व्यवस्थितः, तत एवोत्पन्नत्वात् उक्तं च—"अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनोलोहमुत्थितम् । एषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति" इति, भूमिरपि तोयेऽणुरूपेणावस्थिता । तथा पृथिव्यामप्याकाशपवनदहनतोयानि स्थितान्येव, भूमिप्रविभागीये पञ्चविधाया भूमेः प्रोक्तत्वात् । इत्थमाकाशादिभूतानामन्योन्यानुप्रविष्टत्वमाह ? × × × ॥

डह्लन

आकाशपवनदहन तोय भूमिषु यथासंख्यामेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । × × परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सांनिध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् ॥ सु० सू० ४२।३

× × एकोत्तरपरिवृद्धा इति शब्दगुणमाकाशं, शब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवो ; परस्पर भूतानुप्रवेशादित्थमेकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया । × ×

अनुप्रवेशात् एकात्मीभावात्, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेषामाकाशादीनां, सर्वेषु द्रव्येष्वित्यन्ये । × × । उत्कर्षो वृद्धिः, अपकर्षो ह्रासः, आकाशाधिके द्रव्ये स्पर्शोऽधिकः, एवं शेषेषु भूतेषु शेषगुणाः ॥ डह्लन

एकैकेन शब्दादिगुणेन उत्तरे उत्तरे भूते परिवृद्धा एकोत्तरपरिवृद्धा एकोत्तरपरिवृद्धाः । तत्रोत्तरोत्तरे भूते शब्दादयोगुणाः पूर्वभूतानुप्रवेशकृताः, शब्दादयस्त्वाकाशादीनां यथाक्रमं नैसर्गिकाः ॥ चक्रपाणि

"विष्टं ह्यपरं परेण" (न्यायदर्शन ३।१।६८) इति । अस्यार्थ :— खवाय्वग्निजलक्षितीनामुत्तरोत्तरे भूते पूर्व पूर्व भूतस्य नित्यमनुप्रवेशः, तत्कृतश्च खादिषु गुणोत्कर्षः ॥ च० सू० १।६४ पर—चक्रपाणि

इतरेषां (भूतानां) आणुना विशेषेण सूक्ष्मप्रकारेण सान्निध्यमाश्रितत्वमस्ति । कुत इत्याह-परस्परोपकारादित्यादि । भूजलानलानिलाकाशानां धारणसंहनन परिणाम व्यूहावकाशदानैः परस्परमुपकारस्तस्मात् ; यथा— पार्थिवद्रव्ये पृथिव्याख्यं भूतं बलवदेकं शेषाणि सलिलादीनि चत्वारि दुर्बलान्याश्रयदानेनानुगृह्णाति, द्रव्यान्तरे तु सलिलादिभिरपि चतुर्भिर्बलवद्भिर्दुर्बलं पृथिवीभूतमनुगृह्यते, एवं विधात् परस्परानुग्रहाच्च । परस्परानुप्रवेशश्च 'अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्' (शा० १) इत्यनेन प्रागेव प्रतिपादितस्तस्मात् ॥ सु० शा० ३।३ पर—डह्लन

बृंहणक्लेदनपचनकर्षण विवरणानि, तेभ्यः संघात ह्लादनप्रकाशशैत्र्यसौषिर्याणि च ॥ रसवैशेषिकसूत्र, २।४७

× × कार्य द्रव्ये भूतानामुपकारं प्रदर्शयति-बृंहणेत्यादि । एतानि बृंहणादीनि यथाक्रमं पृथिव्यादिभ्यः कार्यद्रव्येषु जायन्ते । बृंहणमवयवानामुपचयः पृथिव्याः । क्लेदनमपाम् । पचनं परिणामोऽग्नेः । कर्शनं

तेषामेवापचयो वायोः। विवरणं छिद्रप्रदानमाकाशस्येति। एतानि संघातादीनि च यथाक्रमं पृथिव्यादीनामुपकारः॥ भाष्य

"प्रत्येक महाभूत का अपना एक-एक विशेष नैसर्गिक गुण होता है। परन्तु, अन्य महाभूतों के संसर्ग से उसमें उनके भी गुण संक्रान्त होते हैं—आते हैं। महाभूतों का यह स्वभाव है कि वे परस्पर अनुग्रह (सहायता), उपकार करने के उद्देश्य से एक दूसरे के साथ मिल कर कार्य-द्रव्यों का निर्माण करते हैं। कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति में पृथिवी धारण तथा बृंहण (अवयवों की पुष्टि) द्वारा अन्य महाभूतों की सहायता करती है, जल संहनन या क्लेदन अर्थात् सूक्ष्म अवयवों को परस्पर संयुक्त करने के द्वारा अग्नि परिणाम या पचन अर्थात् कारण द्रव्यों के रूपान्तर द्वारा वायु-व्यूहन अर्थात् अवयवों के व्यवस्थित संनिवेश (स्थापित करना) तथा कर्षण (अपचय-ह्रास) द्वारा और आकाश या खाली स्थान द्वारा (विवरण द्वारा) अन्य महाभूतों की सहायता करता है। प्रत्येक महाभूत की उल्लिखित सहायता के कारण, कार्य-द्रव्यों में मुख्यतया एक-एक विशेषता उत्पन्न होती है। यथा, पृथिवी की सहायता कार्य-द्रव्य से संघात या कठिनता; जल की सहायता से आह्लादकता ; अग्नि की सहायता से प्रकाश वायु की सहायता से शीघ्रता और आकाश की सहायता से सच्छिद्रता आती है। इस प्रकार परस्पर सहायता द्वारा द्रव्य-मात्र का निर्माण करने के उद्देश्य से इन महाभूतों का जो संयोग होता है, उसके वश उनमें एक-दूसरे के गुण आ जाते हैं।

"आकाश का अपना नैसर्गिक गुण शब्द है। उसके संयाग से वायु में अपने गुण के अतिरिक्त आकाश का भी गुण आ जाता है ; इसी प्रकार अग्नि में अग्नि, वायु और आकाश के गुण ; जल में जल, अग्नि, वायु और आकाश के गुण तथा पृथिवी में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के गुण संक्रान्त होते हैं। इस प्रकार पिछले भूत या भूतों के संग से अगले-अगले भूत में पिछले भूत या भूतों के गुण भी आ जाते हैं।

"कई आचार्यों का मन्तव्य है कि, प्रत्येक महाभूत में प्रत्येक अन्य महाभूत का संयोग होता है ; अतः प्रत्येक महाभूत में सूक्ष्म परिमाण में अन्य सब महाभूतों के भी गुण होते हैं।"

महाभूतों के नैसर्गिक तथा अन्य भूतों के संग से (परस्परानु-प्रवेशजन्य) गुण

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥

च० शा० १।२७-२८

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाः॥ सु० सू० ४२।३[1]

१—इस सूत्र की व्याख्या तथा इस विषय के अन्य प्रमाण ऊपर के प्रकरण में देखिये।

गुणवृद्ध्यावस्थितानि महाभूतानि ॥ काश्यपसंहिता शा०

लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात् ।
नभोभूवारिवातानां वह्नेरेते गुणाः स्मृताः ॥

भावप्रकाश, पूर्वखण्ड

प्रत्येक महाभूत का अपना-अपना एक नैसर्गिक गुण होता है। इसके अतिरिक्त पिछले-पिछले भूत के अगले-अगले भूत में अनुप्रवेश से (सम्मेलन से) अगले-अगले भूत में पिछले भूत या भूतों के भी गुण आ जाते हैं। आकाश का अपना गुण शब्द होता है। वायु का नैसर्गिक गुण स्पर्श होता है ; आकाश के अनुप्रवेश से उसमें शब्द गुण भी होता है। इस प्रकार वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण होते हैं। अग्नि का नैसर्गिक गुण रूप होता है ; आकाश तथा वायु के संग से उसमें शब्द और स्पर्श के संक्रमण से अग्नि में तीन गुण होते है—शब्द, स्पर्श और रूप। जल का नैसर्गिक गुण रस होता है ; आकाश, वायु और अग्नि के संग से उसमें शब्द, स्पर्श और रूप को संक्रान्ति होकर उसके चार गुण होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पृथिवी का नैसर्गिक गुण गन्ध होता है ; आकाश, वायु, अग्नि और जल के अनुप्रवेश से उसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस का प्रवेश होने से उसमें पाँच गुण होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

"भावप्रकाश में महाभूतों के नैसर्गिक गुण निम्न कहे गये हैं—आकाश का लघुत्व, वायु की रूक्षता, अग्नि की तीक्ष्णता,

जल की स्निग्धता तथा पृथिवी का गुरुत्व।" वैद्यकीय दृष्टि से ये गुण विशेषतः स्मरणीय हैं।

इन गुणों की व्याख्या आगे गुणों के प्रकरण में की जायगी।

महाभूतों के विशेष लक्षण

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥

च० शा० १।२९

भूतानामसाधारणं लक्षणमाह—खरेत्यादि। अप्रतीघातोऽप्रतिहननमस्पर्शत्वमिति यावत्; स्पर्शवद्धि गतिविघातकं भवति, नाकाशः, अस्पर्शवत्त्वात्॥ —चक्रपाणि

खस्याप्रतिषेधो लिङ्गं, वायोश्चलनं, तेजस औष्ण्यम्, अपां द्रवत्वं पृथिव्याः स्थैर्यम्॥ काश्यपसंहिता शारीर स्थान पृ० ७९

शब्द-स्पर्शादि एक-एक नैसर्गिक गुण के अतिरिक्त "प्रत्येक महाभूत का एक-एक असाधारण लक्षण या चिह्न होता है; यथा, पृथिवी का खरत्व (ककोड़े के सदृश स्पर्श); जल का द्रवत्व; वायु का चलत्व (स्पन्दन-गति); अग्नि का उष्णत्व एवं आकाश का स्पर्श रहित होना तथा गति में बाधक न होना विशेष चिह्न है।"

एक तरह से ये पांच गुण कार्य-द्रव्यों के अगणित गुणों में प्रधान-प्रधान गुण हैं। इनमें से एक-एक गुण एक-एक महाभूत के कारण होता है। इसके अतिरिक्त, यह भी बात साथ ही

समझ लेनी चाहिये कि पृथिवीभूत की अधिकतावाले द्रव्य में खरत्व और कठिनत्व विशेष होंगे ; जलभूतप्रधान द्रव्य में क्लेद (आर्द्रता) और द्रवत्व की अधिकता होगी····इत्यादि। वैद्यकीय दृष्टि से यह विशेष और जानना चाहिये कि, पृथिवी भूत-प्रधान द्रव्य शरीर में खरत्व, कठिनत्वादि गुणों की वृद्धि तथा विरोधी गुणों की शान्ति करेंगे ; जलभूत-प्रधान द्रव्य अभ्यास (निरन्तर सेवन) किये जाने पर शरीर के अवयवों में क्लेद, द्रवत्व, और तत्सहचरित गुणों की वृद्धि करेंगे एवं विरोधी रूक्षत्व आदि को शान्त करेंगे। यही बात अन्य महाभूतों की प्रधानता वाले द्रव्यों के विषय में भी समझनी चाहिये। आगे पार्थिव आदि द्रव्यों के गुणों के प्रकरण में यह बात विस्तार से देखेंगे।

आशय यह है कि यद्यपि आयुर्वेदों में महाभूतों के दार्शनिकोक्त गन्धादि गुणों को स्वीकार किया है, परन्तु चिकित्सा कर्म में उपयोग की दृष्टि से खरत्वादि गुणों को विशेष महत्त्व दिया है; और इन्हें महाभूतों का असाधारण लक्षण माना है।

एलीमेण्टों (महाभूतों) का पाञ्चभौतिकत्व

आधुनिक वैज्ञानिक अबतक लगभग ९६ एलीमेण्टों को जगत् का मूल द्रव्य और अविभाज्य मानते थे। परन्तु अब विदित हुआ है कि वे मूलद्रव्य नहीं हैं—उनकी भी रचना सूक्ष्म विद्युत्-कणों से हुई है, जिनके चार प्रकार हैं। एवं इन मूलद्रव्यों के परमाणुओं को तोड़ा भी जा सकता है। द्वितीय अध्याय में हमने देखा है कि एलीमेण्ट सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से

बने हैं ; एवं उनके प्रकाश, प्रवृत्ति और गुरुत्वादि धर्म इन तीन गुणों के कारण होते हैं। ये एलीमेण्ट पाञ्चभौतिक हैं, ऐसा कहने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

इन एलीमेण्टों में जो गुरुता या भार है, वह पृथिवी भूत के कारण है (और यह पृथिवी तमोगुण की अधिकतावाली होती है)। इनके विद्युत्कणों में जो विशिष्ट गति होती है वह वायु महाभूत के कारण होती है (और यह वायु महाभूत रजोगुण की अधिकता के कारण उत्पन्न होता है)। एलीमेण्टों से जो प्रकाश की किरणें निकलती हैं, वह अग्नि महाभूत के कारण (और यह अग्नि महाभूत सत्त्व और रज की अधिकतावाला होता है)। एलीमेण्टों के विद्युत्कणों में जो अवकाश है वह आकाश महाभूत के कारण होता है (यह आकाश सत्त्वगुण-प्रधान होता है)। विद्युत्कणों का परस्पर संश्लेष जल महाभूत के कारण होता है (यह जल महाभूत सत्त्व-तमोगुण प्रधान होता है)।

पार्थिव आदि संज्ञाओं का अर्थ

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥ सु० सू० ४१।३

× × × पृथिवीजलादीनां च यद्यपि विरुद्धगुणत्वं तथाप्यदृष्टवशादेकद्रव्यरूपकार्यारम्भकं दृष्टत्वादेव भवति। यथा वातादीनामेकव्याध्यारम्भकत्वं, शुक्रशोणितयोर्गर्भजनकत्वं, सत्त्वरजस्तमसो वा महदाद्यारम्भकत्वम् × × ॥ —चक्रपाणि

परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् ॥ सु० सू० ४२।२

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥

सु० शा० १।२१

पहले भी कहा गया है कि, "प्रत्येक कार्यद्रव्य का निर्माण पाँचों महाभूतों के समुदाय या मेल से होता है। तथापि, प्रत्येक द्रव्य में एक-एक महाभूत की मात्रा अधिक होती है। इसी अधिक भूत के अनुसार द्रव्यों को पार्थिव, आप्य (जलीय), तैजस (आग्नेय), वायव्य या आकाशीय (नाभस) कहा जाता है। द्रव्यों में अपने-अपने अधिक महाभूत के गुण विशेष करके होते हैं।"

"पृथिवी, जल आदि महाभूतों के गुण परस्पर विरुद्ध होते हैं, तथापि, वे एक-दूसरे का उपमर्द (विरोध और विनाश) न करते हुए कार्यद्रव्य का निर्माण करते हैं ; जैसे, परस्पर विरुद्ध गुणवाले भी वात-पित्त-कफ मिल कर रोगों को उत्पन्न करते हैं ; शुक्र और आर्तव (क्रमशः शीत और उष्ण) गर्भ को बनाते हैं तथा सत्व, रज और तम-महत्तत्व आदि की रचना करते हैं।"

स्मरण रहे, रोगों और प्रकृतियों के वातिक-पैत्तिक और श्लैष्मिक नाम भी मुख्य दोष को लक्ष्य में रखकर ही रखे गये हैं। वस्तुस्थित्या, प्रत्येक रोग और प्रत्येक प्रकृति में तीनों दोष

होते हैं। एवं मन और पुरुषों को सात्त्विक-राजस-तामस नाम भी मुख्य गुण को दृष्टि में रखकर ही दिये जाते हैं, यों प्रत्येक मन और पुरुष में सत्त्व-रज-तम—तीनों गुण होते हैं।

द्रव्यों का पञ्चविधत्व या द्विविधत्व

लोको हि द्विविधात्मक एवाग्नेयः सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात्; पञ्चात्मको वा॥ सु० सू० ४१।२२

चिकित्सोपयोगिधर्मद्वयं प्रतिपादयितुमाह–द्विविधात्मक एवेत्यादि। अग्निभूताधिदैवतस्वभावमाग्नेयं, सोमभूताधिदैवतस्वभावं सौम्यम्। ×× ननु सर्वभूतानां सर्वत्र सांनिध्यमस्ति तत् कथं द्विविधात्मक इत्याह–तद्भूयस्त्वादिति। तद्बाहुल्यादित्यर्थः। प्रायेण हि सर्वं द्रव्यं शीतमुष्णं न तृतीयो राशिरस्ति, अतो द्वावेव अग्नीषोमौ भूयांसौ॥ —डल्हन

"एक-एक महाभूत की प्रधानता के कारण द्रव्यों के पार्थिव आदि पाँच प्रकार होते हैं। परन्तु, चिकित्सा में उपयोग की दृष्टि से सब द्रव्यों के केवल दो ही भेद होते हैं—आग्नेय या अग्निभूत प्रधान द्रव्य तथा सौम्य या जलभूत प्रधान द्रव्य।

"इस द्विविधता का कारण यह है कि संसार के सब द्रव्यों के दो मुख्य वर्ग किये जा सकते हैं—उष्ण और शीत—गरम और ठण्डे या बादी करनेवाले। उष्णत्व का कारण अग्नि महाभूत की अधिकता है, तथा शैत्य का कारण जल की अधिकता। सो पाँच प्रकार होते हुए भी उपयोगिता की दृष्टि से द्रव्यों के दो ही स्मरणीय भेद रह जाते हैं—आग्नेय और सौम्य।" हम देखते

हैं, जनता में भी द्रव्यों को मुख्यतया ठण्ढा और गरम इन दो गुणों से ही पहचानने का प्रचार है।

पार्थिवादि द्रव्यों के गुण-कर्म

तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि ; तान्युपचयसंघात गौरवस्थैर्यकराणि। द्रवस्निग्धशीतमन्द-मृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानि ; तान्युपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमार्दव-प्रह्लादकराणि। उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरूक्षविशदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि ; तानि दाहपाक प्रभाप्रकाशवर्णकराणि। लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुण-बहुलानि वायव्यानि ; तानि रौक्ष्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवकराणि। मृदु-लघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि ; तानि मार्दवसौषिर्यलाघव-कराणि। च० सू० २६।११

× × × सर्वकार्यद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याद्युत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम्। संघातः काठिन्यं, स्थैर्यमविचालयम्। बन्धनं परस्परयोजनम्, प्रह्लादः शरीरेन्द्रियतर्पणम्। सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारि। प्रभा वर्णप्रकाशिनी दीप्तिः, यदुक्तं, "वर्णमाक्रामतिच्छाया प्रभा वर्ण-प्रकाशिका" (च० इ० ७।१६) इत्यादि। विचरणं विचारो गतिरित्यर्थः। सौषिर्यं रन्ध्रबहुलता। अत्राकाशबाहुल्यं द्रव्यस्य पृथिव्यादिभूतान्तरालपत्वेन भूरिव्यक्ताकाशत्वेन च ज्ञेयम्, यदेव भूरिसुषिरं तन्नाभसं ; किंवा आकाश-गुणबहुलत्वेन नाभसं द्रव्यमित्युच्यते॥ —चक्रपाणि

तत्र स्थूल[1] सान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो

१—'स्थूलसारसान्द्र' इति हाराणचन्द्रसंमतः पाठः। 'सारं स्थिरांशं पाका-दिभिः क्षयापचयरहितमित्येतत्' इति च तदीया सारपद व्याख्या।

मधुरमिति पार्थिवं ; तत् स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति। शीतस्तिमितिस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुररसप्रायमप्यं ; तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनविष्यन्दनकरमिति। उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरूक्षखरलघुविशदं रूपबहुलमीषदम्ललवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं ; तद्दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति। सूक्ष्मरूक्षखरशिशिरलघुविशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयं ; तद्वैशद्यलाघवग्लपनविरूक्षणविचारणकरमिति। श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं ; तन्मार्दवसौषिर्यलाघवकरमिति॥ सु० सू० ४१।४

"पार्थिव अर्थात् पृथिवी भूत की अधिकता वाले द्रव्यों में निम्न गुण होते हैं—गुरुता, खरता, कठिनता, मन्दता, स्थिरता, विशदता, सान्द्रता और स्थूलता ; इनमें गन्ध विशेष करके होता है ; इनका रस कुछ कषाय तथा प्रायः मधुर होता है। इनके उपयोग से शरीर में उपचय (पुष्टि), संघात (कठिनता), गौरव (भार), स्थिरता (दृढ़ता) और बल की वृद्धि—ये परिणाम होते हैं ; इनका स्वभाव विशेषतः नीचे गति करने का है।

"आप्य अथवा जलभूत की अधिकता वाले द्रव्यों में निम्न गुण होते हैं—द्रवत्व, स्निग्धता, शैत्य, मन्दता, मृदुता (कोमलता), पिच्छिलता, स्तिमितता (आर्द्रता या जड़ता), गुरुता, सरत्व (अनुलोम गति) और सान्द्रता ; इनमें रस की अधिकता होती है ; इनका रस किंचित् कषाय, अम्ल, लवण तथा प्रधानतः मधुर होता है। इनके उपयोग से शरीर में उपक्लेद (आर्द्रता, अर्थात्

दोषों, धातुओं और मलों के स्रोतों में लेप-मलिनता), स्निग्धता, बन्धन (अवयवों का परस्पर संयोजन), विष्यन्दन (स्वेद आदि के स्रोतों से तत्-तत् द्रव का स्राव), मृदुता और प्रह्लाद (शरीर, इन्द्रियों और मन का परितोष)—ये परिणाम होते हैं।

"आग्नेय (तैजस) अर्थात् अग्निभूत की प्रधानता वाले द्रव्यों में निम्न गुण होते हैं—उष्णता, तीक्ष्णता, सूक्ष्मता, लघुता, रूक्षता विशदता और खरता ; इनमें रूपगुण विशेष होता है ; इनका रस कुछ अम्ल लवण और मुख्यतया कटु होता है ; इनका स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है। इनके उपयोग से शरीर में दाह, पाक, प्रभा (कान्ति), प्रकाश, वर्ण, त्वचा, व्रण आदि का दारण और ताप—ये परिणाम होते हैं।

"वायव्य या वायुभूत की अधिकता वाले द्रव्यों में निम्न गुण होते हैं—लघुता, शैत्य, रूक्षता, खरता, विशदता और सूक्ष्मता[1] ; इनमें स्पर्श गुण विशेष होता है ; इनका रस कुछ तिक्त और प्रधानतः कषाय होता है। इनका उपयोग करने से शरीर में रूक्षता, ग्लानि (पुंस्त्वनाश), विचार (मन की अस्थिरता, या पैरों का चक्कर मारते रहना), विशदता, लघुता (कृशता)—ये परिणाम होते हैं।

"आकाशीय द्रव्य का अर्थ है वे द्रव्य, जिनमें पृथिवी आदि शेष भूतों की अल्पता होने से अवकाश अथवा खाली स्थान-

१—अष्टाङ्ग संग्रह में वायव्य द्रव्यों के व्यवायित्व और विकाशित्व गुण विशेष गिनाये गये हैं।

छिद्रयुक्तता--अधिक हो (जिनका घनत्व न्यून हो); अथवा, जिनमें आकाश के गुण विशेष हों। इन द्रव्यों में निम्नोक्त गुण होते हैं—मृदुता, लघुता, सूक्ष्मता श्लक्ष्णता, विशदता, व्यवायिता और विविक्तता (अवयवों का पृथक्-पृथक् होना--छिद्रयुक्तता[1] विशेष होना); इनमें शब्द की अधिकता होती है; इनका रस अव्यक्त (फीका) होता है। इनका उपयोग करने से शरीर में मृदुता, सुषिरता (छिद्रयुक्तता-घनत्व[2] की न्यूनता) और लघुता। ये परिणाम होते हैं।"

पुनरुक्त-दोष-शिरोधार्य्य करके भी इन गुणों के विषय में एक बात दुहरा देना उचित है कि—ऊपर कहे सभी द्रव्यगुण द्रव्यों की भौतिक[3] और वैद्यकीय दोनों विशेषताओं के प्रदर्शक हैं। यथा—जब हम पार्थिव द्रव्य को गुरु कहते हैं तब उससे उनके भार की अधिकता यह भौतिक गुण तो लक्षित होता ही है, साथ ही पचन में विलम्ब एवं शरीर में पच कर गौरव या भारीपन (मानसिक भारीपन एवं शरीर के वजन में वृद्धि) भी इस शब्द से लक्षित होती है। जलीय द्रव्यों के लिए हम स्निग्ध, द्रव या पिच्छिल शब्द का उपयोग करते हैं तो इसे उनके प्रत्यक्ष स्वरूप का तो परिचय होता ही है, साथ ही यह भी विदित होता है कि इनके सेवन से शरीर में स्निग्धता, द्रवता तथा पिच्छिलता आती है तथा इन गुणों वाले दोष, धातु, मल या उपधातु की अभिवृद्धि

१—Porosity—पोरोसिटी। २—Density—डेन्सिटी।
३—Physical—फिज़िकल।

होती है तथा विरुद्ध गुण वाले दोष आदि का अपचय या ह्रास होता है। अन्य गुणों के विषय में भी यही स्पष्टीकरण समझना चाहिये। परन्तु, स्मरण रहे कि वैद्यकीय दृष्टि से द्रव्यों का अनुशीलन करते हुए उनके वैद्यकीय गुणों पर ही लक्ष्य देना चाहिये। कारण, सम्भव है कि प्रत्यक्ष देखने से एक द्रव्य में ये गुण न दिखाई दें, पर उपयोग करने से वह शरीर में इन गुणों की वृद्धि करें। यथा, गोखरू या ककड़ी के बीज द्रव नहीं हैं—पर वे द्रवधातु मूत्र की वृद्धि करते हैं; एवं लवण स्वयं द्रव नहीं हैं, पर शरीर में क्लेद और द्रवत्व को बढ़ाते हैं। इसके सिवाय यह भी सम्भव है कि किसी द्रव्य में भौतिक दृष्ट्या कोई गुण हो, पर उसका उपयोग खाने में न होता हो। यथा, पत्थर या मिट्टी कठिन होने से पार्थिव है, पर उसका सेवन असम्भव होने से वैद्यकीय दृष्टि से उसके इन गुणों पर हमारा ध्यान न जायगा। अन्य गुणों की भी इसी पद्धति से परीक्षा करना योग्य है। इन गुणों की व्याख्या आगे गुणों के प्रकरण में की जायगी।

द्रव्यमात्र की औषधरूपता

अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य॥ च० सू० २६।१२

अनेनेति प्रतिनियतद्रव्यगुणोपदेशेन। यत्पार्थिवादि द्रव्यं यद्गुणं, तद्गुणे देहे संपाद्ये भेषजं भवतीत्यर्थः। × × युक्तिमिति उपायम्, अर्थमिति प्रयोजनम्॥ —चक्रपाणि

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि कार्मुकाणि भवन्ति ॥

सु० सू० ४१।५

× × × युक्तिविशेषमिति योजनाविशेषस्तोयाग्निसंस्कारवासनभावनामात्राकालाद्यपेक्षः ॥ —डल्हन

× × × युक्तिविशेषमिति योजनाप्रकारम् । स च योजनाविशेषो बाह्य आभ्यन्तरो वा ॥ —चक्रपाणि

पहले कह आये हैं कि शरीर का प्रत्येक दोष, धातु, मल और उपधातु अथवा सरल शब्दों में कहना हो तो प्रत्येक अवयव पाञ्चभौतिक हैं। सृष्टि के अन्य द्रव्यों के समान इनमें भी एक-एक भूत की प्रधानता होती है। अतः यदि किसी कारण से किसी दोष आदि का ह्रास हो गया हो तो उसमें जो भूत अधिक है, उसी भूत की अधिकता वाले द्रव्य के सेवन से उसकी पूर्ति (क्षति पूर्ति) हो सकती है। इसके विपरीत, यदि किसी दोषादि की वृद्धि हुई हो तो उसके अधिक भूत का विरोधी भूत जिस द्रव्य में हो, उसके विशेष सेवन से वह वृद्धिगत दोषादि क्रमशः क्षीण होकर समता को प्राप्त हो सकता है। यह बात हम पहले देख आये हैं; और अभी हमने देखा है कि सृष्टि के प्रत्येक द्रव्य में पाँचों भूत हैं और एक-एक भूत की अधिकता है, जिसके कारण उसमें अमुकामुक गुण होते हैं। यह स्पष्ट है कि, प्रत्येक द्रव्य में जो भूत अधिक हैं, उस भूत की अधिकता वाले दोषादि की वृद्धि करेगा और जिस भूत की उसमें न्यूनता है उससे विरोधी भूत

वाले दोष आदि का ह्रास करेगा। प्रश्न केवल यह है कि उसका उपयोग करना आना चाहिये—योजकस्तत्र दुर्लभः[1]। इसी विचार-शैली को दृष्टिगत रखकर शास्त्रकारों ने कहा है कि—"पार्थिव आदि द्रव्यों के गुणों का जो उपदेश किया गया है उससे विदित है कि, कोई भी द्रव्य संसारमें ऐसा नहीं है, जिसका औषधरूप से उपयोग न किया जा सकता हो। शरीर में जिस गुण की वृद्धि (या ह्रास) करना अभीष्ट हो वैसे ही गुणवाले द्रव्य का (और विहार का) उपयोग ओषधि के रूप में करना चाहिये। युक्ति (योजना) अर्थात् द्रव्यों का बाह्य या आभ्यन्तर उपयोग, किंवा—उनके निर्माण के प्रकार तथा प्रयोजन (किस रोग को दूर करना है, किस दोषादि को समावस्था में लाना है—इत्यादि उद्देश्य) भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु ओषधिरूप से उपयोग प्रत्येक द्रव्य का हो सकता है।"

अस्तु--आयुर्वेदीय दृष्टि से यह महाभूतों का वर्णन हुआ। विशेष विस्तार द्रव्यगुण के ग्रन्थों में देखना चाहिये। महाभूतों के वर्णन के पश्चात् अब आत्मा या पुरुष का वर्णन-क्रम प्राप्त है। हमारा अग्रिम अध्याय इसी विषय पर होगा।

१—यह वचन निम्न सुन्दर और सुप्रसिद्ध लोकोक्ति का अन्तिम चरण है—अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति द्रव्यमनौषधम्। अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

पाँचवाँ अध्याय

आयुर्वेद-सम्मत पुरुष

अथातः पुरुषविज्ञानीयं प्रथमसध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहु-रात्रेयादयो महर्षयः ॥

आयुर्वेदिक आत्मा का सामान्य परिचय

प्रत्येक हिन्दू विद्यार्थी को आत्मा का थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य होता है। इस लिए आत्मा का सामान्य परिचय देना असंगत-सा प्रतीत होगा। परन्तु आत्मा के विषय में कुछ दार्शनिक सूक्ष्म बातें ऐसी हैं, जिन्हें सब कोई नहीं जानते। उस पर भी आयुर्वेद में तो आत्मा के विषय में कुछ ऐसी बातें स्वीकार की गयी हैं, जो आयुर्वेद के क्षेत्र तक ही सीमित हैं—अन्य शास्त्रों में उन्हें इसी रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। इससे पूर्व कि हम आयुर्वेद के आत्म-विषयक मन्तव्यों को आयुर्वेद के शब्दों में समझें, यह ठीक लगता है कि उन मन्तव्यों को प्रवेशक के रूप में थोड़े में अपने ही शब्दों में समझ लिया जाय।

आयुर्वेद में आत्मा अथवा पुरुष के तीन स्वरूप माने गये हैं–परम आत्मा, आतिवाहिक या सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा तथा स्थूल चेतन शरीर या कर्मपुरुष। इनमें परम-आत्मा वही है, जिसे सामान्यतः आत्मा कहा जाता है। यह निर्विकार है,

अर्थात् न इसका आदि है, न अन्त—न जन्म न मृत्यु—सुख-दुःख आदि का इस पर कोई प्रभाव नहीं होता—न इसकी वृद्धि होती है, न क्षय और न किसी प्रकार का स्थूल या सूक्ष्म, दृश्य या अदृश्य परिवर्तन ही इसके स्वरूप में होता है। कहा गया है कि प्रकृति अचेतन है—उसमें स्वयं बुद्धि-अहंकार आदि विकार नहीं हो सकते—परिणामतया उससे अन्य सूक्ष्म-स्थूल पदार्थों का उत्पन्न होना भी संभव नहीं। आत्मा ही वह शक्ति है जिसकी केवल विद्यमानता के कारण प्रकृति में क्रमशः परिवर्तन (परिणाम) होकर अन्त में जगत् के चर-अचर समस्त पदार्थ बनते हैं। इस विषय को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, जिस प्रकार किसी प्रेक्षागार (थियेटर) में बैठे हुए दर्शक स्वयं अभिनय में भाग नहीं लेते; परन्तु उनकी उपस्थिति-मात्र का प्रभाव यह होता है कि अभिनेता अपनी-अपनी भूमिका—अपना-अपना कार्य करते हैं; उसी प्रकार आत्मा स्वयं किसी क्रिया में भाग नहीं लेता—न ही उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन आता है, किन्तु उसकी उपस्थिति मात्र के कारण प्रलयावस्था समाप्त होने पर प्रत्यभि आन्दोलन होता है, और उससे पूर्वोक्त क्रम से सृष्टि नबन्धनं, न्ति होती है—प्रलयावस्था पर्यन्त ब्रह्माण्ड में जो परिवर्तन प्रधानसपेक्ष, उनका भी कारण आत्मा की विद्यमानता ही है।

पुनः संयुक्त आत्मा असंख्य और आकाश के समान सर्वत्र व्यापक हैं।

पूर्व काल समाप्त होने पर नयी सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक ा को एक-एक सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) मिलता

१—

९

है। यह शरीर अगला प्रलय आने तक रहता है। मृत्यु के समय आत्मा इसी सूक्ष्म शरीर को लिये हुए बाहर निकलता है, और जन्म के समय इसी सूक्ष्म शरीर के साथ नये शरीर (गर्भ) में प्रवेश करता है। इस कार्य में भी सच पूछो तो स्वयं आत्मा का पूर्व देह से निष्क्रमण या नये देह में प्रवेश नहीं होता; क्योंकि आत्मा तो सर्व व्यापक होने से न प्रथम शरीर को छोड़ता है, और न नये शरीर में उसका नया प्रवेश होता है—कारण वहां भी वह पहले से ही विद्यमान होता है। निष्क्रमण और प्रवेश इसी सूक्ष्म शरीर के होते हैं। उन्हें ही आत्मा का निष्क्रमण और प्रवेश कहने का प्रचार (प्रथा-पद्धति) है। इस सूक्ष्म शरीर में ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ तन्मात्र (सूक्ष्म विषय), ५ प्राण (प्राण-अपान आदि), १ मन और १ बुद्धि—ये १७ पदार्थ होते हैं। स्मरण रहे, ये ५ ज्ञानेन्द्रियां उन स्थूल इन्द्रियों से भिन्न हैं, जिन्हें हम स्थूल शरीर में प्रत्यक्ष देखते हैं। इस शरीर को सांख्य में लिङ्ग शरीर भी कहा है। यह भी आत्मा या पुरुष का एक रूप है।

परन्तु आयुर्वेद में इन दो आत्माओं का कोई प्रय़ो[illegible]। इसी कारण आयुर्वेद में आत्मा या पुरुष की तीसरी [illegible] गये हैं- की गयी है। आयुर्वेद में माना गया है कि, आत्मा, [illegible]मा तथा पञ्च महाभूतों का समुदाय रूप जो यह स्थूल शरीर है, यह[illegible]ही है, या आत्मा है। यही रोग और चिकित्सा का विषय है। [illegible]कार है, भिन्न सूक्ष्म आत्माओं के झमेले में पड़ना आयुर्वेद का कार्य

यद्यपि आयुर्वेद में मुक्ति का जन्म-मरण के चक्र से छुटकारे का भी वर्णन है[1] पर यह गौण रूप से प्रसंगागत होने से ही, बाकी आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्य पूर्वलिखित परम-आत्मा या सूक्ष्म शरीर रूप आत्मा नहीं।

इतने सामान्य विवेचन के पश्चात् अब हम यही विषय आयुर्वेद के शब्दों में देखेंगे।

आत्मा के सांनिध्य से प्रकृति में प्रवृत्ति

सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति॥ सु० शा० १।८

सर्व एवैष वर्गोऽव्यक्तादिकोऽचेतनः × × कार्यकारणसंयुक्त इति कार्येण महदादिविकारगणेन, कारणेन मूलप्रकृत्या। × × यथा क्षीरमज्ञं वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते। आदिशब्दाच्च यथैकांते कमनीयकामिनीसुरतमहोत्सवे तत्सुखातिशयोत्पादनार्थमज्ञं रेतः प्रवर्तते तद्वदित्यर्थः॥ —डल्हन

पुरुषकैवल्यार्थं–तथाहि, प्रधानेन संभिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते, तच्च सत्वपुरुषान्यताख्याति निबन्धनं, न च सत्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते; अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तम्॥ सांख्यकारिका २१ पर —वाचस्पति मिश्र

पूर्ववर्णित प्रकृति तथा उससे उत्पन्न महाभूत पर्यन्त २४ पदार्थ

१—यथा, च० शा० ५-९-२१, च० शा० २-१३९-१५५ इत्यादि।

अचेतन हैं। २५ वां पुरुष (आत्मा) कारणभूत प्रकृति और कार्य-भूत महत्त्व आदि से मिल कर उनमें चैतन्य उत्पन्न करता है। प्रकृति स्वयं अचेतन है, परन्तु पुरुष को मोक्ष-प्रदान करने के लिये वह सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति सम्बन्धी विविध प्रवृत्ति (क्रिया) करती है। होता यह है कि, पुरुष भोग की इच्छा से प्रकृति में आसक्त होता है। इस प्रक्रिया में मिथ्या अहंकार के कारण वह यह समझ बैठता है कि, आध्यात्मिक; आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों का भोक्ता मैं स्वयं हूं; जब कि वास्तव में ये दुःख प्रकृति के विकारभूत (प्रकृति से उत्पन्न) मन और इन्द्रियों को होते हैं---आत्मा स्वयं इनसे अलिप्त होता है अर्थात् वस्तुतः आत्मा इनका भोक्ता नहीं होता, वह स्वयं तटस्थ भाव से दर्शकमात्र होता है। उक्त मिथ्या अभिमान के कारण, इन दुःखों से छूटने के लिये वह मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रक्रियानुसार, प्रकृति क्रमशः पुरुष को मोक्ष की ओर प्रवृत्त करती है।

"चेतन सांनिध्य से—चेतन पर अनुग्रह करने की इच्छा से अचेतन प्रकृति आदि में होनेवाली प्रवृत्ति (हलचल) को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त दिया जाता है कि, जिस प्रकार बछड़े की पुष्टि के लिए अचेतन भी दूध में प्रवृत्ति (स्तन से बाहर निकलने की क्रिया) देखी जाती है, अथवा ग्रामधर्म में प्रवृत्त दम्पति के सुखोत्पादन के लिए अचेतन भी शुक्र में स्रावरूपी प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार अचेतन भी प्रकृति में पुरुष (आत्मा) पर अनुग्रह के

लिए—उसे मोक्ष दिलाने के लिए—जगत् की उत्पत्ति और स्थिति-रूप प्रवृत्ति होती है।

(१) *परम-आत्मा*

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ॥

च० शा० १।६१

निर्विकारः परस्त्वात्मा ॥ च० सू० १।५६ ; च० शा० ४।३३

× × × निर्विकारो निर्विकृतिः, तेन नीरोगत्वमात्मनः। परः इति सूक्ष्मः श्रेष्ठो वा, तेन सत्त्वशरीरात्ममेलकरूपो य आत्मशब्देनोच्यते तं व्यावर्तयति, यदुक्तं–"संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः" (च० शा० १।८५) इति। संयोगेऽपि चात्मादीनां मनस्येव वेदना भवति ; सा तु मनःसंयुक्ते आत्मन्यपि संबद्धेत्युच्यते, तेन "निर्व्यथे चान्तरात्मनि" (च० सू० २२।३५) इति वचनं निर्व्यथे मनसीति स्यात्। यथा शरीरादावप्यात्मशब्दो वर्तते, तद्व्यवच्छेदार्थं पर इति पदम्। उक्तं ह्यन्यत्र,–"ब्रह्मेन्द्रवाय्वग्निमनोधृतीनां धर्मस्य कीर्तेर्यशसः श्रियश्च ! तथा शरीरस्यशरीरिणश्च स्याद् द्वादश स्विङ्गित आत्मशब्दः ॥ इति ॥

—चक्रपाणि

पर इत्यनेन मनःशरीरादिसमुदायादात्मानं व्यवच्छिनत्ति ॥

—चक्रपाणि

द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ च० सू० १।५६

ननु, दृश्यते ज्ञानवतः सुखोपलब्धावनुरागलक्षणो विकारस्तथा दुःखोपलब्धौ च द्वेषलक्षणः, तत्कथं सुखदुःखोपलब्धावयमात्मा निर्विकार इत्याह–द्रष्टा पश्यति हि क्रिया इति। द्रष्टा साक्षी ; तेन यतिर्यथा

परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन्न रागद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्मापि सुखदुःखाद्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते ; दृश्यमान-रागादिविकारस्तु मनसि, प्राकृतबुद्धौ वा सांख्यदर्शनपरिग्रहाद्भवतीति भावः । सांख्यमते च मनःशब्देन बुद्धिरन्तःकरणं च गृह्यते ॥ —चक्रपाणि

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः ।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥

च० शा० १ । ८३

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च ।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता ॥

× × सर्वं कारणवदिति सर्वमुत्पद्यमानं बुद्ध्यहंकारशरीरादि । दुःख-मिति दुःखहेतुरेव । अस्वमिति सर्वं कारणवदेवात्मव्यतिरिक्तं परमार्थतः । न चात्मकृतकमिति न चात्मनोदासीनेन कृतम् । तत्रेति कारणवति बुद्धि-शरीरादौ स्वतेति ममता 'ममेयं बुद्धिः' इत्यादिरूपा ॥ —चक्रपाणि

चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः ॥

च० शा० १ । ५६

× × × अत्र पुरुष इति कर्तव्ये यत् पुरुष संज्ञक इति करोति तेन न चेतनाधातुरूपः पुरुषश्चिकित्सायामभिप्रेतः, किंतु शास्त्रान्तरव्यवहारानुरोधा-दिहाप्ययं पुरुषशब्देन संज्ञित इति दर्शयति ॥ —चक्रपाणि

शरीरेन्द्रिय सत्त्वसमुदयं पुरुषमाचक्षते, आत्मानमेके ॥

काश्यप संहिता शा० ४

अनादिः पुरुषो नित्यः ॥ च० शा० १ । ५६

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः ॥

च० शा० १।५२

विभुत्वमत एवाऽस्य यस्मात् सर्वगतो महान् ॥

च० शा० १।८०

× × विभुत्वं सर्वगतपरिमाणयोगित्वम् ॥ —चक्रपाणि

प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य (सादृश्य) और वैधर्म्य (असमानता—भिन्नता)

ऊपर परम-आत्मा के जो गुण कहे गये हैं, उनका स्पष्टीकरण नीचे दिये वचन से होगा। इसमें बताया गया है कि मूल प्रकृति तथा पुरुष (परम-आत्मा) में कौन-कौन-से गुण समान हैं, और कौन-कौन भिन्न।

अतऊर्द्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ, उभौ च सर्वगताविति ; एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति ॥ सु० शा० १।९

× × × अमध्यस्थधर्मिणीति सत्त्वादिगुणराशितया सुखादिरूपत्वात्, सुखी हि सुखमभिलिप्सन् दुःखी दुःखं विद्विषत् अमध्यस्थो भवति ; प्रकृतिश्च सत्त्वादिरूपा, ततोऽमध्यस्थ। बहव इति युगपन्मरणासंभवादनेके पुरुषाः, 'पुर्'शब्देन महदादिकृतं सूक्ष्मं लिङ्गशरीरमुच्यते, तच्च योगिनामेव दृश्यं, तत्र पुरि शेते इति पुरुषः। अगुणा इति अविद्यमानसत्त्वादि गुणाः।

अबीजधर्माण इति महदादीनां महाप्रलये प्रकृताविव तेष्वनवस्थानात्। मध्यस्थधर्माण इति प्रीत्यप्रीतिविषादायोगेनेच्छाद्वेषशून्यत्वात्। तदुक्तं सांख्ये-"तस्मात्तु विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च" (सांख्यकारिका ९) इति ॥ —डल्हन

"प्रकृति और पुरुष दोनों में साम्य यह है कि, दोनों अनादि (जन्मरहित) हैं, दोनों अनन्त (मरणरहित) हैं, दोनों लिङ्ग (चिह्न) रहित हैं, दोनों नित्य हैं—किसी अन्य द्रव्य में उनका लय नहीं होता ; दोनों सर्वश्रेष्ठ हैं, दोनों सर्वव्यापक हैं। दोनों में भिन्नता यह है कि, प्रकृति एक है—पुरुष अनेक हैं ; प्रकृति अचेतन है, पुरुष चेतन हैं ; प्रकृति सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों-वाली है, पुरुष इन गुणों से रहित है ; प्रकृति बीज के स्वभाव-वाली है— उत्पन्न होनेवाले महत् आदि चराचर जगत् की आधार-भूत है, पुरुष बीज-स्वभाव रहित है—उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता ; प्रकृति प्रसव अर्थात् महत् आदि की उत्पत्ति के स्वभाव वाली है, पुरुष प्रसवधर्मा नहीं है ; प्रकृति सत्त्व आदि गुणोंके कारण सुख-दुःखादि को अनुभव करनेवाली होने से केवल मध्यस्थ —तटस्थ-साक्षीमात्र—नहीं ; पुरुष कर्ता-भोक्ता न होने से तथा रागद्वेषादि से शून्य होने से मध्यस्थ स्वभाववाला नहीं है। 'पुर' का अर्थ है सूक्ष्म लिङ्ग शरीर। इसमें वास करनेवाला होने से आत्मा को पुरुष[1] कहते हैं।"[2]

१—पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति में सामान्यतः 'शी' धातु बतायी जाती हैं। मुझे 'वस' धातु ठीक लगती है, इसका संप्रसारण रूप 'उष' है।

(२) आतिवाहिक शरीरयुक्त आत्मा

देहात् कथं देहमुपैति चान्यम् ।
आत्मा सदा कैरनुबध्यते च ॥

च० शा० २।२८[१]

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्तिरूपम् ॥
स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ॥
रसात्ममाता पितृसंभवानि भूतानि विद्याद्दश षट् च देहे ।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथात्मा च चतुर्षु तेषु ॥

च० शा० २।३१-३३

× × सुसूक्ष्मैरित्यनेनचातीन्द्रियत्वं दर्शयति । आकाशमिहाक्रियत्वेन देहान्तरगमनकर्मणि नोक्तम् । मनसा जवते गच्छतीति मनोजवः । एतेन चात्मनो व्यापकस्य यद्यपि देहान्तरगतिर्नास्ति तथाप्यस्य मनोगतिरेव भूतसहिता गतिशब्देनोच्यत इति दर्शितं भवति । देहादिति म्रियमाण-देहात् । देहमित्युत्पद्यमानदेहम् । कर्मात्मकत्वादिति कर्माधीनत्वात् । तेन, कर्म धर्माधर्मरूपं यत्रैनं भोगार्थं नयति, तमेव देहमयं यातीत्युक्तं भवति । अथ गच्छन् किमित्ययं नोपलभ्यते म्रियमाणपुरुषादित्याह—न

१—इस श्लोकमें दो प्रश्न किये हैं, तथा आगे दिये श्लोकोंमें उनका उत्तर है । अनुवाद प्रश्नोत्तर रूप में नहीं दिया है ।

त्वित्यादि। तस्यात्मन आतिवाहिकशरीरयुक्तस्य दृश्यं रूपं नास्ति, अतिसूक्ष्मरूपत्वादिति भावः। अथ किं सर्व एवैनं गच्छन्तं न पश्यन्तीत्याह-दिव्यं विना दर्शनमिति। दिव्यं दर्शनं योगचक्षुः, तेन योगिन एव पश्यन्त्येनमिति दर्शयति। अस्यैवातिवाहिकशरीरयुक्तस्यात्मनो धर्मान्तराण्याह-स सर्वग इत्यादि। सर्वशरीरभृदिति सर्वशरीराणि भर्तुं योग्यः। विश्वकर्मकरणक्षमो विश्वकर्मा। विश्वरूपतां च नरपश्वादिशरीररूपतया कर्मवशाद्भजत इति विश्वरूपः। नित्यंबुद्ध्यादिभिर्युज्यत इति नित्ययुक्। सहानुशयेन रागादिना वर्तत इति सानुशयः। आतिवाहिकशरीररूपभूतचतुष्टय व्याकरणार्थं शरीरे यानि संभवन्ति भूतानि तान्येवाह–रसेत्यादि। एतानि भूतानि सारूप्यहेतुप्रस्तावोक्तान्यपि प्रकरणवशात्तथा वक्तव्यरजःशुक्राद्यनुक्तरूपप्रतिपादनार्थं च पुनरुच्यन्ते। आत्मनि संश्रितानीति आत्मकर्मणाऽऽत्मन्यातिवाहिकदेहरूपतया निबद्धानि। स्थितस्तथाऽऽत्मेति आत्मा देहान्तरादिक्रियार्थं स्थितः। या च गतिर्देहान्तरादिनाऽऽत्मनः, सा तद्भूतव्यवस्थितस्यैवोच्यते, न व्यापकस्य, तस्य सर्वगतत्वादित्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि
यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि
देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥

च० शा० २।३५

आत्मलीनानीति नित्यमात्मसंबद्धानि। आत्मलीनभूतानां धर्मा-

न्तरमाह–स बीजधर्मेत्यादि। स आत्मलीनभूतसंतानो बीजधर्मा बीजस्वरूपः। बीजं हि स्वसदृशमंकुरं करोति, तेन, अयमप्यात्मलीनो भूतसंतानः सदृशं देहरूपं भूतान्तरसंगे कुर्वन् बीजधर्मा भवति। × × आत्मनीति मनोयुक्तात्मनि। याति गच्छति सति देहान्तराणि यातीति योजना। आत्मनश्च गमनं मनोगमनमेव। परापराणीति वा पाठः; तदा पराणि श्रेष्ठानि देवादिशरीराणि, अपराणि अश्रेष्ठानि क्रिम्यादिशरीराणीति योजनीयम्॥ —चक्रपाणि

अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः॥

च० शा० २।३७

आत्मा सदा कैरनुबध्यत इत्यस्योत्तरम्—अतीन्द्रियैरित्यादि। अहंकारविकारा एव दोषाः, किंवा रजस्तमसी दोषौ॥ —चक्रपाणि

पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्ग ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथायुक्ते संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते॥

च० शा० ३।३

× × × जीवशब्देन चेतनाधातुरात्मा न त्वात्मा व्यापकः। तत् कथमयमवक्रामतीत्याह—सत्त्वेत्यादि। सत्त्वसंप्रयोगादिति मनोगमनादित्यर्थः। तद् यथोक्तं—"युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः (च० शा० १।७५) इति। यद्यप्यात्मा विभुत्वात् सर्वगतत्वेन न क्वचिदपि याति, तथापि यत्रास्य कर्मवशान्मनो याति, तत्रैव चैतन्योपलब्धेरात्मापि गत इति व्यपदिश्यत इति भावः॥ —चक्रपाणि

आत्मजश्चायं गर्भः। गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः तं जीव इत्याचक्षते शाश्वतमरुजमजरममरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माण-मव्यक्तमनादिमनिधनमक्षरमपि। स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनात्मानम्, आत्मसंज्ञा हि गर्भे ॥

च० शा० ३।१४

आत्मज इत्यादिना आत्मजत्वं व्युत्पादयति। अन्तरात्मोच्यत इत्यनेन गर्भकारणभूतमात्मानं षड्धातुसमुदायवर्त्यात्मशब्दाभिधेयाद् व्यावर्तयति। आचक्षत इत्यागमेषु शाश्वताधिशब्दैर्ब्रुवते वृद्धाः। अलोड्यमित्यक्षोभ्यम्। गर्भत्वेन जनयत्यात्मानमिति गर्भस्वरूपो यः षड्धातुक आत्मा, तं जनयतीत्यर्थः। गर्भस्यात्मशब्दाभिधेयतामाह—आत्मसंज्ञा हि गर्भे इति। तस्येत्यनेन परमात्मानं प्रत्यवमृशति ॥

—चक्रपाणि

तत्र पूर्वं (शुक्रशोणित संयोगे जीवसंयुक्ते सति) चेतनाधातुः सत्त्व-करणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते ; स हि हेतुः कारणं निमित्तम् अक्षरं कर्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान् वि (प्र) भुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति ॥ च० शा० ४।८

सत्त्वं मनः करणं यस्य स सत्त्वकरणः। आत्मा निष्क्रियत्वेन क्रियावता मनसा यत् कार्यं करोति, तच्चकार्यं मनसा क्रियमाणमप्यचेतनेन चेतनावत आत्मन एवोच्यते। वचनं हि—"चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते" (च० शा० १।७६) गुणग्रहणायेत्यत्र गुणशब्देन गुण-गुणिनोरभेदोपचाराद् गुणवन्ति भूतान्युच्यन्ते। किंवा, गुणोऽप्रधानं,

प्रधानं चात्मा, तद्व्यतिरिक्तानि च भूतानि गुणाः। कस्मादात्मा भूतानि गृह्णात्यप्रधानरूपाणीत्याशङ्कायामात्मनः प्राधान्यख्यापकान् पर्यायानाह—स हीत्यादि। न क्षरतीत्यक्षरम्। गुणी भूतरूपगुणवानित्यर्थः। गृह्णाति भूतानीति ग्रहणम्। एतैः पर्यायैरात्मनोऽभिधेयस्येतरपदार्थोपकार्यत्वेनाश्रयत्वं प्रसिद्धं दर्श्यते॥ —चक्रपाणि

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः; सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद्विशेषोपलब्धिः॥ च० शा० ४।३३

× × पर इत्यनेन मनःशरीरादिसमुदायादात्मानं व्यवच्छिनत्ति। सर्वभूतानां निर्विशेष इति सर्वेषु भूतेषु वर्तमानोऽप्ययं परमात्मा तुल्य एव। यस्तु तत्र सुखदुःखादि विशेष उपलभ्यते, स शरीरविशेषस्य मनोविशेषस्य च सुखदुःखादिविशेषकारणस्य विशेषादुपलभ्यते॥ —चक्रपाणि

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद् वायुरुदीरयदि, ततस्तेजोऽनिलसंनिपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन। ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहाऽन्वक्षं सत्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते॥ सु० शा० ३।४

× × × क्षेत्रज्ञः पञ्चमहाभूतशरीरक्षेत्रवित् कर्मपुरुषः। × × भूतात्मना भौतिक शरीरेण सूक्ष्मेण लिङ्गशरीरेणेत्यर्थः। × × देवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणः, भावः सत्त्वं मन इत्यर्थः; तेन देवादीनां सप्तानां सप्तभिः सात्त्विकैर्भावैः, असुरादीनां षण्णां षड्भी राजसैर्भावैः,

अपरैश्च पश्वादिजैस्त्रिभिस्तामसैर्भावैः। सत्त्वस्य च मनःपर्यायस्य प्रेरकत्वं तन्त्रातरे प्रतिपादितम्। तदुक्तं चरके–"अस्ति खलु सत्त्व मौपपादुकं यज्जीवंस्पृक्शरीरेनाभिसंबध्नाति" (च० शा० ३।१६) इति। × × × वेदयिता मनसो ज्ञापयिता इन्द्रियाणां च पञ्चानामयमेव ज्ञापक इति दर्शयन्नाह–स्प्रष्टेत्यादि। × × पुरुष इति पुरि भौतिके शरीरे वसतीति पुरुषः। तस्य सुकृतिफलभोक्तृत्वं दर्शयन्नाह–स्रष्टेत्यादि। स्रष्टा चेतनायोगेन, तस्यैव कर्तृत्वात्। तदुक्तं चरके "चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते" (च० शा० १।७६) इति। गन्ता संसरणशीलः। तथा साक्षी ज्ञत्वात्। धाता शरीरादिसंयोगधारणहेतुत्वात्। वक्ता वदत्ययमेव, एतेन कर्मेन्द्रियाणामपि वचनादानविरहणोत्सर्गानन्देष्वयमेव हेतुः। × × ×॥ —डह्लन

नित्यमात्मानं स्पृशतीति स्पृक् शरीरमातिवाहिकशरीरम्॥

च० शा० ३।१९ पर —चक्रपाणि

चतुर्थे (मासि) × × गर्भहृदयप्रव्यक्तीभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते॥

सु० शा० ३।१८

"परम-आत्मा स्वयं निर्विकार, अजन्मा, अमर और सुख-दुःख-राग-द्वेषादि से रहित है। परन्तु सूक्ष्म शरीर[1] में रहता हुआ वही धर्म-अधर्म (शुभाशुभ कर्म) का कर्ता, सुख-दुःख रूप फलों का भोक्ता एवं राग-द्वेष, काम-क्रोध, जन्म-मरण आदि से

१—Ethereal body—ईथरिअल बॉडी।

आविष्ट होता है। इस सूक्ष्म शरीर का निर्माण आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—के अति सूक्ष्म रूपों से होता है। (जैसा कि पहले कह आये हैं, भूतों के इन सूक्ष्म रूपों को वैशेषिक में भूतों का परमाणु रूप तथा सांख्य में तन्मात्र कहते हैं।) सूक्ष्म शरीर के निर्माण में आकाश की गणना इसलिए नहीं की गयी है कि अवकाश-प्रदान के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में उसकी विशेष क्रिया नहीं होती। ये चार महाभूत सर्वदा (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) प्रत्येक आत्मा से संबद्ध रहते हैं—उसके लिए आगे कहे जाने वाले अनेक कर्मों में उपयोगी सूक्ष्म शरीर को बनाये रहते हैं। सूक्ष्म-इन्द्रियातीत-भूतों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं। सत्त्व गुण के उत्कर्ष (आधिक्य, उद्रेक) के कारण होने वाली मन की सात प्रकृतियाँ रजोगुण के आधिक्य से होने वाली छः प्रकृतियाँ तथा तमोगुण के प्राबल्य से होने वाली तीन चित्त-प्रकृतियाँ भी इस सूक्ष्म शरीर में ही रहती हैं[१]। इस सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर या आति-

१—वातादि दोषों के भेद से पुरुष की जो प्रकृतियाँ होती हैं, उनसे पुरुषों का शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का वैशिष्ट्य सूचित होता है। इनके अतिरिक्त आयुर्वेद में केवल मन की भी अपने दोषों—सत्त्व, रज, तम—के आधिक्य से होने वाली सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन प्रकृतियाँ बतायी है। इनके पुनः क्रमशः सात, छः और तीन मुख्य भेद किये गये हैं। इनके नाम, लक्षण तथा इनके ज्ञान का प्रयोजन इसी ग्रन्थ में आगे देखिये।

वाहिक शरीर भी कहते हैं। आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) स्पर्श (संबन्ध) होने से इस शरीर को 'स्पृक् शरीर' भी नाम दिया गया है। अध्यात्म ग्रन्थों में इसे ही 'पुर्' या 'पुरी' कहा जाता है। इसमें वास करने के कारण आत्मा को 'पुरुष' कहते हैं—पुर्+वस् [1]। (अन्य ग्रन्थों में भूतों से निर्मित सूक्ष्म शरीर के अवयव विस्तार से निम्न कहे गये हैं-५ ज्ञानेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों के ५ सूक्ष्म विषय अथवा शब्द तन्मात्र आदि ५ तन्मात्र ; प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान ये ५ प्राण ; १ मन, १ बुद्धि=कुल १७। क्योंकि यह शरीर प्रलय आने पर नष्ट हो जाता है—लयं गच्छति [2]—अतः इसे लिङ्ग-शरीर कहते हैं।)

"मैथुन द्वारा शुक्र और शोणित का संयोग होने पर तत्क्षण यह सूक्ष्म शरीर ही अपने पहले के शरीर (मृत शरीर) को छोड़ कर उत्पन्न होने वाले नये गर्भ के शरीर में प्रवेश करता है। आत्मा, वास्तव में देखा जाय तो सर्वव्यापक है, अतः न वह मृत शरीर को छोड़ता है, न ही नये शरीर में प्रवेश करता है। होता यह है कि सीमित (असर्वव्यापक) सूक्ष्म शरीर ही मन द्वारा अधिष्ठित हो कर पूर्व शरीर को छोड़ता तथा नये शरीर (संयुक्त हुए शुक्र शोणित) में प्रवेश करता है। परन्तु क्योंकि मन का भी स्वामी आत्मा ही है, अतः मरण और जन्म के समय मन के स्थूल शरीर से निर्गमन और प्रवेश को आत्मा का ही निर्गमन

१—पुरुष शब्द में 'वस्' धातु का संप्रसारित रूप 'उष' है।
२—सांख्यकारिका ४० पर वाचस्पति मिश्र।

और प्रवेश कहने की पद्धति है। इस प्रकार मन की सहायता से आत्मा अलक्षित रूप से एक शरीर से दूसरे शरीर में सदा गति (संसरण) किया करता है; अतः इसे 'मनोजव' कहते हैं। आत्मा अथवा सूक्ष्म शरीर की यह क्रिया, शरीर से शरीर में गति कर्म के कारण होती है—अर्थात् कृत कर्मों के फल के भोग और नये कर्म करने के प्रयोजन से उसको नये-नये शरीरों का लाभ होता है। आत्मा अथवा मन का स्थान हृदय है। गर्भ में जब तक इसका निर्माण सम्पूर्ण नहीं हो जाता तब तक मन इसके द्वारा अपनी इच्छाएँ (राग-द्वेष) व्यक्त नहीं कर सकता। हृदय का निर्माण चौथे मास में सम्पूर्ण होता है, और उसके पश्चात् ही आत्मा (मन) पूर्व जन्म के अनुभव के अनुसार अपनी प्रिय-वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा (राग) तथा अप्रिय वस्तुओं से बचने को इच्छा (द्वेष) प्रकट करता है। ये इच्छाएँ गर्भिणी की इच्छा के रूप में सूचित होती हैं। गर्भिणी की गर्भस्थापन के पूर्व की इच्छाओं से ये इच्छाएँ विलक्षण होती हैं। इस कारण गर्भिणी को 'द्विहृदया' या 'दौहृदिनी' कहते हैं।

"यह सूक्ष्म शरीराधिष्ठित आत्मा मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि सर्वप्रकार के रूपों को धारण करता है, अतः इसे 'विश्वरूप' कहते हैं। स्थूल शरीरों में भी रहता हुआ यह मन की सहायता से (सत्त्वकरणः) विभिन्न प्रकार के कर्म करता है, अतः इसे 'विश्वकर्मा' कहा जाता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से युक्त होने से इसे 'सानुशय' कहते हैं। मन की सहायता से

मनन, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से दर्शन-स्पर्शन आदि ज्ञान, कर्मेन्द्रियों की सहायता से विभिन्न कर्म करने एवं नये-नये शरीरों के उत्पादक होने के कारण इस आत्मा को हेतु, कारण, निमित्त, कर्ता, मन्ता, वेदिता, वेदयिता, बोद्धा, स्प्रष्टा, द्रष्टा, घ्राता, श्रोता, रसयिता, गन्ता, साक्षी, वक्ता, धाता, ब्रह्मा (बुद्धि का स्वामी), क्षेत्रज्ञ, प्रभव और स्रष्टा कहा जाता है। अपने निर्माण के लिए भूतों का ग्रहण करने वाला होने से इसे ग्रहण, भूतों के गुणों से युक्त होने से गुणी, भूतों का अधिष्ठाता होने से भूतात्मा एवं इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से अन्तरात्मा कहते हैं।"

आयुर्वेदिक परम आत्मा

आयुर्वेद में उक्त आतिवाहिक शरीर युक्त आत्मा को ही परम आत्मा का यथार्थ स्वरूप माना गया है। नीचे सुश्रुत का एक वचन दिया जाता है, जिसमें परम-आत्माओं का अध्यात्मग्रन्थोक्त स्वरूप बता कर आयुर्वेदिक परम-आत्माओं से भेद बताया गया है। इससे आतिवाहिक शरीरयुक्त आत्मा का स्वरूप स्पष्ट होगा—

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च ; असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषव्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति, आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु सञ्चरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं ; त एतेऽनुमान-ग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वत लोहितरेतसोः संनिपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—'पञ्चमहाभूत—शरीरि समवायः पुरुषः' (सु० सू० १।२२) इति ; स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ॥ सु० शा० १।१६

अपरमपि सांख्यादिभ्यो भेदमायुर्वेदस्यात्मनि दर्शयन्नाह—न चेत्यादि।

किं तर्ह्यायुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः पुरुषा उपदिश्यन्ते सत्त्वोपाधिवशात् ; सांख्यादिषु पुनः सर्वगता एव क्षेत्रज्ञा उपदिश्यन्ते। एवमायुर्वेदपुरुषस्य प्रदेशवर्तिनोऽपि नित्यत्वं स्यादित्याह—नित्याश्च। 'उपदिश्यन्ते' इति शेषः। नित्यत्वं च कथमित्याह—असर्वगतेष्वित्यादि। हेतूनिति सद्-कारणवन्नित्यम् (च० शा० १।५६) इत्यादीन्। तथाहि—सन्नात्मा, सुखादिलिङ्गोपलम्भात् ; अविषयोऽकारणश्च, अतो नित्यः। तथाहि भोजः—"शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः। देहाद्देहान्तरं याति क्रिमि-वच्छाश्वतोऽव्ययः॥ नित्य इत्युच्यते सद्भिः सन्नकारणवान्यतः।"—इति। तदेवोपसंहरन्नाह—आयुर्वेदेत्यादि। × × × सुखदुःखाद्युपलब्धिरूपेण लिङ्गेनाव्यभिचारिणैते आत्मान उपलब्धारोऽनुमातव्याः। × × ×। एष एव च सूक्ष्मपुरुषाणां पञ्चमहाभूतानां च संयोगो वैद्यके षड्धातुकः पुरुषः परिभाषितः। × × ×। कर्मपुरुष इति कर्मफलभागित्यर्थः। तेन चिकित्सितकर्मफलमप्यवाप्नोतीत्युक्तं भवति॥ —डल्हन

"सांख्य आदि शास्त्रों में आत्माओं को सर्वव्यापक, क्षेत्रज्ञ (शरीर में रहकर ज्ञान, कर्म और कर्मफलोपभोग इन क्रियाओं के कर्ता) और नित्य कहा गया है। परन्तु आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि, आत्मा असर्वव्यापक, क्षेत्रज्ञ और नित्य है। उनकी यह असर्वव्यापकता उनके प्रधान कारण मन की (और उससे अधि-ष्ठित सूक्ष्म शरीर की) असर्वव्यापकता के कारण है। ये आयुर्वेद-संमत आत्मा (पूर्ववर्णित सूक्ष्म पुरुष रागद्वेषवश) शुभ-अशुभ कर्म करते हुए उनके फलरूप सुख-दुःख के उपभोग के लिए एक शरीर से दूसरे शरीर में सदा गति (संसरण) किया करते हैं।

ये परम सूक्ष्म, नित्य और चेतनावान् पुरुष इन्द्रियातीत होनेसे केवल अनुमान से ही जाने जा सकते हैं। शुक्र और शोणित का संयोग होने पर (गर्भ में सुखोपभोग आदि चैतन्य के लक्षणों को देखने से) इन आत्माओं के अस्तित्व का अनुमान होता है। इन आत्माओं और पञ्चमहाभूतों के संयोग रूप चेतन शरीर को वैद्यक में कर्मपुरुष आदि नाम दिये गये हैं।"

आशय यह कि आयुर्वेद में परम-आत्मा का विशेष प्रयोजन न होने से परम-आत्मा और सूक्ष्म शरीर के संयोग को ही आत्मा कहा गया है। जैसा कि पहले कह आये हैं, प्रत्येक आत्मा को सृष्टि के आरम्भ में पृथक्-पृथक् सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है। प्रलय आने पर यह सूक्ष्म शरीर नष्ट हो जाता है। आगामी सृष्टि के प्रारम्भ में पुनः नया सूक्ष्म शरीर प्रत्येक आत्मा को प्राप्त होता है। नये-नये सूक्ष्म-शरीरों की प्राप्ति, उनका और स्थूल शरीरों का संयोग इस संयोग के द्वारा ज्ञान-कर्म और फलोपभोग रूप क्रियाएँ—इन सबकी परम्परा तबतक सतत चालू रहती है, जबतक शुद्ध ज्ञान के उदय से आत्माको मोक्षलाभ नहीं होता।

अस्तु। क्रमशः परम-आत्मा और आतिवाहिक शरीरयुक्त आत्मा का वर्णन करके अब आयुर्वेदोक्त तीसरे आत्मा, का जिसका ऊपर कर्मपुरुष नाम से उल्लेख किया है, वर्णन करते हैं।

(३) *कर्म पुरुष*

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः ॥

च० सू० १ । ४६-४७

× × × त्रिदण्डः परस्परसंयोगविधृतः कुम्भादि धारकस्तद्वत् । एतेन यथा त्रिदण्डेऽन्यतमापाये नावस्थानं, तथा सत्त्वादीनामन्यतमापायेऽपि न लोकस्थितिरित्युक्तं भवति । लोकत आलोकत इति लोकः, तेनेह जङ्गमो भूतग्राम उच्यते । संयोगात्तिष्ठतीति परस्परोपग्राहकात् संयोगात् स्वार्थक्रियां कुर्वन्नविशकलितं भवति । अत्र तु पृथिवीन्द्रियग्रहणं न कृतं, शरीरग्रहणेनैव गृहीतत्वात् । तत्र सर्वं प्रतिष्ठितमिति तस्मिंल्लोके कर्मफलादि व्यवस्थितं, यद्वक्ष्यति–"अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम् । अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता" (च० शा० १ । ३७) इति । स पुमानिति तत्सत्त्वादित्रयं पुमानिति भण्यते । × × × चेतनमिति ज्ञानवत् । × × × अत्र सत्त्वमादौ कृतं, तदधीनत्वादात्मशरीरक्रियायाः, यदुक्तं–"अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः । युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः (च० शा० १ । ७५) इति । × × × अत्र चात्मग्रहणेन बुद्ध्यहंकारादीनां ग्रहणं, शरीरग्रहणेनेन्द्रियाणामर्थानां च शरीर संबद्धानां ग्रहणं व्याख्येयम् ॥ —चक्रपाणि

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः ।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः ॥
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्ट धातुकी ॥

च० शा० १ । १६-१७

खादयः 'खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा' (च० शा० १ । २७) इति वक्ष्यमाणाः । चेतना षष्ठा इत्यत्र चेतनाशब्देन चेतनाधारः समनस्क आत्मा गृह्यते ; खादिग्रहणेन चेन्द्रियाणि खादिमयान्यवरुद्धानि । अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतश्चिकित्साशास्त्रविषयः पुरुषः ; अयमेव पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः" (च० सू० १ । २२) इत्यनेन सुश्रुतेनाप्युक्तः । स्मृत इति भाषया पूर्वाचार्याणामप्ययं पुरुषशब्दवाच्योऽभिप्रेतो नास्मत्कल्पित इति दर्शयति । पुरि-शरीरे शेते इति व्युत्पत्या य आत्मा पुरुषशब्देनोच्यते तमाह—चेतनेत्यादि । अत्र पुरुष इति कर्तव्ये यत् पुरुषसंज्ञक इति करोति तेन न चेतनाधातुरूपः पुरुषश्चिकित्सायामभिप्रेतः, किंतु शास्त्रान्तरव्यवहारानुरोधादिहाप्ययं पुरुषशब्देन संज्ञित इति दर्शयति ; चिकित्साविषयस्तु षड्धातुक एव पुरुषः, अत एव तत्र संज्ञितग्रहणं न कृतम् । अयं च पुरुषशब्दोगवादावपि षड्धातुसमुदाये वर्तते, तथापि सर्वप्रधाने नर एव विशेषेण वर्तते ; तेन नातिप्रसिद्धो गवादौ पुरुषशब्दः । षड्धातुरूपमेव पुरुषं पुनः सांख्यदर्शनभेदाच्चतुर्विंशतिकभेदेनाह—पुनश्चेत्यादि । चतुर्विंशतिकमेव विभजते—मन इत्यादि । यद्यपि पञ्चविंशति तत्त्वमयोऽयं पुरुषः सांख्यैरुच्यते, यदाह—"मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (सांख्यकारिका ३) इति, तथापीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तसाधर्म्यः । तदव्यक्ताख्यां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति, तेन चतुर्विंशतिकः पुरुष इत्यविरुद्धम् ; उदासीनस्य हि सूक्ष्मस्य भेदप्रतिपादनमिहानतिप्रयोजनमिति न कृतम् । दशेन्द्रियाणीति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि च । अष्टधातुकीति खादिपञ्चकबुद्ध्यव्यक्ताहंकाररूपा ; वक्ष्यति

हि—"खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः" (च० शा० १।६३) इति ॥ —चक्रपाणि

पुरुषधारणाद्धातुः ॥ च० शा० १।२ पर —चक्रपाणि

गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः तं जीव इत्याचक्षते × × ×, स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनात्मानम्, आत्मसंज्ञा हि गर्भे ॥ च० शा० ३।१४

अन्तरात्मोच्यत इत्यनेन गर्भकारणभूतमात्मानं षड्धातुसमुदायवर्त्यात्मशब्दाभिधेयाद् व्यावर्तयति। × × × गर्भत्वेन जनयत्यात्मानमिति गर्भस्वरूपो यः षड्धातुक आत्मा, तं जनयतीत्यर्थः। गर्भस्यात्मशब्दाभिधेयतामाह-आत्मसंज्ञा हि गर्भे इति। तस्येत्यनेन परमात्मानं प्रत्यवमृशति ॥ —चक्रपाणि

शरीरादावप्यात्मशब्दो वर्तते, × × × उक्तं ह्यन्यत्र,—"ब्रह्मेन्द्रवाय्वग्निमनोधृतीनां धर्मस्य कीर्तेर्यशसः श्रियश्च। तथा शरीरस्य शरीरिणश्च स्याद्द्वादशस्वित्युक्त आत्मशब्दः" इति ॥ च० सू० ११५६ पर— —चक्रपाणि

अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्। × × × तस्योपकरणमन्यत् ॥ सु० सू० १।२२

× × × यद्यप्यत्र पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति सामान्येन पुरुषशब्देन पश्वादिरपि वाच्यः, तथापि मनुष्यजातिरेवात्र पुरुषशब्देनोच्यते, तस्योपकार्यत्वात्; इतरस्य चाप्राधान्यम्, उपकरणत्वात्; अत एवाह—तस्योपकरणमन्यदिति। तस्य मनुष्यजातेः पुरुषस्य, अन्यत् स्थावरसंस्वेदजादि, उपकरणम् ॥ —डल्हन

××× यतोऽभिहितं "पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः" (सु० सू० १।२२) इति ; स कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ॥ सु० शा० १।१६

एष एव च सूक्ष्मपुरुषाणां पञ्चमहाभूतानां च संयोगो वैद्यके षड्धातुकः पुरुषः परिभाषितः। कुतः परिभाषित इत्याशङ्क्याद्याध्यायोक्तं वाक्यं दर्शयति—यत इत्यादि। तस्य चिकित्सोपयोगितां निदर्शयन्नाह—स इत्यादि। कर्मपुरुष इति कर्मफलभागित्यर्थः। तेन चिकित्सितकर्मफलमप्यवाप्नोतीत्यर्थः ॥ —डह्लन

षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते ; तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते ॥ च० शा० ५।४

संयोगापेक्षी लोकशब्दः। षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः ॥ च० शा० ५।७

लोकशब्देनेह लोकत इति कृत्वा पुरुष एवोच्यते, न जगद्रूपो लोकः। ×× सर्वशब्देन सर्वप्राणिनोग्राहयति ॥ —चक्रपाणि

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥

च० शा० १।३५

अत्र च बुद्धिवृत्तीनां ज्ञानानां कथनेनैवाहंकारोऽपि सूचित एव ; यतोऽहंकारोपजीवितैवात्मादिसंवलितेयं बुद्धिः 'अहं पश्यामि' इत्यादिरूपा भवति ; तेन बुद्धेरहंकारस्य चोक्तत्वादवशिष्टमव्यक्तं कार्यद्वारा ब्रूते—बुद्धीत्यादि। परमित्यव्यक्तम्। बुद्ध्यादीनां योगं मेलकं धरतीति योगधरम् ; अव्यक्त

हि प्रकृतिरूपं पुरुषार्थप्रवृत्तं बुद्ध्यादिमेलकं भोगसंपादकं सृजति। एवं व्युत्पादितं चतुर्विंशतिकमुपसंहरति—चतुर्विंशतिक इत्यादि ॥—चक्रपाणि

अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता ॥

च० शा० १।३७

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन ॥

च० शा० १।५७

संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदना कृतः।

च० शा० १।८५

पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छा द्वेष कर्मजः

च० शा० १।५३

सांख्यादि शास्त्रों में आत्मा का जो निर्विकार स्वरूप बताया गया है, उसका उल्लेख ऊपर 'परम-आत्मा' नाम से किया गया। आयुर्वेद में उसको भी 'आत्मा' या 'पुरुष' कहा गया है, पर इस अर्थ में इन शब्दों का उपयोग मोक्ष-विद्या के प्रकरण में ही विशेष होता है। आयुर्वेद में 'आत्मा' की परिभाषा अपने तन्त्र में उपयोगार्थ अन्य ही स्वीकार की गयी है। संक्षेप में—आयुर्वेदोक्त आत्मा के दो स्वरूप हैं। इनमें एक का उल्लेख ऊपर किया गया है। यह वस्तुतः सूक्ष्म शरीर और 'परम-आत्मा' का संयोग है। प्रलय की समाप्ति के पश्चात् सृष्टि आरम्भ होने पर प्रत्येक

आत्मा को एक-एक सूक्ष्म शरीर उपलब्ध होता है। यह सूक्ष्म शरीर अगला प्रलय आने तक रहता है। प्रलयावस्था प्रारम्भ होने पर यह सूक्ष्म शरीर नष्ट हो कर आत्मा प्रलय-काल की समाप्ति होने तक अपनी निर्विकार 'परम आत्मा' नामक स्थिति में रहता है। सूक्ष्म शरीर और आत्मा का यह संयोग ही एक योनि से दूसरी योनि में जाता है—अर्थात् मृत्यु के समय मृत शरीर को छोड़ता और तत्काल शुक्रशोणित के संयोग से उत्पन्न होने वाले नये गर्भ में प्रविष्ट होता है। आयुर्वेद में आत्मा का दूसरा स्वरूप मनुष्य-पशु-पक्षी आदि के चेतन शरीर हैं। इन्हींका संहितानुसारी वर्णन आगे दिया जाता है।—

"गर्भ अथवा उसीके कालक्रम से हुए विकास से निष्पन्न हुआ चेतन शरीर 'आत्मा' अथवा 'पुरुष' है। अन्य शब्दों में कहना हो तो—मन; बुद्धि-अहंकारादियुक्त आत्मा; और इन्द्रिय तथा अपने घटक महाभूतों सहित शरीर—इन तीनों के संयोग को 'पुमान्' 'पुरुष' या 'चेतना' कहते हैं। जिस प्रकार किसी तिपाई (त्रिदण्ड) की स्थिति तीनों पायों की विद्यमानता से ही होती है—एक भी पाये का अभाव हो तो तिपाई बन नहीं सकती, वैसे ही आत्मा, मन और सेन्द्रिय शरीर इनमें से एक के भी अभाव में इस आयुर्वेद-संमत पुरुष का निर्माण नहीं हो सकता। जिस प्रकार तिपाई पर घड़ा आदि रहते हैं, उसी प्रकार इस पुरुष में ही कर्म, कर्मों का फल, सुख-दुःख; सुख-दुःख-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि का ज्ञान; अज्ञान, जन्म-

मरण और ममत्व रहते हैं। अकेला 'परम-आत्मा' या 'सूक्ष्म-शरीरयुक्त आत्मा' न किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न कोई कर्म कर सकता है न कर्मों का फल ही भोग सकता है। ये सब बातें मन आदि के संयोग में ही होती हैं। इस संयोग को पुरुष इसलिए कहा गया है कि, (आयुर्वेद के प्रतिपाद्य शारीर रोग इसी संयोग में होते हैं और) संपूर्ण चिकित्सा इसी संयोग-जन्य पुरुष को लक्ष्य में रख कर—इसीको विषय मान कर होती हैं। इसीके लिए आयुर्वेद (चिकित्सा शास्त्र) का प्रादुर्भाव हुआ है। इस विषय में विशेष यह जानना चाहिये कि यद्यपि आत्मा, मन और शरीर का उक्त संयोग जङ्गम प्राणीमात्र में पाया जाता है, और इस लक्षण के अनुसार प्राणीमात्र पुरुष शब्द वाच्य हैं, तथापि चरक-सुश्रुतादिप्रोक्त आयुर्वेद मनुष्य को ही लक्ष्य में रखकर बनाया गया है; एवं सृष्टि के अन्य सब स्थावर-जङ्गम पदार्थ मनुष्यों के उपकरणभूत हैं, तथा मनुष्य उनका उपकार्य है, अतः 'पुरुष' या 'आत्मा' शब्द से आयुर्वेद में मनुष्य (नर और नारी दोनों) का ही ग्रहण मुख्यतया होता है।

"पुरुष शब्द की यही परिभाषा वैशेषिक दर्शन के शब्दों में यों कही जाती है कि—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच महाभूत अर्थात् इनसे बनी इन्द्रियाँ, तथा मन-सहित (सूक्ष्म शरीर सहित) आत्मा (चेतना-धातु या शरीरी), इन छः धातुओं के समुदाय को 'पुरुष' कहते हैं।

"सांख्य के शब्दों में इसी बात को निम्न शब्दों में कहा जाता है—मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय ; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पांच विषय तथा मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पांच तन्मात्र इन आठ रूपोंवाली—ये चौबीस धातु मिलकर पुरुष कहाते हैं। यहां आत्मा का भी प्रकृति के समान अव्यक्त (अगोचर-अचिन्त्य) होने से प्रकृति शब्द से ही ग्रहण किया गया है। अन्यत्र सांख्यों ने पुरुष को पच्चीस तत्त्वोंवाला ही बताया है।

"वैशेषिकों और सांख्यों की परिभाषा में पुरुष के घटक महाभूत, आत्मा आदि छः, चौबीस या पच्चीस पदार्थों को धातु कहने का कारण यह है कि ये इस पुरुष का धारण अर्थात् निर्माण करते हैं।

"इस पुरुष के निर्विकार 'परम-आत्मा' अथवा 'सूक्ष्म शरीर-युक्त आत्मा' से पृथक् बोध के लिए इसे कर्मपुरुष, राशिपुरुष, संयोग पुरुष, समुदाय पुरुष, षड्धातुक पुरुष या चतुर्विंशतिक पुरुष कहते हैं। इन नामों का कारण स्पष्ट है। पूर्वोक्त दो पुरुष कर्म (कर्म, ज्ञान, फल) नहीं कर सकते, यह चेतन शरीर ही कर्म कर सकता है, अतः इसे कर्मपुरुष कहा है। आत्मा आदि का इसमें संयोग होनेसे इसे राशिपुरुष, संयोग पुरुष और समुदाय पुरुष नाम दिये हैं। वैशेषिक मत से छः धातुओं का तथा सांख्य मत से चौबीस धातुओं का संयोग होने से इसे षड्धातु या चतुर्विंशतिक पुरुष कहा है।

आयुर्वेदोक्त पुरुष उपनिषदों को भी अभिमत है ?

प्रतीत होता है, 'पुरुष' की जो व्याख्या आयुर्वेद ने मानी है, वह उपनिषत्कार को भी स्वीकृत है। नीचे दिये वचन में 'पुरुष' को अन्नरसमय कहा है, उससे यह बात सूचित होती है।—

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥

तैत्तिरीयोपनिषद, अनुवाक ब्रह्मानन्दवल्ली[1] १

आयु का लक्षण

ऊपर आयुर्वेदोक्त पुरुष का लक्षण बताते हुए जो बात कही है, वही अन्यत्र 'आयु' का लक्षण बताते हुए निम्न शब्दों में कही गयी है—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥

च० सू० १।४२

× × × शरीरं पञ्चमहाभूतविकारात्मकमात्मनो भोगायतनम् × × । यद्यपि शरीरग्रहणेनैव इन्द्रियाण्यपि लभ्यन्ते तथापि प्राधान्यात्तानि पुनः पृथगुक्तानि। अयं च संयोगः शरीरस्य क्षणिकत्वेन यद्यपि क्षणिकस्तथापि संतानव्यवस्थितोऽयमेकतयोच्यते। तस्यायुषः पर्यायानाह-धारीत्यादि। धारयति शरीरं पूतितां गन्तुं न ददातीति धारि। जीवयति प्राणान्

१—श्रुतियों के मत में यह शरीर क्षुद्र वस्तु नहीं है। प्रत्युत इसे देवनगरी कहा गया है। इस विषय में लेखक की 'शरीर क्रियाविज्ञान' के 'अथातो देह जिज्ञासा' शीर्षक के नीचे दिया अथर्ववेदीय सूक्त द्रष्टव्य है।

धारयतीति जीवितम्। नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छतीति नित्यगः। अनुबन्धनात्यायुरपरापरशरीरादिसंयोगरूपतयेत्यनुबन्धः। × ×। यद्यपि च नित्यगानुबन्धशब्दाभ्यां न क्वचिदप्यायुरभिधीयते, तथापि नित्यगत्वानुबन्धत्वधर्मख्यापनार्थमेवैतत्संज्ञाद्वयं बोद्धव्यं, धारिसंज्ञा त्वर्थेदशमहामूलीये भविष्यति॥

—चक्रपाणि

"शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनके संयोग का नाम आयु है। यह संयोग जीवन अर्थात् प्राण धारण का हेतु होने से जीवित कहलाता है। धारणकर्ता अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीर का सडांद (पूतिता) से रक्षणकर्ता होने से इसे धारि भी कहते हैं। नित्य गमनशील होने से इसका नाम नित्यग है। शरीर के पृथक् अवयव क्षणिक होते हुए भी नये-नये शरीर का मन आदि से संयोग निरन्तर (अनुबन्धयुक्त) होने से इसे अनुबन्ध कहा जाता है[1]।"

आत्मा की उल्लिखित परिभाषा आयुर्वेद में इसी दृष्टि से की गयी है कि आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय चेतन पाञ्चभौतिक शरीर है। परम-आत्मा को उसका अङ्ग मानने का प्रयोजन इतना ही है कि प्रत्येक परम-आत्मा के साधनभूत मन और इन्द्रियों का अस्तित्व आत्मा के ही कारण है। सच पूछो तो परम आत्मा स्वयं निर्विकार और निष्क्रिय ही रहता है। ज्ञान, क्रिया आदि

१—स्मरण रहे, आयु शब्द का वास्तविक अर्थ जीवन है, जिसे अंग्रेजी में लाइफ (Life) कहा जाता है। भाषा में इसका प्रयोग अवस्था या उम्र के अर्थ में होता है, जिसे अंग्रेज़ी में एज (Age) कहते हैं।

उसके सहकारी मन आदि में ही होते हैं। इस दृष्टि से वर्तमान वैज्ञानिक, जो आत्मा के अस्तित्व को न मानते हुए अथवा मानते हुभी भी शरीर विद्या के क्षेत्र में उसका विचार न करते हुए केवल प्रकृति के नियमों के ही अनुसंधान का प्रयास करते हैं, उसमें और आयुर्वेद के सिद्धान्त में कोई कहने योग्य प्रभेद नहीं है। आयुर्वेद के इस मत का हम पहले अनेक बार उल्लेख कर आये हैं कि, आयुर्वेद पाँच महाभूतों से परे किसी सूक्ष्म तत्त्व का विचार नहीं करता।

शरीर का लक्षण

आयुर्वेद में गर्भ तथा शरीर का लक्षण भी अन्य शास्त्रों से भिन्न बताया गया है। इन लक्षणों में भी वही वस्तु प्रतिपादित की गयी है जो ऊपर कर्मपुरुष एवं आयु के लक्षणों में कही गयी है। प्रथम गर्भ का लक्षण लिखते हैं—

शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति। गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। एवमनयायुक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधिष्ठानभूतः, स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः॥ च० शा० ४।५-६

× × × चेतनाधिष्ठानभूत इति आत्मनो भोगायतनस्वरूप इत्यर्थः, चेतनाशब्देन ह्यात्मोच्यते ; किंवा भूतशब्दः सादृश्ये, तेनाधिष्ठानमिवात्मनः शरीरं, न तु परमार्थतो निराश्रयस्यात्मनो भोगायतनत्वव्यतिरेकेण शरीरमाश्रयो भवति। —चक्रपाणि

अनया युक्त्येति अनया भूतविकाररूपया योजनया पञ्चमहाभूतविकार-समुदायात्मको भवति ; अन्यया युक्त्या कतिधापुरुषोक्तीयश्चतुर्विंशतिको भवति तथा मातृजादिरूपचिन्तया मात्रासमुदायात्मको भवतीत्यर्थः। न चैतेषां पक्षाणां विरोधोऽस्ति ; यतो मातृजादिव्यपदेशेऽपि पञ्चमहाभूत-विकारत्वमविरुद्धमेव, येन मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव। उक्तं हि—"रसात्ममाता-पितृसंभवानि भूतानि विद्याद्दश षट् च देहे (च० शा० २।३३) इति। चतुर्विंशतिकत्वेऽपि च पञ्चमहाभूतात्मकरूपतैव तत्र प्रपञ्चिता॥

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते[1]॥
सु० शा० ५।३

"गर्भाशय में शुक्र, शोणित (आर्तव) और आत्मा का जो संयोग होता है, उसका नाम गर्भ है। अन्य शब्दों में इसकी परिभाषा यों भी की जा सकती है कि आत्मा; मूल प्रकृति, बुद्धि-तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्र यह अष्टविध प्रकृति ; तथा पाँच महाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ ये सोलह विकार अर्थात् कुल पचीस तत्त्व मिलकर गर्भ कहाते हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से कहना हो तो—आत्मा का आश्रयभूत पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का जो समुदाय है, उसे गभ कहते हैं। आत्मा इस गर्भ का छठा धातु है।"

गर्भ का लक्षण लिख कर अब शरीर का लक्षण लिखते हैं—

१—यह सम्पूर्ण वचन तथा इसकी डल्हनकृत टीका आगे शरीर के लक्षण के प्रसंग में देखिये।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम् ।
च० शा० ६।४

× × चेतनाशब्देन ज्ञानकारणमात्मोच्यते, भूतशब्द उपमाने ; तेन चेतनाया आत्मसंबन्धिन्याः शरीरे एवोपलभ्यादात्मनः शरीरमधिष्ठानमिति भवति ; परमार्थतस्तु चेतना आत्माश्रया, आत्मा च निराश्रय एव ; किंवा चेतनस्यात्मनोऽधिष्ठानभूतम् । पञ्चानां महाभूतानां विकारा रसादयः शरीरारम्भकाः, तेषां समुदायो मेलकः, स आत्मा स्वरूपं यस्य तत्तथा । समुदायशब्देन च समुदायारम्भका धातव एवोच्यन्ते । तेन, न संयोग-मात्रस्य शरीरत्व प्रसक्तिः । किंवा, समुदायः संयोग एवोच्यताम्, तथापि समुदाय आत्मा कारणं यस्य शरीरस्य द्रव्यरूपस्य तत् पञ्चमहाभूतविकार-समुदायात्मकं शरीरमेव ॥ —चक्रपाणि

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते । तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्ण-नितम्बादिभिरुपेतस्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञां लभते ॥ सु० शा० ५।३

× × आत्मा क्षेत्रज्ञः, प्रकृतयः प्रधानादयोऽष्टौ, विकाराः पञ्चभूतान्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडश, तैः संमूर्च्छितं मिश्रीभूतं 'गर्भ' इति संज्ञां लभते ; एतेन योगिनामुपयोगी पञ्चविंशतिको राशिरुक्तः । तमिदानीं भिषजामुपयोगिनं षड्धातुकं कृत्वा निर्दिशन्नाह—तमित्यादि । चेतनया हेतुभूतया यावद्गर्भप्रसवकालमवस्थितं चेतनावस्थितम्, अन्यथा कुथित-विशीर्णं स्यात् । ते वायुर्विभजति दोषधातुमलाङ्गप्रत्यङ्गविभागेन ; तेज एनं पचति रूपाद्रूपान्तरेणावस्थानं प्रापयति ; आपः क्लेदयन्ति विभाग-

परिणामकारिणोरनिलानलयोः शोषणेऽप्यार्द्रतां जनयन्ति ; पृथिवी संहन्ति अद्भिः क्लिन्नमपि कठिनं मूर्तिमत् करोति, × × आकाशं विवर्धयति अनिलानल विदारितस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमधस्तिर्यग्विवर्धितमवकाशदानेन विवर्धयति ॥ —डल्हन

गर्भ का ही विकसित-विवर्धित-रूप शरीर कहाता है।

"पाँच महाभूतों की निज-निज क्रिया से जब गर्भ में क्रमशः हाथ, पैर, जिह्वा, नासिका, कर्ण नितम्बादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग सम्पूर्ण बन जाते हैं, तब आत्मा के आश्रयभूत तथा पाँच महाभूतों के विकारभूत रस-रक्तादि द्रव्यों के समुदाय रूप उसी गर्भ को शरीर कहा जाता है।

"गर्भ की अभिवृद्धि और शरीर के निर्माण में पृथक्-पृथक् महाभूतों के कर्म निम्नलिखित हैं।—दोष, धातु, मल, अङ्ग, प्रत्यङ्ग आदि के रूप में विभजन का काय वायु करता है। अग्नि रसादि को रक्तादि धातुओं के रूप में परिवर्तित करता है। इस कार्य को पाक कहते हैं। जल शरीरावयवों में क्लेद या आर्द्रता स्थापित करता है—अर्थात् वायु और अग्नि अपना-अपना कार्य करते हुए शरीर में जो शुष्कता उत्पन्न करते हैं उसे दूर कर आर्द्रता उत्पन्न करने का कार्य जल करता है। पृथिवी का कार्य धातुओं आदि को मूर्त (कठिन, स्थूल, घन) स्वरूप प्रदान करना है। अर्थात् शरीरवयवों में द्रवत्व और आर्द्रता का कारण जल है तो शेष घन भाग का कारण पृथिवी है। आकाश शरीरावयवों और शरीर की वृद्धि करता है। अर्थात् अग्नि और वायु को

क्रिया से शरीर में सर्वत्र जो स्रोत और आशय बनते हैं, उन्हीं को और विस्तृत कर उनमें विशेष अवकाश (खाली स्थान) उत्पन्न कर शरीर को विशाल बनाने का कार्य आकाश करता है।

"इस शरीर को आत्मा का आश्रय कहने का अभिप्राय यह है कि यों आत्मा सर्व व्यापक है, परन्तु उसका चैतन्य रूप लक्षण शरीर में ही अभिव्यक्त होता है, अतः शरीर को ही उसका आश्रय कहा जाता है।"

गर्भ और शरीर का ऊपर जो लक्षण दिया है, उस से स्पष्ट विदित होगा कि इन शब्दों का यह अर्थ लोक में प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न है। प्रसव काल के पूर्व तक गर्भाशयस्थ भ्रूण को लोक में गर्भ कहा जाता है। पर यहाँ कहा गया है कि अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्पष्ट बनने के पूर्व तक ही उसे गर्भ कहा जाता है। यह अवस्था कोई चौथे मास तक रहती है। इसके पश्चात् भ्रूण को शरीर कहा जाता है[१]।

राशिपुरुष की उत्पत्ति का कारण

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या निवर्तते॥

च० शा० १। ३६

संप्रत्येवंरूपपुरुषस्य सकारणं संसरणं मोक्षहेतुं चाहरज इत्यादि।

१—अंग्रेजी में गर्भ को Embryc—एम्ब्रियो, तथा शरीर को Foetus—फीटस कहते हैं।

संयोगोऽयमिति चतुर्विंशतिराशिरूपो मेलकः। ताभ्यामिति रजस्तमोभ्याम्। सत्त्ववृद्ध्या कारणभूतया रजस्तमोनिवृत्या पुरुषरूपः संयोगो निवर्तते मोक्षो भवतीत्यर्थः। सत्त्वं वृद्धं विशुद्धज्ञानजननाद् रजस्तमसी संसारकारणे विजित्य प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानान्मोक्षमावहति ॥ —चक्रपाणि

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः॥
च० शा० १।५३

प्रभवः कारणम्। राशिसंज्ञ इति षड्धातुसमुदायरूपश्चतुर्विंशतिराशिरूपो वा। मोहेच्छाद्वेषजनितकर्मजो मोहेच्छाद्वेषकर्मजः। मोहाद्धि भावेषु इच्छा द्वेषश्च भवति, ततः प्रवृत्तिः, प्रवृत्तेर्धर्माधर्मौ, तौ च शरीरं जनयतो भोगार्थम्॥ —चक्रपाणि

आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम्॥ सु० शा० १।१६[१]

पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते॥
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततांपुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्त्तते॥
च० शा० १।६८

एवमादिसर्गे प्रकृतेर्महदादिसर्गं दर्शयित्वा महाप्रलये प्रकृतावव्यक्तरूपायां बुद्ध्यादीनां लयमाह—पुरुष इत्यादि। इष्टैर्भावैरिति पुरुषोपभोगार्थमिष्टै-

---

१—संपूर्ण सूत्र तथा उसकी व्याख्या 'आयुर्वेदिक परम आत्मा' शीर्षक के अन्तर्गत ऊपर देखिये।

बुद्धयादिभिः । × × × । एतदेव प्रपञ्चं लयं च प्रकृतेराह—अव्यक्तादित्यादि । अव्यक्तादिति प्रकृतेः, व्यक्ततामिति महदादिमहाभूतपर्यन्तप्रपञ्चरूपतां याति गच्छति ; महाप्रलये हि महाभूतानि तन्मात्रेषु लयं यान्ति, तन्मात्राणि तथेन्द्रियाणि चाहंकारे लयं यान्ति, अहंकारो बुद्धौ, बुद्धिश्च प्रकृताविति लयक्रमः । अयं च लयक्रमो मोक्षेऽपि भवति । परं तु तत्र तं पुरुषं प्रति पुनः सर्गं नारभते प्रकृतिः । अयं संसारः कुतो भवतीत्याह—रज इत्यादि । आविष्टो युक्तः । चक्रवत् परिवर्तत इति पुनः पुनर्लयसर्गाभ्यां युज्यते ॥ —चक्रपाणि

रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ।
ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः ॥
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं ।
मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥

च० शा० २ । ३८

× × × रजस्तमोभ्यां हेतुभूताभ्यां मनः सर्वैर्भूतादिभिरनुबद्धं भवति × × ज्ञानादिति तत्त्वज्ञानात् । × × गतिर्देहान्तरगमनं, प्रवृत्तिर्धर्माधर्मक्रियासु प्रवृत्तिः । सदोषत्वेन मनः संसारहेतुर्भवतीति वाक्यार्थः । गतिप्रवृत्त्योर्हेत्वन्तरमाह—बलवच्च कर्मेत्यादि । बलवदिति नियतविपाकम् ॥

—चक्रपाणि

(वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो) दोषसंग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

च० सू० १ । ५७

मानसदोषमाह—मानसः पुनरित्यादि । पुनःशब्दोऽवधारणे, तेन मानस उद्दिष्ट एव परं न शारीरदोषवत्प्रपञ्चितः, मानसदोषाणामस्मिंस्तन्त्रे कायचिकित्सारूपेऽप्रास्ताविकत्वादिति भावः । आदौ रज उक्तं प्राधान्यात्, वचनं हि "नारजस्कं तमः प्रवर्तते" (च० वि० ६ । ९) इति । एव शब्देन सत्त्वाख्य गुणस्यादोषत्वमवधारयति, सत्वं ह्यविकारि ॥

—चक्रपाणि

प्रसंगवश आयु आदि शब्दों की व्याख्या करके अब हम पुनः अपने प्रस्तुत विषय पर आते हैं। "पहले कह आये हैं कि प्रलयकाल आने पर सृष्टि के समग्र स्थावर-जङ्गम द्रव्य जिन महाभूतों से बने हैं वे महाभूत अपने आरम्भक (बनाने वाले) तन्मात्रों के रूप को प्राप्त हो जाते हैं—उनमें लीन हो जाते हैं। ये तन्मात्र तथा इन्द्रियाँ अपने आरम्भक अहंकार में लीन हो जाते हैं, अहंकार बुद्धितत्त्व में तथा बुद्धितत्त्व मूल प्रकृति में लीन हो जाता है। इस प्रकार समग्र सृष्टि आदि प्रकृति के रूप में अपने मूल स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। प्रलयकाल समाप्त होने तथा नया सृष्टिकाल प्रारम्भ होने पर पुनः पूर्वोक्त क्रम से सृष्टि-रचना प्रारम्भ होकर अन्त में स्थावर-जङ्गम असंख्य द्रव्य बनते हैं।

"जीवात्माओं को कर्म तथा कर्म फलोपभोगार्थ प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में मूल प्रकृति से उत्पन्न बुद्धितत्त्व, मन, पञ्चतन्मात्र आदि से निर्मित जो सूक्ष्म लिङ्ग शरीर प्राप्त होता है, वह भी प्रलय काल उपस्थित होने पर उपरिलिखित क्रम से अपने मूल रूपमें

लीन हो जाता है, और केवल आत्मा अपने एकाकी स्वरूपमें रह जाता है। प्रलय की समाप्ति होने पर अन्य द्रव्यों के समान यह लिङ्ग शरीर भी उत्पन्न होता है तथा आत्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने, कर्म करने तथा उनका फल भोगने में सहायक (साधन) होता है।

"मोक्ष में, जब कि जीव जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है उस समय, भी जीव प्रलय काल के समान लिङ्ग शरीर रहित होता है। भेद केवल यह होता है कि, बद्ध (जिसे मोक्षलाभ नहीं हुआ है, वह) जीव तो पुनः अगला सृष्टि काल आरम्भ होने पर नया लिङ्ग शरीर प्राप्त करता है तथा पुनः अगले प्रलय तक जन्म और मरण के तथा उनके द्वारा कर्म और कर्म-फलोप भोग के चक्र में पड़ता है। परन्तु, मुक्त पुरुष को नया सृष्टि काल प्रारम्भ होने पर भी लिङ्ग शरीर नहीं प्राप्त होता है (—वह अपने स्वात्म रूप में ही रमण करता है। यह मोक्ष अमुक अवधितक ही रहता है, या सदा के लिए प्राप्त हो जाता है, यह एक पृथक् प्रश्न है, जिस पर पण्डितों में ऐकमत्य नहीं है।)

"जन्म मरण का यह चक्र अथवा लिङ्ग शरीर युक्त जीवात्मा की एक योनि (देह) से दूसरी योनि में गति-संसरण या संसार कहाती है। इस संसार चक्र का मूल कारण रज और तम ये मानस दोष हैं। वात-पित्त-कफ जिस प्रकार शरीर के यावत् रोगों के कारण हैं अतः 'शारीर दोष' कहाते हैं, उसी प्रकार रज और तम मानस दोष हैं—मन के समस्त विकारों या रोगों

के आदि मूल हैं। तमोगुण के आधिक्य से पुरुष में (मन में) मोह अर्थात् अज्ञान या मिथ्या ज्ञान होता है, वह सृष्टि के पदार्थों को अपने सुख और दुःख का कारण समझता है, तथा जिन वस्तुओंको अपने सुख का हेतु मानता है उनके प्राप्त करने की इच्छा तथा जिन्हें दुःख का हेतु मानता है उनके प्रति द्वेष (उनके परिहार की—उनसे बचने की इच्छा) उसके मन में उदित होती है।

इस इच्छा और द्वेष के कारण पुरुष में इष्ट (अभीष्ट) वस्तुओं की प्राप्ति तथा द्विष्ट (अनभीष्ट—अनभिमत) वस्तुओं के परिहार के लिए प्रवृत्ति या कर्म करता है। ये प्रवृत्तियां शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती हैं। शुभ प्रवृत्तियों का फल धर्म होता है, और अशुभ प्रवृत्तियों का फल अधर्म। धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुःख होता है[1]। इन फलों के भोग के लिए पुरुष को बलात् शरीर धारण करना पड़ता है। इसी लिए नैयायिकों ने शरीर का यह लक्षण किया है—"आत्मनो भोगायतनं शरीरम्" अर्थात् आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के फल का उपभोग जिसके आश्रय से करता है, उस साधन का नाम शरीर है।

"उत्तरोत्तर शरीरों की प्राप्ति की यह परम्परा (सिल सिला) तब तक जारी रहती है, जब तक सत्त्व-गुण का उदय होकर पुरुष

१—स्मरण रहे, भाषा में धर्म-अधर्म का अर्थ शुभ-अशुभ कर्म प्रसिद्ध है। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ शुभ-अशुभ कर्मों से उत्पन्न तथा सुख-दुःख के उत्पादक आत्मा के गुण-विशेष हैं। इन्हें दार्शनिक परिभाषा में 'अदृष्ट' तथा सामान्य भाषा में 'दैव' कहा जाता है।

तम और रज इन दोषों से मुक्त नहीं हो जाता—तथा तमोगुण-जन्य मोह और रजोगुण जन्य प्रवृत्ति के वश नहीं होता। सत्त्व गुण का उद्रेक (प्राबल्य) होने पर उसे तत्त्वज्ञान होता है—वह सांसारिक पदार्थों से सुख की आशा छोड़ देता है। परिणाम स्वरूप वह इच्छा द्वेष के वशीभूत होकर कोई प्रवृत्ति नहीं करता। (जो प्रवृत्ति करता है। वह श्री मद्भगवद्गीता आदि में कहे प्रकार से निष्काम भाव से करता है, जिससे उसे उसके फल का लेप नहीं होता। फल यह होता है कि तत्त्व ज्ञान प्राप्त होने के पूर्व उसने जो प्रवृत्तियाँ (कर्म) सकाम भाव से की हैं, उनका फल भोग चुकने के पश्चात् उसे किसी कर्म का फल भोगना शेष नहीं रहता—परिणामतया उसे शरीर-ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरे शब्दों में वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है—मोक्षलाभ करता है। इसके विपरीत)—

"जब तक पुरुष या मन तमोगुण और रजोगुण से आविष्ट रहता है—तब तक मोह-इच्छा द्वेष-प्रवृत्ति-धर्माधर्म और शरीर का क्रम अविच्छिन्न रहता है। आयुर्वेद की संज्ञा में कहना हो तो छः, चौबीस (या पच्चीस) तत्त्वों का संयोग, जिसे राशि पुरुष आदि नाम दिये गये हैं, तब तक रहता है जब तक उसमें रजोगुण और तमोगुण का प्राबल्य रहता है—जब तक सत्त्व गुण उदित होकर इन गुणों (दोषों) को परास्त नहीं कर देता। सत्त्व गुण का उदय होने पर उल्लिखित कारण से यह क्रम नष्ट होकर पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।"

कर्म पुरुष में मन का कर्तृत्व

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः ।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥

च० शा० १।७५-७६

× × चेतयिता पर इति पर आत्मा चेतयिता परं, न तु साक्षात् क्रियावान् । ननु यद्येवं कथं तस्य क्रियेत्याह-युक्तस्येत्यादि ! आत्माधिष्ठितस्यैव मनसः क्रिया उपचारादात्मनः क्रियेत्युच्यते इत्यर्थः । एतदेवोपपादयति—चेतनेत्यादि । चेतनेनह्यात्मनाऽधिष्ठितं मनः क्रियासु प्रवर्तत, चेतनानधिष्ठितं मनः क्रियासु न प्रवर्तते ; तेन यत्कृता सा क्रिया स एव क्रियावानिति व्यपदेष्टुं युज्यते न त्वचेतनं मनः ; तत् पराधीनक्रियत्वेन परमार्थतः क्रियावदपि कर्तृत्वेन नोच्यत इति वाक्यार्थः । नोच्यते इति 'कर्तृ' इति शेषः ॥ —चक्रपाणि

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥
पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥
करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च ।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेब च ॥

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाऽश्नुते फलम् ।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन ॥
न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥

च० शा० १।५४-५८

× × × तत्त्वमिति दर्शनविशेषणम् । तेन, म्लाने दर्पणे जले वा दर्शनं भवदप्ययथार्थग्राहितया न तत्त्वरूपं भवतीत्यर्थः । चेतसीत्युपलक्षणं तेन चक्षुरादावप्युपहत इति ज्ञेयम् × × × ॥ —चक्रपाणि

"जीवात्मा (परम आत्मा) अकेला न किसी विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न किसी प्रकार का कर्म कर सकता है और न ही कर्मों के फल का भोग कर सकता है। ज्ञान. कर्म और कर्मफल का उपभोग करने के लिए आत्मा को कुछ करण अर्थात् साधन की आवश्यकता होती है। ये करण निम्नोक्त हैं-मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। इन करणों के संयोग (समुदाय) से ही ज्ञानादि का संपादन होता है---इसके बिना नहीं। ये करण न होने से जिस प्रकार ज्ञान आदि नहीं होते, उसी प्रकार इनके मलयुक्त (दोषयुक्त) होने से अथवा अन्य प्रकार से शक्तिहीन होने से विषय-ग्रहण यथाथ नहीं होता, जैसे दर्पण या जल मलिन हो तो उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब भी सुस्पष्ट और यथार्थ नहीं होता।

" (आगे हम देखेंगे कि दोनों प्रकार की इन्द्रियों की क्रिया मन के नेतृत्व में होती है यह) मन ही ऊपर लिखी ज्ञान (विषय-

ग्रहण) आदि समस्त क्रिया करता है—वही वस्तुतः क्रियावान् या कर्ता है। परन्तु मन क्योंकि स्वयं अचेतन है—उसमें ऊपर लिखे विषय-ग्रहण आदि चैतन्य के लक्षण आत्मा के कारण आते हैं—आत्मा उसका चेतयिता (चैतन्य का हेतु) है, अतः आत्मा को ही कर्ता कहने का प्रचार है—कर्ता होते हुए भी अचेतन होने से मन को कर्ता या क्रियावान् नहीं कहते।"

जन्म-मरण का वास्तविक स्वरूप

"पहले भी कह आये हैं कि आत्मा जो एक योनि या देह को छोड़ कर दूसरी योनि में जाता है, उनमें भी निमित्त मन ही है। इस विषय में जन में प्रसिद्ध सामान्य मन्तव्य यह है कि मृत्यु के समय आत्मा ही शरीर को छोड़ता है, तथा जन्म के समय आत्मा ही पूर्व देह को छोड़कर नये शरीर या गर्भ में प्रवेश करता है। परन्तु आत्मा तो सांख्य मतानुसार आकाशवत् सर्वत्र व्यापक है। न वह मृत शरीर से बाहर निकलता है और न ही उसका नये गर्भ शरीर में अभूतपूर्व प्रवेश होता है—वह तो वहां भी पहले से ही विद्यमान है और पूर्व शरीर में भी मरण के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। इस विषयमें वस्तुस्थिति यह है"—

× × × अस्ति च खलु सत्त्वमौपपादुकमिति ॥

च० शा० ३।३

औपपादुकमिति आत्मनः शरीरान्तरसंबन्धोपपादकम्। एतच्च व्याकृतमेव पूर्वम् ॥ —चक्रपाणि

अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं, यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसंबध्नाति, यस्मि-

ऽपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलंहीयते, व्याधय आप्याय्यन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते ॥ च० शा० ३।१६

××× नित्यमात्मानं स्पृशतीति स्पृक् शरीरमातिवाहिक-शरीरम, तेन स्पृक्शरीरेण कारणभूतेन जीवमात्मरूपमभिसंबध्नाति भोगायतनशरीरेणेत्यर्थः। आतिवाहिकशरीर सद्भावश्च 'भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्" (च० शा० २।३१) इत्यनेन प्रतिपादितः। किंवा, जीवमात्मानं स्पृक्शरीरेणेति स्पर्शवता शरीरेण, यन्मनोऽभिसंबध्नाति तदुपपादुकमस्तीति योजना। एवं मन्यते-यदि मनोऽत्रात्मनः शरीर संवन्धेन स्वीक्रियते तदा व्यापकत्वादात्मनः सर्वत्रैवोपलब्ध्या भवितव्यं, न च भवति; तस्माद्यत्रैव स्पर्शवति शरीरे मनः प्रतिबद्धं भवति तत्रैवायं सुखाद्युपलभते[1] ॥

—चक्रपाणि

"मन ही आत्माका विभिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंसे सम्बन्ध कराता है। सूक्ष्म शरीरके द्वारा वह आत्माको स्थूल-भोग के साधनभूत शरीरसे संयुक्त करता है। यही मन अथवा उससे उक्त सूक्ष्म शरीर (मृत्युकाल उपस्थित होनेपर) जब स्थूल शरीरको छोड़नेको उद्यत होता है, तब पुरुषका स्वभाव और रुचियाँ बदल जाती हैं, सब इन्द्रियाँ विकल हो जाती हैं, बल क्षीण हो जाता है, रोगोंके लक्षण बढ़ जाते हैं (तथा अन्य अरिष्ट—मरणके सूचक चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं)। इस मनके शरीरको छोड़कर चले जाने पर ही

१—इस विषयके अन्य प्रमाण—च० शा० २।३१ आदि—ऊपर 'आतिवाहिक शरीर युक्त आत्मा' तथा आयुर्वेदिक परमआत्मा शीर्षकके नीचे देखिये।

प्राण भी शरीरको छोड़ देते हैं-- पुरुष की मृत्यु हो जाती है। (और जैसा कि पहले कह आये हैं; यही मन अथवा उससे युक्त सूक्ष्म शरीर जब गभ शरीरमें प्रविष्ट होता है तो गर्भमें चैतन्यके लक्षण उत्पन्न होते हैं, तथा उसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार वस्तुतः पूर्व शरीरसे निर्गमन और नये शरीरमें प्रवेश वस्तुतः मन और सूक्ष्म शरीरका ही होता है, पर क्योंकि मन की भी क्रिया का कारण आत्मा है, अतः उसके निर्गमन और प्रवेशको आत्मा का ही निर्गमन और प्रवेश कहने का प्रचार है।)"

छठा अध्याय

—:*:—

कर्म पुरुषके गुण

अथातः पुरुष विज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहु-रात्रेयादयो महर्षयः ॥

पिछले अध्यायमें सांख्यमतसे पुरुषके स्वरूपका प्रतिपादन करके कर्मपुरुष अर्थात् आयुर्वेदके आचार्यों द्वारा परिभाषित पुरुष का वर्णन किया गया । इस अध्यायमें कर्मपुरुषके विषयमें ही अन्य ज्ञातव्य बातोंका निर्देश किया जाता है ।

मनके सात्विक आदि भदोंसे पुरुषोंके भेद

तत् (मनः) त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं, राजसं, तामसमिति ॥ येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं तेन द्वितीयायामाजातौ संप्रयोगो भवति ॥

च० शा० ३।१९

नानाविधानि खलु सत्त्वानि, तानि सर्वाण्येक पुरुषे भवन्ति, न च भव-न्त्येककालम्, एकं तु प्रायोवृत्त्याऽऽह ॥ च० शा० ३।१९

नानाविधानीति नानाविधसात्त्विक राजसतामसवृत्तिभिन्नानि । तान्येक पुरुषे भवन्तीत्यनेनैक एव पुरुषः कदाचिद्धार्मिकक्रियायां सात्त्विको भवति, कदाचित्कामचिन्तायां राजसः, कदाचिन्मोहे तमोमय इति दर्शयति । न भवन्त्येक कालमिति एकदैव सात्त्विकादयो धर्मा न भवन्ति, किंतु पर्यायेण भवन्ति । ननु यद्येकपुरुष एव सर्वे सात्त्विकादयो भवन्ति, तत्कथमयं

सात्विक इत्यादिव्यपदेशो भवतीत्याह--एकं त्वित्यादि । प्रायोवृत्त्येति भूयिष्ठा यस्य सात्विकवृत्तयो भवन्ति स सात्विकः, यस्य भूयिष्ठं राजस्यो वृत्तयो भवन्ति स राजस उच्यते इत्यादि । एतदेव पूर्वमुक्तम्–"यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्वं, तद्गुणमेवोपदिशन्ति बाहुल्यानुशयात् (च० सू० ८।६) ॥

—चक्रपाणि

ननु यद्येकस्मिन्नेव पुरुषे कदाचिद्रजोयुक्तं कदाचित्तमोयुक्तं कदाचित् सत्त्वयुक्तं मनोभवति तत्कथमयं सात्त्विकोऽयं राजस इत्यादि व्यपदेशो भवतीत्याह–यद्गुणमित्यादि । × × × । बाहुल्यानुशयात् भूरिसंबन्धादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति–सत्यपिगुणान्तरान्वये सत्त्वबाहुल्यात् सत्त्वकारणानि सत्यशौचादीनि यस्य भवन्ति स सात्त्विक इति व्यपदिश्यते; एवमपरमपि व्याख्येयम् ॥

—चक्रपाणि

तत्रकारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥

सु० शा० १।१०

× × कारणस्य प्रकृतेरनुरूपं सदृशं कार्यंमहदादिकम् । विशेषाः प्रकारा महदादिकाः । संयुक्तस्य पञ्चविंशति तमस्य पुरुषस्यापि सत्त्वादिगुणत्वं दर्शयन्नाह–तदञ्जनत्वादि-त्यादि । तेषां सत्त्वरजस्तमसामञ्जनं लक्षणं व्यक्तिर्वा येषु ते तदञ्जनाः पुरुषाः, सत्त्वादिलक्षणा इत्यर्थः, तेषां भावस्तत्वं तस्मात् । तदेव कुत इत्याह–तन्मयत्वादिति । सत्त्वादिमयत्वात् । सत्वादिमयत्वं पुनः पुरुषाणां सत्वादिरूपे महदादौ प्रतिबिम्बनात्; यथा तडागोदके प्रतिबिम्बितो विधुस्तडागोदकप्रकम्पनेन प्रकम्पात्मकः कथ्यते एवं सत्वादिरूपे महदादौ प्रतिबिम्बिताः पुरुषाः सत्त्वादिमया इव भवन्ति, न तु वास्तवं सत्त्वादिमयत्वं

तादृशाच तन्मयत्वात् तल्लक्षणत्वेन तद्गुणाः सुखिनो दुःखिनो मूढाश्च पुरुषा भवन्ति । गयी तु तैः सत्वादिभिरञ्जनं व्यक्तिर्यस्य महदादेस्तत् तदञ्जनं, तदस्यास्तीति मत्वर्थीयोऽकारप्रत्यय इति ; तत्संबन्धात् पुरुषस्य सत्वादिभिरेवाञ्जनं महदादीनां ; कुत इत्याह—तन्मयत्वात् ; सत्वादिप्रकृतिकारणत्वात् ; तेषां तदञ्जनत्वं च निर्विकारस्यापि विकारिवस्तुसंयोगात् ; यथा संध्यारागि-रविकरनिकर संयोगादरुणगगनतलोपलम्भ इति । पूर्वोक्तस्य सर्वस्याप्येकीयमतत्त्वं दर्शयन्नाह—इत्येके इत्यादि ॥ —डल्हन

"कारण के गुण कार्य द्रव्य में भी उतरते हैं—इस नियम के अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न हुए महत्तत्त्वादि चौबीस पदार्थों में भी सत्त्व-रज-तम तीनों गुण होते हैं। इन चौबीस तत्त्वों में मन भी एक तत्त्व है। इसमें भी ये तीनों गुण विद्यमान होते हैं। यह मन कभी सत्त्वगुणयुक्त होता है, कभी रजोगुणयुक्त और कभी तमोगुणयुक्त, जिससे एक ही पुरुष कभी शान्त, कभी क्रुद्ध और कभी निष्क्रिय देखा जाता है। तथापि, देखा जाता है कि प्रत्येक पुरुष के मन में एक-एक गुण की अधिकता होती है, जिससे उसके अधिकांश कार्यों में उसी गुण के सदृश कर्म अधिकतया देखने में आते हैं। इसी अधिक गुण को दृष्टिगत रख कर मन को सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है। मन के इन सात्त्विकादि भेदों के अनुसार ही पुरुषों को भी सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है ; जैसे जिस पुरुषमें सत्य, शुद्धि, सुख आदि सत्त्वगुण के चिह्न (कर्म) अधिकतया देखे जाते हैं, वह सात्त्विक कहा जाता है ; जिसमें (रोष), दुःख आदि रजोगुण के

कर्म अधिक देखे जाते हैं, वह राजस और जिसमें मूढ़ता (अज्ञान, मिथ्या ज्ञान) आदि तमोगुण के कर्म अधिक देखे जाते हैं वह तामस कहा जाता है।

"कुछ आचार्य कहते हैं कि पुरुषों अथवा जीवात्माओं में भी तीनों गुण होते हैं, क्योंकि उनमें इन तीन गुणों के लक्षण (गुणों के अनुरूप विभिन्न कार्य) देखे जाते हैं। अतः वे भी जानो त्रिगुणात्मक होते हैं। यद्यपि वास्तव में वे त्रिगुणात्मक (तीनों गुणों से निर्मित) नहीं हैं तथापि जैसे चन्द्रमा स्वयं काँपता नहीं, परन्तु काँपते हुए जलाशय में प्रतिविम्बित होने पर वह काँपता-सा प्रतीत होता है, इसी प्रकार त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वादि में प्रतिबिम्बित हुए जीव भी त्रिगुणात्मक प्रतीत होते हैं। अथवा—

"जैसे सायंकाल को रक्तवर्ण सूर्य की किरणों के संग से आकाश भी अरुणवर्ण हो जाता है, वैसे निर्विकार भी जीवात्मा मन आदि विकारी द्रव्यों के संग से त्रिगुणमय हो जाते हैं, जिससे उनमें तीनों गुणों के कर्म भी देखे जाते हैं।"

सात्त्विक आदि पुरुषों के लक्षण

सात्त्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च ; राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहंकार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च ; तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिकत्वमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥ सु० शा० १।१८

××× सत्यं भूतहितं तथ्यं वचो वा। धर्मः कायवाङ्मनोभिः सुचरितम्। अस्ति धर्ममोक्षपरलोकादिकमिति बुद्धया चरतीत्यास्तिकः, तद्भाव आस्तिक्यम्। ज्ञानम् आत्मज्ञानम्। बुद्धिः तत्कालविषया। मेधा ग्रन्थावधारणशक्तिः। धृतिर्मनसो नियामिका बुद्धिः। ×× फलनिरपेक्षया बुद्ध्या श्रेयःकर्मकरणमनभिषङ्गः। ×× मान आत्मन्युत्कर्षवृत्तिः। ×× विषादित्वं मूढता ××॥

—डह्लन

सात्विक आदि पुरुषों के लक्षण —

"सात्त्विक पुरुषों के लक्षण निम्नोक्त हैं--सदयता, जो भी वस्तु प्राप्त हो उसे बांट कर उपभोग करने का स्वभाव, क्षमा, सत्य अर्थात् हितकारी और प्रियवचन ; धर्म अर्थात् शरीर, मन और वाणी से सद्वर्तन ; आस्तिकता अर्थात् इस प्रत्यक्ष देह और जीवन के सिवाय धर्म, मोक्ष, परलोक आदि हैं जिन्हें दृष्टिगत रख कर कर्म करने चाहिये इस प्रकार का विश्वास ; आत्मज्ञान, बुद्धि (प्रतिभा, सूझ), मेधा (ग्रन्थ को समझने की शक्ति), स्मृति, धृति (मन का नियन्त्रण करने वाली बुद्धि), और निष्काम-भाव से कर्म करने का स्वभाव (अनासक्ति)।

"राजस या रजोगुणी पुरुषों में ये चिह्न पाये जाते हैं—अति दुःख, आवारागर्दी का स्वभाव, अधीरता, अहंकार, मिथ्यावादिता निर्दयता, दम्भ (ढोंग), मान (अपने को बड़ा मानना), हर्ष, काम और क्रोध अर्थात् इन वेगों का प्राबल्य।

"तामस या तमोगुणी पुरुषों में नीचे लिखे गुण अधिक पाये जाते हैं—मूढ़ता, नास्तिकता, अधार्मिकता, बुद्धिमान्द्य,

अज्ञान, दुष्टबुद्धिता, आलस्य और निद्रापरायणता[१] ।"

सात्त्विक आदि के अवान्तर भेद

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः ; सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद्विशेषोपलब्धिः ॥ च० शा० ४।३३

× × पर इत्यनेन मनःशरीरादिसमुदायादात्मानं व्यवच्छिनत्ति । सर्वभूतानां निर्विशेष इति सर्वेषु भूतेषु वर्तमानोऽप्ययं परमात्मा तुल्य एव ॥

—चक्रपाणि

त्रिविधं खलु सत्त्वं शुद्धं राजसं तामसमिति । तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् । तेषां तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च । शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम् । तस्मात् कति चित् सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः ॥

च० शा० ४ । ३६

× × भेदाग्रमिति भेदप्रमाणम् । × × सत्त्वानुरूपं शरीरं भवति, यदि शुद्धसत्त्वं भवति तदा देवादिशरीरं भवतीत्यादि ; तथा शरीरानुरूपं

१—सात्त्विकादि पुरुषों के लक्षणों को स्पष्ट समझने के लिये श्री मद्भगवद्गीता के १७वें तथा १८ वें अध्याय द्रष्टव्य हैं । इनमें क्रमशः बताया है कि सात्त्विक, राजस तथा तामस पुरुषों की श्रद्धा, आहार, यज्ञ, शारीरिक, मानसिक, वाचिक तप, दान, कर्मत्याग, ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के क्या-क्या लक्षण हैं । १६ वें अध्याय में कही दैवी और आसुरी संपत् एवं १४ वें अध्याय में कहे सात्त्विक आदि पुरुषों तथा गुणातीत पुरुष के लक्षण भी द्रष्टव्य हैं । विस्तृत होने से उन्हें यहां उद्धृत नहीं किया है ।

च सत्त्वं भवति, यथा—पशुशरीरे तामसं, मनुष्यशरीरे राजसं, देवशरीरे सात्त्विकमित्यादि ज्ञेयम् ॥ —चक्रपाणि

इत्यपरिसंख्येयभेदानां त्रयाणामपि सत्त्वानां भेदैकदेशो व्याख्यातः ; शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधो ब्रह्मर्षिशक्रयमवरुणकुबेरगन्धर्वसत्त्वानुकारेण, राजसस्य षड्विधो दैत्यपिशाचराक्षससर्पप्रेतशकुनिसत्त्वानुकारेण, तामसस्य त्रिविधः पशुमत्स्यवनस्पतिसत्त्वानुकारेण, कथं च यथासत्त्वमुपचारः स्यादिति ॥ च० शा० ४। ५६

× × एते च सत्त्वभेदाः प्रायेण भवन्ति मनुष्येष्विति कृत्वा एत एवोदाहरणार्थमुक्ताः। एवमनुक्ता अपि विष्णुशंकरव्याघ्रादिसत्त्वानुकारेण सत्त्वभेदा बोद्धव्या एवेति दर्शयति। कथमित्यादि कथं नाम यथासत्त्वं सर्वप्राणिमनोभिर्मनुष्याणामुपचारः स्यादित्येतदर्थमुदाहरणरूपा अमी सत्त्वभेदा व्याख्याता इति वाक्यार्थः ॥ —चक्रपाणि

कायानां प्रकृतिर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत् ॥
महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्त्वतमःकृताः।
प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत् ॥

सु० शा० ४। ९८-९९

रोग परीक्षा करते हुए रोगी से संबन्ध रखनेवाली जिन दस वस्तुओं की परीक्षा करनी होती है, उनमें प्रथम परीक्षा प्रकृति की परीक्षा है[1]। शरीर क्रिया विज्ञान के अध्ययन से विदित होगा

१—तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः ॥ च० वि० ८। ९४

कि शरीर की प्रकृति वात-पित्त-कफ इन शरीर दोषों में से किसी एक (दो या तीनों) की जन्मजात प्रबलता से बनती है। इसी प्रकार मानसिक प्रकृतिका कारण सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। इनमें मानस रोग जनक होने से रज और तम को 'मानस दोष' कहा जाता है। इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों की परीक्षा रोग का निदान करते हुए अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि नियम है कि किसी पुरुष में जो दोष प्रकृतिजनक (प्रकृति का कारण) होगा वही दोष अल्पमात्र कारण से उस पुरुष में कुपित हो जायगा तथा अपने कोप से होनेवाले रोग उत्पन्न करेगा। अन्य दोषों का कोप उस पुरुष में इतनी सरलता से न होगा। सो पुरुष की प्रकृति जानकर रोगजनक दोष की कल्पना करने का मार्ग स्वच्छ हो जाता है। दोनों प्रकार की प्रकृतियों में से शारीर प्रकृतियों—वातिक, पैत्तिक आदि का निरूपण शरीर क्रिया विज्ञान में किया जाता है। मानस प्रकृतियों का विवरण ऊपर दिया गया है। इस विषय में अन्य ज्ञातव्य आगे दिया जाता है।

"निर्विकार परम आत्मा सब पुरुषों में समान है—अर्थात् उसके कारण कर्म पुरुषों में कोई भिन्नता नहीं आती। केवल मन और शरीर की भिन्नता के कारण ही कर्म पुरुषों में भिन्नता देखी जाती है। (प्रति पुरुष शारीरिक और मानसिक इस भिन्नता को ही आयुर्वेद में प्रकृति कहा जाता है)। शरीर का प्रभाव मन पर पड़ता है, और मन का प्रभाव शरीर पर पड़ता

है। इस नियम के अनुसार शरीरों और योनियों के विभिन्न प्रकारों के कारण मानसिक प्रकृति में विशेष रूप से भिन्नता आ जाती है। अर्थात्—ऊपर जिन सात्त्विक, राजस, तामस प्रकृतियों का वर्णन किया है उनमें भी तीनों गुणों की न्यूनाधिकता (तर-तम भाव) के कारण तीनों प्रकृतियों के पुनः असंख्य भेद हो जाते हैं। तथापि इनके स्पष्टीकरणार्थ सात्त्विक प्रकृति के सात भेद, राजस के छः और तामस के तीन भेद शास्त्रकारों ने बताये हैं।

सात्त्विक के सात भेद निम्न हैं—ब्रह्मा, ऋषि, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर और गंधर्व। राजस के छः भेद ये हैं—दैत्य, पिशाच, राक्षस, सर्प, प्रेत और शकुनि। तामस के तीन भेद ये हैं—पशु, मत्स्य और वनस्पति। ब्रह्मा आदि सत्त्वगुण प्रधान, दैत्य आदि रजोगुण प्रधान और पशु आदि तमोगुण प्रधान उक्त तथा अनुक्त व्यक्तियों के स्वभावादि में जो विशेषताएँ देखी जाती हैं वे विशेषताएँ पुरुषों में भी देखने में आती हैं। उनके अनुसार ही तत्तत् स्वभाववाले पुरुषों की मानसिक प्रकृतियों को भी विभिन्न नाम दिये गये हैं। इसी प्रकार अन्य भी विष्णु, शिव, व्याघ्रादि के सदृश स्वभाव को देख कर अन्य नाम समझे जा सकते हैं। इन प्रकृतियों को महाप्रकृति या 'ब्रह्मकाय' आदि नाम दिये गये हैं। इन्हें समझकर रोगी का यथायोग्य उपचार करना चाहिये।" उन्मादग्रस्त रोगियों के विभिन्न लक्षण इन प्रकृतियों के अनुसार होते हैं।

ब्रह्मसत्त्व (ब्रह्मकाय, ब्राह्म) पुरुष के लक्षण

शुचिं सत्याभिसंधं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचन-संपन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षामर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात् ॥ च० शा० ४।३७

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम् ।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥

सु० शा० ४।८१

"जो पुरुष (मन, वचन और कर्म से) पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, वस्तु को (कुटुम्बियों, मित्रों, अतिथियों, सेवक-वर्ग और दीन-दुखियों में) बाँट कर भोगनेवाला, आस्तिक, वेद (अर्थात् अपने धर्मशास्त्र) के अभ्यास में तत्पर, वृद्धों की पूजा करनेवाला, ज्ञान-विज्ञान और वाक्पटुता से युक्त, स्मृतिमान्, अतिथियों का सत्कार करनेवाला, यज्ञ (अर्थात् अपने धर्म में उपदिष्ट धर्माचार) में संलग्न, प्राणिमात्र के प्रति सम दृष्टि रखनेवाला तथा काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मोह, ईर्ष्या, हर्ष और अक्षमा से रहित हो, वह ब्रह्मसत्त्व है, ऐसा समझें।"

ऋषिसत्त्व (ऋषिकाय, आर्ष) पुरुष के लक्षण

इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोह-लोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसंपन्नमार्षं विद्यात् ॥

च० शा० ४।३८

जपव्रतब्रह्मचर्य होमाध्ययनसेविनम् ।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥

सु० शा० ४।८७

"जो पुरुष यज्ञ-हवन स्वाध्याय, जप, व्रत और ब्रह्मचर्य (ऋतु काल में गमन) में तत्पर रहे, अतिथियों का सत्कार करता हो ; मद-मान-राग-द्वेष-मोह-लोभ और रोष से रहित हो ; एवं ज्ञान, विज्ञान, प्रतिभा (तात्कालिक बुद्धि), वाक्पटुता और ग्रहण-धारण शक्ति से युक्त हो उसे ऋषिसत्व समझना चाहिये ।"

इन्द्रसत्त्व (इन्द्रकाय, ऐन्द्र, माहेन्द्र) पुरुष के लक्षण

ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात् ॥ च० शा० ४।३९

माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता ।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥

सु० शा० ४।८२

माहात्म्यं महाशयत्वम्[1] । —डल्हन

"जो पुरुष ऐश्वर्यशाली महत्त्वाकांक्षी, शूर, आज्ञाकारी (जिसकी बात सब को माननी पड़े—आदेयवाक्य, प्रभावशाली) ओजस्वी, तेजस्वी (अपमान को न सहन करने वाला), निन्दित कर्म न करने वाला किन्तु सदा शास्त्रानुसार आचरण (धर्म, अर्थ

१—महेच्छस्तु महाशयः । अमरकोष

और काम) करने वाला, परिचारकों का ध्यान रखने वाला और दूरदर्शी हो उसे इन्द्रसत्त्व समझना चाहिये।"

यमसत्त्व (याम्य, यमकाय) पुरुष के लक्षण

लेखास्थवृत्तं प्राप्तकारिणमसंप्रहार्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमैश्वर्यलम्भिनं व्यपगतरागेर्ष्याद्वेषमोहं याम्यं विद्यात् ॥ च० शा० ४।४०

लेखा कर्तव्याकर्तव्यमर्यादा, तत्र स्थितं वृत्तं यस्य स लेखास्थवृत्तः, तमलङ्घितकर्तव्याकर्तव्यमित्यर्थः। असंप्रहार्यमित्यशक्यवारणम् × × × ॥

—चक्रपाणि

प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमाञ्छुचिः।
रागमोहमदद्वेषै र्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥

('निर्भय' इत्यत्र 'स्मृतिमान्' इति, 'रागमोहे' त्यादौ च 'रागमोह-भयद्वेषैर्वर्जितो यमसत्त्ववान्' इति पाठान्तरम्)। सु० शा० ४।८६

प्राप्तकारी युक्तकारी। दृढोत्थानो दृढारम्भः ॥ —डल्हन

"जो पुरुष कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार कर कर्तव्य का आचरण और अकर्तव्य का अनाचरण करता हो, काम में ढील न करने वाला हो, जिसको (अपने निश्चय से) चलित करना अशक्य हो, जो दृढ़ परिश्रमी हो ; निर्भय, स्मृति—शक्ति सम्पन्न, ऐश्वर्यशाली ; (मन, वचन और कर्म से) पवित्र एवं राग, द्वेष, ईर्ष्या, मद और मोह से रहित हो उसे यमसत्व समझें।"

वरुणसत्त्व (वरुणकाय, वारुण) पुरुष के लक्षण

शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात् ॥ च० शा० ४।४१

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता ।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥

('प्रियवादित्वम्' इत्यत्र 'प्रियोदकत्वम्' इति पाठान्तरम्) ।

सु० शा० ४।८३

पैङ्गल्यं पिङ्गाक्षता, हरिकेशता कपिलकेशता ॥ —डल्हन

"जो पुरुष पराक्रमी, धैर्यशाली, शुद्ध, अशुद्धि (अस्वच्छता) के प्रति तिरस्कार रखने वाला, यज्ञशील, शिष्ट कर्म करने वाला, मधुरभाषी, सहिष्णु, यथास्थान कोप और प्रसन्नता प्रकट करने वाला, जलाशय में विहार प्रभृति शीत वस्तुओं को पसन्द करने वाला, पिङ्गल आंखों तथा कपिल वर्ण के केशों वाला हो वह वरुणसत्व है ।"

कुबेरसत्त्व (कुबेरकाय, कौबेर) पुरुष के लक्षण

स्थानमानोपभोगपरिवारसंपन्नं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं सुखविहारं व्यक्तकोपप्रसादं कौबेरं विद्यात् ॥ —च० शा० ४।४२

सुखविहारमिति सुखक्रीडनम् ॥ —चक्रपाणि

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचयौ ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥

सु० शा० ४।८४

महाप्रसवशक्तित्वं प्रजोत्पादनसामर्थ्यम् ॥ —डल्हन

"जो पुरुष प्रतिष्ठा, मान, उपभोग और कुटुम्ब-परिवार से सम्पन्न हो, स्वभाव से आराम पसन्द हो, जिसकी आय और

व्यय पुष्कल हों, जो निष्पक्ष रह सकता हो, सहिष्णु हो, जिसके क्रोध और प्रसन्नता छुपे न रहते हों, जो शुद्ध-पवित्र, सदा धर्मार्थ काम के आचरण में प्रवृत्त हो एवं जिसका संतानोत्पत्ति का सामर्थ्य उत्तम हो, वह कुबेर सत्त्व है।"

गंधर्वसत्त्व (गंधर्वकाय, गांधर्व) पुरुष के लक्षण

प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकं श्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारकामनित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात् ॥

इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य भेदांशं विद्यात् कल्याणांशत्वात् ; तत्संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ च० शा० ४।४३-४४

उल्लापः स्तोत्रम् । × × संयोगादिति सम्यग्योगात् ॥

—चक्रपाणि

कल्याणांशत्वादिति शुभरूपांशत्वात् ॥ च० शा० ४।३६ पर

—चक्रपाणि

गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ।
विहारशीलता चैव गांधर्वं कायलक्षणम् ॥

सप्तैते सात्त्विकाः कायाः ॥ सु० शा० ४।८५-८८

विहारशीलता भ्रमणशीलता ॥ —डल्हन

"जो पुरुष नृत्य, गीत (नाच-गान) और वाद्य-यन्त्रों में (इनके देखने-सुनने अथवा स्वयं आचरण में) अभिरुचि रखता हो ; जो श्लोक, आख्यायिका (कहानी), इतिहास, पुराण, (सृष्टि की उत्पत्ति और राजवंशों का वर्णन) एवं स्तोत्रों (विरुदावलियों

के कहने) में निपुण हो; सदा सुगन्धों (इत्र-फुलेल आदि), मालाओं, लेपों, वस्त्राभूषणों, विहार (भ्रमण) और स्त्री की संगति में तत्पर रहे, असूया (दूसरों के गुणों को दोष दृष्टि से देखना) से रहित हो, वह गान्धर्व है, ऐसा समझे।

"ये सात उदाहरण सात्त्विक कायों के हुए। इनमें भी सत्त्वगुण के लक्षण कल्याण (शुभत्व) की पुष्कलता के कारण ब्राह्म काय विशेषतया सात्त्विक होता है।"

"सात्त्विक कायों के उदाहरण देकर अब पूर्व लिखित राजस कायों के छः उदाहरणों के लक्षण क्रमशः देते हैं।

असुरसत्त्व (असुरकाय, आसुर) पुरुष के लक्षण

शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं रौद्रमननुक्रोशमात्मपूजकमासुरं विद्यात्॥ च० शा० ४।४५

('औपधिक' मित्यत्र 'औदरिकम्' इति पाठान्तरम्)।

औपधिकमिति छद्मप्रचारिणम्। अननुक्रोशं निर्दयम्॥ —चक्रपाणि

ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम्।
एकाशिनं चौदरिक-मासुरं सत्त्वमीदृशम्॥

सु० शा० ४।८८

रौद्रं भयानकं, चण्डं तीव्रकोपम्। असूयकं परगुणेषु मत्सरिणम्। × × औदरिकं घस्मरं, गयदासस्तु 'औदरिकम्' इत्यत्र 'औपधिकम्' इति पठित्वा औपधिकं छद्मपरमिति व्याख्याति॥ —डह्लन

"जो पुरुष शूर-वीर, भयानक, अतिक्रोधी, निर्दय, असूया

(गुणियों से ईर्ष्या करने वाला), आत्मश्लाघी, कपटी, पेटू, अकेला खाने वाला और समृद्ध हो, उसे असुर सत्त्व समझना चाहिये ।"

राक्षससत्त्व (राक्षसकाय) पुरुष के लक्षण

अमर्षिणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषप्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्ष्यं राक्षसं विद्यात् ॥ च० शा० ४।४६

एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता ।
भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ॥

सु० शा० ४।९१

('रौद्रम्' इत्यत्र 'रौद्यम्' इति, 'भृशमात्रं तमश्चापि' इत्यत्र च 'भृशमात्मस्तवश्चापि' इति पाठान्तरम्) ।

"जो पुरुष क्रोधी, जो हठ पकड़ी उसे किसी प्रकार न छोड़ने वाला (एकान्तग्राही), चिरकाल तक क्रोध करने वाला, भयंकर कर्कश स्वभाव वाला, क्रूर, मर्म देखकर प्रहार करने वाला, ईर्ष्यालु, असूयायुक्त, बहुत आत्मश्लाघी, अधार्मिक, अत्यन्त पेटू, मांस अत्यधिक पसन्द करने वाला, अत्यन्त तमोगुणी, बहुत सोने वाला एवं परिश्रमी हो उसे राक्षससत्त्व कहते हैं ।"

पिशाचसत्त्व (पिशाचकाय—पैशाच) पुरुष के लक्षण

महाशनं ('महाळसम्' इति पाठान्तरम्) स्त्रैणं स्त्रीरहस्कामम‌शुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विकृतविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात् ॥

च० शा० ४।४७

उच्छिष्टाहारता तक्ष्ण्यं साहसंप्रियता तथा।
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ॥

सु० शा० ४।९२

('उच्छिष्टे' त्यादौ 'उत्सृष्टाचारता रौक्ष्यम्' इति पाठान्तरम्) तैक्ष्ण्यं कोपनत्वम् ॥ —डह्लन

'जो पुरुष पेटू, उच्छिष्ट भोजन करने वाला, विकृत आहार-विहार में रुचि रखने वाला, निर्लज्ज, आचारहीन, स्त्रीलम्पट, स्त्रियों के साथ एकान्त पसंद करने वाला, स्त्रैण (स्त्री-तुल्य स्वभाव वाला) अत्यन्त आलसी, अस्वच्छ, स्वच्छताका तिरस्कार करने वाला, क्रोधशील, भीरु, (दुर्बलों को) डराने वाला—उनपर जोर करने वाला, कर्कश स्वभाव वाला और साहसी हो, वह पिशाच-सत्त्व कहलाता है।"

सर्पसत्त्व (सर्पकाय, सार्प) पुरुष के लक्षण

क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचरमाहारविहारपरं सार्पं विद्यात् ॥ च० शा० ४।४८

क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुमिति क्रोधे सति शूरं, क्रोधेऽसति भीरुम् ॥ गोचर शब्देन गोचरे विषये प्रचारो लक्ष्यते, तेन संत्रस्तगोचरमिति संत्रस्त-विषय प्रचारम् ॥ —चक्रपाणि

('संत्रस्तगोचरम्' इत्यत्र 'मन्त्रस्तुगोचरम्' इति पाठान्तरम्)।

तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा।
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥

सु० शा० ४।८९

भीरुम् 'अक्रोधे सति' इत्यध्याहारः। तदुक्तं चरके-'क्रुद्धं शूरमक्रुद्धं भीरुम्' इति ॥ —डल्हन

"जो पुरुष क्रुद्ध-अवस्था में शूर परन्तु क्रोधरहित अवस्था में भीरु हो, तीक्ष्ण (क्रोधी) स्वभाव वाला तथा भयंकर हो, मायावी और परिश्रमी हो, चलते-फिरते या घूमते-घामते हुए डरता-सा हो, जिसमें दूसरों को छुपी बातें जानने की (उत्सुकता और) दक्षता हो, जो आहार-विहार में लीन रहता हो तथा जिसकी इन क्रियाओं में चपलता प्रदर्शित हो, उसे सर्पसत्त्व कहते हैं।"

प्रेतसत्त्व (प्रेतकाय, प्रैत) पुरुष के लक्षण

आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् ॥ च० शा० ४।४९

असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम्।
लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥

सु० शा० ४।९३

"जो पुरुष अति लोभी, कृपण, संविभाग (बाँट कर भोग करने) के स्वभाव से रहित, खाने-पीने में ही मस्त, अपने आचार-विचार से दूसरों को कष्ट देने वाला, असूयावान, आलसी और कामचोर हो, उसे प्रेतसत्त्व कहते हैं।"

शकुनिसत्त्व (शकुनिकाय, शाकुन) पुरुष के लक्षण

अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षणमसंचयं शाकुनं विद्यात् ॥

इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्यात्, रोषांशत्वात् ॥

च० शा० ४।५०-५१

प्रवृद्धकामसेवी-चाप्यजस्राहार एव च ।
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥

('प्रवृद्धे' त्यादौ 'अबद्धकामसेवी'ति पाठान्तरम्) ।

"जो पुरुष अत्यन्त कामुक एवं सदा कामवासना की तृप्ति में तत्पर हो, खाने पीने के सिवाय जिसे कोई धन्धा न हो, जो क्रोधशील और चञ्चल (अस्थिर) स्वभाव वाला हो एवं जिसकी संग्रह की वृत्ति न हो, वह शकुनि-सत्त्व कहा जाता है।" (शकुनि = पक्षी) ।

"इस प्रकार राजस पुरुषों के ये छः भेद उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये। विभिन्नता होते हुए भी सब में एक साम्य है— रोष, और यह रोष उनमें समान गुण रज का सूचक है।"

अब तामस प्रकृतियों के तीन भेदों का स्वरूप देते हैं--

पशुसत्त्व (पशुकाय, पाशव) पुरुष के लक्षण

निरलंकरिष्णु-('निराकरिष्णुम्' इति पाठान्तरम्) ममेधसं जुगुप्सिताचाराहारं मैथुनपरं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात् ॥ च० शा० ४।४२

दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुन नित्यता ।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥

सु० शा० ४।९५

मन्दता जिह्मता ॥ —डह्लन

"जो पुरुष मेधा अर्थात् ग्रन्थस्थ विषय को समझने की शक्ति से रहित, स्वाध्यायशून्य, निन्दित आचार और आहार वाला, सदा निद्रा और मैथुन में आसक्त, कुटिल और सभ्य वेषभूषा न धारण करने वाला हो, उसे पशुसत्त्व कहते हैं।"

मत्स्यसत्त्व (मत्स्यकाय, मात्स्य) पुरुष के लक्षण

भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात् ॥ च० शा० ४।५३

सरणशीलमिति गमन शीलम् ॥ — चक्रपाणि

अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता ।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥

सु० शा० ४।९६

"जो पुरुष भीरु, बुद्धिशून्य, मूर्ख, अस्थिर चित्त, सदा काम और क्रोध में परायण, कलह और एक दूसरे को दबाने में तत्पर, अवारा (रखडू), पेटू एवं पानी के प्रति विशेष रुचि रखने वाला हो, वह मत्स्यसत्त्व कहाता है।"

वनस्पति सत्त्व (वनस्पतिकाय, वानस्पत्य) पुरुष के लक्षण

अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्यङ्गहीनं वानस्पत्यं विद्यात् ॥
इत्येवं तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात् ॥

च० शा० ४।५५

बुद्ध्यङ्गानि ऊहापोहविचारस्मृत्यादीनि उक्तानि ॥

—चक्रपाणि

एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः ।
वानस्पत्यो नरः सर्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥
एत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा ॥

सु० शा० ४।९७

"जो पुरुष अत्यन्त आलसी, धर्म-अर्थ-काम किसी भी प्रकार के कार्य में प्रवृत्ति न दिखाने वाला, एक स्थान पर बैठा रहने वाला केवल पेट भरने में तत्पर एवं तर्क-वितर्क, विचार, स्मृति आदि बुद्धि की यावत् शक्तियों से रहित हो उसे वनस्पति सत्व कहते हैं।

"इस प्रकार ये तीन तामस प्रकृतियों के उदाहरण हुए। इनमें अन्य लक्षणों में भेद होते हुए भी एक साम्य है। मोह अथवा अज्ञान। यह तमोगुण का द्योतक है और इसी के कारण इन प्रकृतियों का एक वर्ग में समावेश किया गया है।"

सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतियों के ये कतिपय उदाहरण इस उद्देश्य से शास्त्रकारों ने दिये हैं कि उन्माद आदि मानस रोगों में इनसे निदान में सहायता मिलती है। जैसे वातिक आदि प्रकृति का ज्ञान होने से यह जानना सुगम होता है कि रोगजनक दोष सम्भवतः कौन-सा होगा, वैसे ही मानस प्रकृतियों के जान लेने से रोग-परीक्षा में इस बात की कल्पना करना सुगम होता है कि रोगारम्भक दोष कौन-सा है। मानस रोगों के लक्षणों का अनुशीलन करते हुए यह बात अच्छी प्रकार से समझ में आ सकती है।

आत्मा के लक्षण और गुण (लिङ्ग)

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः ।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥
शरीरं हि गते तस्मिञ्शून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥

च० शा० १।७०-७४

× × प्राणापानावुच्छ्वासनिःश्वासौ । निमेषाद्या इति आद्यशब्दग्रहणेन उन्मेषाद्याः प्रेक्षणविशेषा गृह्यन्ते । मनसो गतिरिति पाटलिपुत्रगमनादिरूपा । इन्द्रियान्तरसंचारोऽपि मनस एव, यथा चक्षुः परित्यज्य मनः स्पर्शनमधितिष्ठतीत्यादि । प्रेरणं च तथा धारणं च मनस एवेति ज्ञेयम् । देशान्तरगतिः स्वप्ने इति छेदः । पञ्चत्वग्रहणं मरणज्ञानम् । × × चेतना ज्ञानमात्रम् । बुद्धिस्तूहापोहज्ञानम् । × × × अत्रैवोदाहृताश्च प्राणापानादयो न भूतमात्रे भवन्ति, निरात्मकेष्विष्टकामृतशरीरादिष्वदर्शनात् । × × × षड्धातुकं-

शरीरं, तत्र षष्ठे आत्मनि गते पञ्चभूतमात्रकं शरीरं भवति, तेन पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ —चक्रपाणि

तत्र सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥

सु॰ शा॰ १।१७

इदानीं तस्यैव कर्मपुरुषस्य शरीरात्मनोः संयोगकारकेण मनसा संयोगे सति ये गुणा उत्पद्यन्ते तानाह-तस्येत्यादि । × × प्रयत्नः कार्यारम्भे उत्साहः । प्राणो वायुर्वक्त्रसंचारी, अपानः पक्वाशयस्थितिरधोगमनशीलः । × × संकल्पो मनसः कर्म । विचारणा पुनरूहापोहाभ्यां वस्तुविमर्शः × × विज्ञानं शिल्पशास्त्रादिबोधः । × × एते कर्मपुरुषस्य षोडश गुणाः अत एव कला इत्युच्यन्ते ॥ —डल्हन

× × × यस्तु तत्र (परमात्मनि) सुखदुःखादिविशेष उपलभ्यते, स शरीरविशेषस्य तथा मनोविशेषस्य च सुखदुःखादिविशेषकारणस्य विशेषादुपलभ्यते । एतदेव 'शरीरसत्त्वयोस्तु' इत्यादिनोक्तम् । सुखादयस्तु न परमात्मविकाराः, किन्तु बुद्धिधर्मा एवेति दर्शितमेव । यानि चात्मजत्वेन गर्भे 'तासु तासु योनिषूत्पत्ति' । (च॰ शा॰ ३।१६) इत्यादिना ग्रन्थेन दर्शितानि, तान्यपि परमात्मविकारा न भवन्ति, किन्तु सत्त्वरजस्तमः प्रबलतारूपविकारजमनोविकारजन्यधर्माधर्मजन्यान्येव । तेन, सूक्ष्मचिन्तायासात्मजानि यान्युक्तानि तान्यपि सत्त्वजान्येव × × ॥

च॰ शा॰ ४।३३ पर — चक्रपाणि

ऊपर (द्वितीय अध्याय में) कह आये हैं कि, सत्त्वगुण की अधिकता के कारण चेतन शरीरों में बुद्धि, ज्ञान आदि चैतन्य के

लक्षण होते हैं। इसके विपरीत जड़ द्रव्योंमें तमोगुण की अधिकता के कारण अज्ञान, निष्क्रियता आदि जड़त्व-सूचक धर्म (चिह्न) होते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि यद्यपि अचेतन पाषाण आदि में भी किञ्चित् अंश में सत्त्वगुण होता है, परन्तु उनमें आत्मा का सांनिध्य न होने से उनमें सत्त्वगुण के लक्षणों का स्वरूप कुछ भिन्न होता है। अब हम देखेंगे कि जीवित चेतन शरीरों में कौन-कौन-सी विशेषतायें—कौन-कौन-से लक्षण होते हैं।

"मनोऽनुकूल वस्तु प्राप्त होने पर सुख, प्रतिकूल वस्तु का संग होने पर दुःख, अनुकूल वस्तुओं के प्राप्त करने की इच्छा, द्वेष अर्थात् प्रतिकूल वस्तुओं के परिहार की--उनसे बचने की इच्छा, प्रयत्न अर्थात् इच्छा और द्वेष के अनुरूप कर्म करने का उत्साह, प्राण-अपान (उच्छ्वास-निःश्वास अथवा शरीर की क्षति की पूर्ति एवं विविध चेष्टाओं के सम्पादन के लिए आहार और वायु का ग्रहण--प्राण, एवं धातुओं के पाक से उत्पन्न विभिन्न मलों का विसर्जन--अपान[1]), निमेष-उन्मेष आदि नेत्र की क्रियाएँ, ज्ञान, मन, मन का दूर-दूर देश में गमन, उसीका चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों और हाथ आदि कर्मेन्द्रियों से संयोग, मन का इन्द्रियों को प्रेरित तथा धारण करना, बुद्धि (निश्चय करने वाला अन्तःकरण विशेष, किंवा तर्क-वितर्क-विचारणा), संकल्प

१--प्राण का कार्य उच्छ्वास-निःश्वास तथा अन्न को कोष्ठ में पहुंचाना और अपान का अधो मार्ग से मलों को निकालना सुविदित है।

(पदार्थों के गुण-दोष का विचार), अध्यवसाय (निश्चय); स्मृति, अहंकार, विषयों का ज्ञान, विज्ञान (शिल्पशास्त्रादि का ज्ञान), धैर्य, जीवन (शरीर की वृद्धि, व्रण या भग्न का रोहण इत्यादि), दाँयी आँख से देखी वस्तु का बाँयी आँख द्वारा अभिन्न रूप से ज्ञान (तथा इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये गये अपने विषय तथा प्रत्येक कर्मेन्द्रिय द्वारा किये गये कर्म का अन्य इन्द्रियों को ज्ञान होना तथा उसके अनुसन्धानमें—सिलसिले में—यथायोग्य चेष्टा करना—प्रति सन्धान), मृत्यु का ज्ञान—ये आत्मा के लिङ्ग—चेतन जीवित शरीर में उसकी विद्यमानता के बोधक चिह्न हैं।

"चेतन शरीर अथवा कर्मपुरुष जब तक जीवित रहता है, उसमें ये चिह्न देखे जाते हैं और मरणोत्तर नहीं देखे जाते। इससे सिद्ध है कि पञ्चभूतात्मक शरीर के अतिरिक्त कोई अन्य भी पदार्थ था, जिसकी विद्यमानता में या विद्यमानता के कारण ये कर्म होते थे और जिसके शरीर को छोड़ जाने पर ये कर्म लुप्त हो गये। यही छठा पदार्थ आत्मा है। पाञ्चभौतिक शरीर और इस आत्मा के समुदाय भूत षड्धातुक शरीर को ही 'कर्म-पुरुष, आदि नाम दिये गये हैं। आत्मा के निकल जाने पर यह शरीर केवल पञ्चभूतात्मक रह जाता है। इसी कारण उस काल इसे 'पञ्चत्व को प्राप्त' कहा जाता है।"

"पिछले अध्यायों में परम आत्मा का जो स्वरूप बता आये हैं, उसे दृष्टि में रखें तो यह बात ध्यान में आयगी कि उल्लिखित

आत्मा के लक्षण वस्तुतः सांख्योक्त परम आत्मा के कारण नहीं होते। वह तो निर्विकार-निष्क्रिय-तटस्थ है। ये सब कर्म वस्तुतः बुद्धि और मन के हैं। इन अन्तःकरणों में सत्त्वगुण की प्रबलता के कारण ज्ञान आदि चैतन्य के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। रज और तम की प्रबलता होने पर बुद्धि और मन जब शुभ अथवा अशुभ कर्म करते हैं तो उनका फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों में सूक्ष्म पुरुष का गमन होता है।"

अस्तु, ऊपर आत्मा के जो संहितानुसारी लक्षण दिये हैं, वे निम्न प्रसिद्ध दर्शन सूत्रोंमें उत्तम प्रकार से दर्शाये गये हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ न्याय सूत्र १-१०

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवन[1]मनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ वैशेषिक सूत्र ३-२-४

शरीर में आत्मा की अवस्थिति के कारण चैतन्य के जो उपरिलिखित लक्षण होते हैं, वे ही गर्भ में आत्मजन्य पदार्थों के रूप में संहिताओं में कहे गये हैं। देखिये—

गर्भ में आत्मजन्य पदार्थ

यानि तु खल्वस्य गर्भस्यात्मजानि, यानि चास्यात्मनः संभवतः संभवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः ; तद्यथा—तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृतिस्वरवर्णविशेषाः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृतिर्बुद्धिस्मृतिरहंकारः प्रयत्नश्चेति ॥

च० शा० ३। १६

१—जीवनपदेन जीवन कार्यं वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि लक्षयति ॥—उपस्कार

× × प्रेरणं धारणं चेन्द्रियाणामेव। अत्र च तत्तदेवादिपश्वादियोनिगमनादौ धर्माधर्मजन्ये धर्माधर्मस्यापि जनकत्वेनात्मैव मूलकारणमुच्यते। आत्मज्ञानप्राणापानप्रेरणादौ तु मनःकरण आत्मैवाव्यवधानेन कारणम्।

—चक्रपाणि

(गर्भस्य) इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि॥

सु० शा० ३। ३३

आत्मजानीति आत्मसंनिधानजातानि, न त्वात्मनो जातानि, आत्मनो निर्विकारस्य विकारजनकत्वाभावात् प्रकृतिभावानुपपत्तेः; स्वाभाविक प्रकृतिभावे च मोक्षानुपपत्तिः, तस्य हि तत्स्वभावत्वे भावस्यापरित्याज्यत्वादिति। आदिशब्दान्नानायोनि जन्मादिकं च॥

—डह्लन

"विभिन्न योनियों में जन्म, आयु (जीवन), आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियाँ, प्राण-अपान, इन्द्रियों की प्रेरणा तथा धारण; आकृति, स्वर और वर्ण की भिन्नता, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, प्रयत्न—ये पदार्थ गर्भ में (तथा शरीर में) आत्मा से उत्पन्न होते हैं।

"यहाँ आत्मा से उत्पन्न होनेका आशय इतना ही है कि आत्मा की गर्भ (तथा शरीर) में अवस्थिति के कारण ये विशिष्टताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। आत्मा इन सबका उपादान कारण है, ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है।" इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण ऊपर तथा अन्य अध्यायों में आ गया है।

आत्मा और चैतन्य का विशेष स्थान

तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्[1] ॥ सु० शा० ४ । ३१

तद्हृदयं विशेषेण चेतनास्थानं चैतन्यास्पदं, सामान्येन तु सकलशरीरमेव चेतनास्थानम् । तदुक्तं चरके—"वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः । केशलोमनखाग्रान्न मलद्रवगुणैर्विना" (च० शा० १ । १३६) इति । चेतनासहचरितं मनोऽपि विशेषेण हृदयाधिष्ठानं मतम् ॥

—डह्लन

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् । सु० शा० ४-३४

अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् ॥ च० नि० ८ । ४

श्रेष्ठतममायतनमित्यनेनान्योऽपि शरीरदेशोऽन्तरात्मनः स्थानं, हृदयं तु श्रेष्ठतमं, तत्रैव चेतनाविशेषनिबन्धनादिति दर्शयति ॥ —चक्रपाणि

हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम् ॥ च० शा० ७ । ८

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम् ॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावनामेषां हृदयमिष्यते ।
गोपानसीनामागार कर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥

१—कई विद्वान् इस तथा अगले वचन में आये हृदय शब्द का अर्थ मस्तिष्क करते हैं । परन्तु इस वचन के ठीक ऊपर हृदय की जो सीमायें बतायी हैं, उससे इसका निःसंदेह अर्थ प्रसिद्ध हृदय ही होता है । इस विषय का विशेष विचार 'शरीर क्रिया विज्ञान' अध्याय ४४ में किया है । अधिक जिज्ञासुओं को डा० घाणेकर कृत सुश्रुत-व्याख्या देखनी चाहिये ।

तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति ।
यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम् ॥
तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥

च० सू० ३० । ४-७

××× अङ्गमिति वक्तव्ये षडङ्गविशेषणं षण्णामङ्गानामपि हृदयाश्रितत्वप्रतिपादनार्थम् । ××× सगुण इत्यनेन सुखादिग्रहणम् ××× अथ कथममी षडङ्गादयो हृदयाश्रयाः, यावता 'हृदयं द्व्यंगुलं च' इति वक्ष्यति, अङ्गं च षडङ्गाश्रयं महत्, इन्द्रियाण्यपि स्वाश्रयचक्षुरादिस्थितानि, अर्थाश्च बाह्यद्रव्याश्रयिणः, आत्मा चानाश्रित एव व्यापकः, तद्गुणश्च विज्ञानमात्मन्येवाश्रितं, मनोऽप्यनाश्रितमात्मगतं, चिन्त्यं च ध्येयादि न हृदि, इत्याशंक्याह—प्रतिष्ठेत्यादि । प्रतिष्ठा कार्यकरणाविरोधेनावस्थानम् । भावानामेषामिति षडङ्गादीनाम् । हृदयमिष्यते 'कारण' मिति शेषः । अत्रैव दृष्टान्तमाह गोपानसीनामित्यादि । गोपानस्यो गृहाच्छादनाधारकाष्ठानि । आगारकर्णिका गृहाच्छादनमध्ये गृहाच्छादनकाष्ठनिबन्धनी लोके 'आडकम्' इत्युच्यते । अर्थचिन्तकैरिति हृदयचिन्तकैः । तेन, षडङ्गादीनां हृदयाश्रितत्वं नाधाराधेयभावेन, किं तर्हि तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनेति दर्शितं भवति । हृदयाश्रितत्वं हृदये प्रकृतिस्थे षडङ्गादिभावानां प्रकृतिस्थत्वं, हृदयोपघाते तदुपघात इत्यर्थः । यद्यपि च, आत्मविज्ञानमनसो हृदयाश्रितत्वमाधाराधेयभावादपि कष्टसृष्ट्या पार्यते वक्तुं, तथापि सर्वव्यापकत्वान्नोपादेयमाधाराधेयत्वम् । नैवम्, आत्मा ह्यत्र संसारी भोगायतनत्वेनाभिप्रेतः, स च

हृदयप्रदेश एव सुखदुःखाद्युपलभत इत्यनुभवसिद्धं, तेन हृदयाश्रित इवात्मा। तथा मनोऽपि प्रायेण हृद्येव तिष्ठति, यत उपरतक्रियं मनो हृद्येव तिष्ठति, तथा ध्याने योगे च हृदिस्थमेव मनो भवति। यदप्युक्तम्—"आत्मस्थे मनसि स्थिरे" (च० शा० १।१३८) इति, तदप्यात्मस्थत्वं मनसो हृदयस्थत्वमेव। एवं ज्ञानसुखदुःखानि च हृदयस्थान्येव लक्ष्यन्ते, तथा ह्यति चिन्तनात्तथा दुःखावेशाद्वा हृदयमेव पीड्यते, नान्यदङ्गम्। अलमात्मनो व्यापकस्याश्रयाश्रयिभावेन व्युत्पादितेन। यश्चात्मा संसारी हृदयाश्रितो भवति तस्यैव हृदयनाशान्नाश इति भावः। तमेव हृदयोपघाते षडङ्गादिभावोपघातमाह—तस्योपघातादित्यादि। तस्येति हृदयस्य, उपघातः किंचिदुपहननं; भेदादिति महोपघातात्; मरणं च षडङ्गादीनां सर्वेषामेव यथोक्तप्रतिष्ठानाशः। कथमेतद्भवतीत्याह—यद्धी-त्यादि। स्पर्शो विज्ञायतेऽनेनेति स्पर्शं वा विजानातीति स्पर्शविज्ञानं; तस्यैव विशेषणं धारीति; धारि तु शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, यदुक्तं—"शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्" (च० सू० १।४२) इति। एतेन यः शरीरादिसंयोगः स्पर्शनेन विजानाति सर्वं ज्ञेयं, यश्चायं शरीर-धारणाद्धारीत्युच्यते, स हृदि स्थितः। तेन तदुपघातान्मूर्च्छा तथा तद्भेदान्मरणं चैतन्यानुवृत्तिलक्षणमुपपन्नम्। स्पर्शो हि द्विविध ऐन्द्रियको मानसश्च, एतत् स्पर्शद्वयं विना न किंचिज्ज्ञानं भवति, यदुक्तं—"यश्चैवेन्द्रि-यकः स्पर्शः स्पर्शो मानस एव च। द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः[1]" (च० शा० १।१३३) इति। मानसं च स्पर्शनं शारीरे

१—ज्ञानेन्द्रिय मात्र की स्पर्शेन्द्रियरूपता के विषय में अन्य प्रमाण देखिये—च० सू० ११।३८।

यथा—स्थानमेव दर्शयिष्यामः । स्पर्शो विज्ञायत इति निरुक्तिपक्षे तु स्पर्श-शब्देन लक्षणया स्पृश्यमानोऽर्थोऽभिप्रेतः, तेन सर्वज्ञेयावरोधः ; यं प्राप्यैवार्थमिन्द्रियाणि स्पर्शनार्थं प्रकाशयन्ति, यदुक्तं–"स्पृश्यते नानुपादानो नाऽस्पृष्टो वेत्ति वेदना ;" (च० शा० १।१३५) इति । यद्यपि शरीरे-न्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः शरीरप्रदेशान्तरेऽप्यस्ति, तथापि नासौ शरीरधारणे तथा ज्ञानोत्पत्तौ वा प्रधानं, तदुपघातेऽपि शरीरधारणज्ञानयोर्दृष्टत्वात् ; हृद्गतस्तु संयोगः प्रधानं, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् स्पर्शज्ञानशरीर-धारणयोः ; तेन सूक्तं-तत्तत्र संश्रितमिति । हृदयाभ्यर्हितत्वे धर्मान्तरमाह तत् परस्येत्यादि । परस्य श्रेष्ठस्य । एतेन द्विविधमोजो दर्शयति परम-परंच । × × × × । तत्र चैतन्यसंग्रह इति तत्र हृदि आत्मा चैतन्यस्य स्वविषये प्रसृतस्य संग्रहणं करोति, तेन प्रसृतं मनो हृदये निगृह्य योगज्ञो भवत्यात्मेत्युक्तं भवति ; ततश्च योगस्य मोक्षसाधनत्वेनोपादेयस्यापि हृदयमेव स्थानमिति हृदयमभ्यर्हितं भवति । यस्मादेवंगुणं हृदयम्, अतो हृदयं 'महद्' इति च, तथा 'अर्थं' इति चोच्यते चिकित्सकैः ॥

—चक्रपाणि

महत्संज्ञा च तथाऽर्थसंज्ञा च हृदयस्य वैद्यव्यवहारसिद्धा न सर्वत्र शास्त्रान्तरेषु । हृदयस्य यथा यन्महत्त्वं यथा वा अर्थ्यमानत्वेनार्थत्वं तद्धृदयस्याभ्यर्हितत्वात् ॥ च० सू० ३०।३ पर —चक्रपाणि

"आत्मा, मन, चैतन्य ; आत्मा का प्रधान गुण ज्ञान, विज्ञान उसके सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष आदि अन्य गुण ; मन के चिन्त्य आदि विषय ; पांचों ज्ञानेन्द्रिय ; उनके अपने-अपने विषय ;

कर्मेन्द्रिय ; षडङ्ग[1] सम्पूर्ण शरीर, एवं प्रधान ओज[2]—इन सब का विशेष स्थान हृदय है।

आशय यह है कि—यद्यपि इनमें से कोई भी वस्तु आधार-आधेय रूप से हृदय में नहीं रहती—किसी का भी आश्रय हृदय नहीं है, तथापि अन्य प्रकार से इनको हृदय का अनिवार्य सहारा रहता है। इसी कारण इनका स्थान हृदय को कहा गया है। अर्थात्—वस्तुस्थिति देखें तो इनमें प्रथम आत्मा सर्वव्यापक है—शरीर और उसके बाहर भी विद्यमान है। मन का भी स्थान हृदय नहीं, आत्मा है। चैतन्य का स्थान भी एक मात्र हृदय नहीं, किन्तु केश, लोम, नखों का अग्र भाग, मल-मूत्र और शरीर में विद्यमान गुण—इनको छोड़ कर मन और इन्द्रियों सहित सम्पूर्ण शरीर ही ज्ञान या चैतन्य का आश्रय है। आत्मा के गुण भी आत्मा में रहते हैं। शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रियों तथा मन के विषय बाह्य द्रव्यों में रहते हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकों में रहती हैं। शरीर के छः अङ्ग तो प्रत्यक्ष ही हृदय में समाविष्ट नहीं हैं और न हो सकते हैं। (प्रधान ओज का भी

१—सिर, दो हाथ, दो पैर (शाखा) और मध्य (धड़,-अन्तराधि) ये छः अङ्ग मिल कर सम्पूर्ण षडङ्ग शरीर बनता है। देखिये—तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः ; तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिः इति षडङ्गमङ्गम् (च० शा० ७।५)। तच्च षडङ्ग—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति (सु० शा० ५।३)।

२—ओज के विषय में विशेष ज्ञातव्य "शरीरक्रिया विज्ञान" के ३५-३६ अध्यायों में देखें।

स्थान सम्पूर्ण शरीर है। क्योंकि यह सर्व धातुओं का परम सार है)। ऐसी स्थिति में भी हृदय को जो इनका स्थान कहा गया है उसका कारण यह है कि इन पदार्थों और आत्मा में कार्य और कारण का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध से ये पदार्थ हृदय के आश्रित होते हैं। अन्वय-व्यतिरेक भाव से सम्बन्ध का अर्थ यह है कि—हृदय का अस्तित्व होने से ही इनका अस्तित्व चरितार्थ है, हृदय न हो तो होते हुए भी ये पदार्थ अविद्यमानवत् हैं; एवं हृदय सुस्थित हो तो ये पदार्थ भी सुस्थित होते हैं। यथा—

"आत्मा यद्यपि सर्व व्यापक है तथा संसारी आत्मा—जिसे आयुर्वेद में कर्म-पुरुष कहा गया है—हृदय में ही सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। अतः एक प्रकार से कह सकते हैं कि आत्मा का स्थान मानो हृदय है। (मन भी आत्मा में स्थित होता है अथवा चञ्चल होने से विभिन्न इन्द्रियों, उनके विषयों अथवा अपने ही निकट या दूर स्थित, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विषयों में गया होता है तथापि), जब वह विषय-ग्रहण नहीं कर रहा होता उस समय सामान्य पुरुषों में तथा ध्याना-वस्थामें योगियों में मन हृदय में ही स्थित होता है। ज्ञान, सुख और दुःखों का अनुभव हृदय में ही होता है—इसी कारण अति चिन्ता, अति दुःख आदि में अन्य अङ्गों की अपेक्षया हृदय में ही अधिक क्लेश प्रतीत होता है। चैतन्य का स्थान भी यद्यपि समस्त शरीर है, तथापि हृदय ही उसका विशेष स्थान है—अन्य

अवयवों की अपेक्षया हृदय में ही चैतन्य के लक्षण विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

"विषय, इन्द्रिय तथा षडङ्ग शरीर भी कार्य-कारण सम्बन्ध से हृदय के आश्रित हैं। (हृदय के कारण ही विषयों के अस्तित्व का ज्ञान होता है। इन्द्रियों तथा शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की भी स्वस्थता और अस्तित्व हृदय के ही कारण है)। क्योंकि इन सब का अस्तित्व जिसके कारण होता है—जाना जाता है अथवा चरितार्थ होता है वह जीवन विशेषतया हृदय में ही अभिलक्षित होता है। शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनके संयोग का नाम जीवन है। षडङ्ग शरीर का धारक होने से इसे 'धारि' भी कहते हैं। इसी को 'स्पर्श-विज्ञान' भी कहते हैं, जिसका अर्थ यह है कि—इन्द्रियजन्य अथवा मानस जितना और जो भी ज्ञान होता है वह सब स्पर्श द्वारा ही सम्पादित होता है। अपने-अपने विषयों के साथ इन्द्रियों और मन का स्पर्श हुए बिना उक्त दोनों ज्ञानों में से कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी कारण विषय मात्र को स्पर्श रूप तथा इन्द्रिय मात्र को स्पर्शेन्द्रिय रूप भी कहा जाता है। शरीर, इन्द्रिय, आत्मा और मन का संयोग उक्त सब प्रकार के स्पर्शात्मक ज्ञान का हेतु होने से 'स्पर्शविज्ञान' कहा जाता है। शरीर आदि के संयोग रूप जीवन में जो ज्ञानोत्पत्ति और षडङ्ग शरीर का धारण ये दो गुण देखे जाते हैं वे यद्यपि सारे शरीरावयवों में, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में हैं, परन्तु हृदय में ये गुण विशेषतया देखे जाते हैं—ज्ञानोत्पत्ति

और षडङ्ग शरीर के धारण में हृदय ही अन्य अवयवों की अपेक्षया विशेष रूप से कारणभूत है। इस प्रकार हृदय के षडङ्ग शरीर का धारक होने से षडङ्ग शरीर भी मानो हृदय के ही आश्रय से रहता है।

"आत्मा, मन आदि के सिवाय हृदय 'प्रधान ओज' का भी आश्रय है। यह ओज भी यद्यपि सर्व धातुओं का सार होने से सर्वत्र स्थित है, तथापि दस सिराओं (प्रणालियों) द्वारा सर्वत्र संचारित किया जाने के कारण हृदय को इसका आश्रय कहा जाता है।

"उल्लिखित प्रकार से हृदय आत्मा आदि का आश्रय है। इसी कारण देखा जाता है कि जब तक हृदय प्रकृतिस्थ अर्थात् रचना और क्रिया की दृष्टि से स्वस्थ रहता है, तब तक ये सब आत्मा आदि द्रव्य, गुण या कर्म सुस्थित रहते हैं; हृदय को जब आघात होता है तो शरीर मूर्च्छित होकर ज्ञान-कर्म रहित हो जाता है और वही जब विदीर्ण हो जाता है अथवा अत्यधिक आघात को प्राप्त होता है तो सम्पूर्ण शरीरका भी नाश होता है। ऊपर कहे सब पदार्थ लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार इन सब पदार्थों का हृदय के साथ अन्वय और व्यक्तिरेक से सम्बन्ध होने से हृदय इन सब का आश्रय है। जैसे किसी मकान की छत में जितनी भी आड़ी लकड़ियाँ होती हैं, वे सब मध्यवर्ती शहतीर पर टिकी होती हैं, वैसे ही आत्मा आदि भी पूर्वोक्त प्रकार से हृदय के सहारे रहते हैं।

"हृदय के इस महत्त्व के कारण वैद्यकमें उसे 'महत्' और 'अर्थ' ये विशेष संज्ञाएँ दी गयी हैं।"

आयुर्वेद में आत्मा का स्थान

भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति और भारतीय चिकित्सा शास्त्र की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। परलोक, पुनर्जन्म और कर्म फल का सिद्धान्त इसी सिद्धान्त के शाखा रूप हैं। इन सब सिद्धान्तों का समुच्चित (मिलित) नाम आस्तिकवाद है। वर्त्तमान पाश्चात्य विज्ञान की विशेषता यह है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में अपनी दृष्टि प्राकृतिक नियमों की ओर ही रखता है। शरीर में या शरीर के बाहर जो कुछ भी हो रहा है उन सब का कारण प्रकृति के विभिन्न नियम हैं। प्रकृति के कुछ नियम हमें ज्ञात हैं। उनके आधार पर पिण्ड और ब्रह्माण्ड की अनेक घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। परन्तु इनके सिवाय अनेक अज्ञात नियम हैं, जिन के न जानने के कारण ही अनेक कूट—अनेक गुत्थियाँ अब तक बिना सुलझे पड़ी हुई हैं। विज्ञान इन्हीं नियमों की गवेषणा में प्रवृत्त है। इन नियमों से बाहर आत्मा-परमात्मा नाम की कोई वस्तु हो तो भी वह उसके लक्ष्य के बाहर है। यह सत्य है कि इधर कुछ समय से पश्चिम के कुछ विद्वान् आध्यात्मिक विषयों की ओर अग्रसर हुए हैं परन्तु विज्ञान की सामान्य प्रवृत्ति अब भी यथापूर्व है, इसमें संशय नहीं।

पाश्चात्य सरणि के विपरीत भारतीय दर्शन अनेक कूट प्रश्नों

का समाधान आत्मा को मान कर करता है। यह शरीर केवल पांचभौतिक पिण्ड नहीं। इसके परे भी आत्मा, मन आदि अतीन्द्रिय एवं अनुमान और शब्द प्रमाण से ग्राह्य तत्त्व हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार हमारा वर्तमान शरीर इस विशाल सृष्टि में पूर्वापर-सम्बन्ध-रहित एकाकी सत्ता नहीं। इसके पूर्व भी शरीर थे और आगे-इस शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी शरीरों का अखण्ड प्रवाह रहेगा। हमारा वर्तमान शरीर पूर्व शरीरों का ही परिणाम है। अगले शरीर हमारे वर्तमान देहपर्यन्त शरीरों के ही परिणाम होंगे। हम इस शरीर से जो कुछ सोचते-कहते-करते हैं, उसका अच्छा या बुरा फल केवल इस शरीर तक मर्यादित नहीं है। किन्तु पूर्व शरीरों में रह कर आत्मा ने जो कुछ किया उस का उपभोग अगले शरीरों में आत्मा को करना पड़ता है और इस शरीर में रह कर आत्मा जो कुछ करता है, उस का फल उसे आगामी देहों में भोगना होगा। इस प्रकार, आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने का साक्षात् परिणाम हमारे कर्मों पर पड़ता है। शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है, यह वस्तु हमारे सामने रहे तो हमारी प्रवृत्ति स्वभावतः शुभ कर्मों के प्रति होती है।

आत्मा के अस्तित्व का प्रभाव हमारे कर्मों पर एक और प्रकार से भी पड़ता है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करते हुए जहाँ हम अपने भावी सुख-दुःख का ख्याल रखते हैं,

वहाँ साथ ही एक अन्य भी विचार हमारे मन में स्फुरित होता है, और वह यह कि-सब प्राणियों के भीतर एक ही अथवा एक समान ही आत्म-तत्त्व विद्यमान है। अतः हम सब जैसे शरीर की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं। इस सन्मति के कारण हमारे हृदयों में यह बोध उदित होता है कि हम शारीरिक, मानसिक या वाचिक कोई भी ऐसा कर्म न करेंगे जो अन्यों को क्लेशकर हो। इतना ही नहीं स्वयं क्लेश सहन कर के भी अन्य जनों को सुख प्रदान करने की चेष्टा करें। यही "त्यागपूर्वक भोग"[1] का वैदिक आदर्श है। इस आत्म तत्त्व की एकता को हम ठीक-ठीक पचा लें तो आज व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज और राष्ट्र-राष्ट्र में जो परस्पर हिंसा-वैर-द्वेष आदि के भाव बद्धमूल हो गये हैं, वे नष्ट हो कर विश्व एक बसने योग्य स्थान हो जाय, इस में संशय नहीं।

अस्तु, अब प्रश्न यही शेष है कि इस आत्मा का आयुर्वेद से क्या सम्बन्ध है? इस का विचार करने के लिए हम आयुर्वेद किंवा भारतीय चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र का विचार करेंगे। इस बात के विचार करने में आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति से हमें परम सहायता मिल सकती है।—

"आयुर्वेद" की निरुक्ति

'आयुर्वेद' शब्द की व्युत्पत्ति संहिताकारों ने यह कही है।—

१—"त्यक्तेन भुञ्जीथा"—यजुर्वेद अ० ४०-१; ईशोपनिषद १।

'आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दन्ति, इत्यायुर्वेदः ॥

सु०सू० १ । १५

आयुर्वेदस्य निरुक्तिं दर्शयन्नाह-आयुरस्मिन्नित्यादि । आयुः शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः ; अथवा आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेत्यायुर्वेदः ; आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वेत्यायुर्वेदः ; आयुरनेन विन्दति प्राप्नोतीति वाऽऽयुर्वेदः ॥ —डह्लन

आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः । कथमिति चेत् ? उच्यते स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च । यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयतीत्यायुर्वेदः ॥ च० सू० ३०।२३

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥

च० सू० १।४१

"आयु शब्द दो शब्दों के योग से बना है—आयुः और वेद । इनमें आयु का अर्थ पहले कह आये हैं कि शरीर' इन्द्रिय, मन और आत्मा इनके संयोग का नाम 'आयु' है । दूसरे शब्द 'वेद' में 'विद' धातु है' जिसके निम्नोक्त अनेक अर्थ हैं—होना, जानना, विचारना, प्राप्त करना और ज्ञान कराना । सो सम्पूर्ण आयुर्वेद शब्द का अर्थ यह है कि आयु जिसमें रहे अर्थात् जिसमें आयु का वर्णन—प्रतिपादन— हो, आयु जिसके द्वारा जानी जाय, आयु का जिसमें विचार हो, आयु का जो बोध कराए अथवा जिसकी सहायता से आयु प्राप्त हो उसे आयुर्वेद कहते हैं ।

"आयु के सम्बन्ध में आयुर्वेद में निम्न बातों का ज्ञान, विचार

या वर्णन होता है। आयु या जीवन के अनेक प्रकार हैं, यथा, सुखयुक्त, दुःखयुक्त, अपना और दूसरों का हित करने वाली, अपना या दूसरों का अहित करने वाली[१]। आयुर्वेद में इन चारों प्रकार की आयुओं का स्वरूप या प्रमाण बताया जाता है एवं उन द्रव्यों, गुणों और कर्मों का उपदेश किया जाता है जो चारों प्रकार की आयुओं की वृद्धि अथवा ह्रास करें।"

आयुर्वेद का क्षेत्र

आयुर्वेद का यह लक्षण देखने से विदित होगा कि आयुर्वेद का लक्ष्य केवल स्थूल भौतिक शरीर के रोगों की निदान-चिकित्सा करना नहीं है, किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा--आयु के इन चारों अङ्गों के रोगों के कारण और चिकित्सा का विचार आयुर्वेद में होता है। स्वस्थ पुरुष का मुख्य लक्षण ही यह है कि "जिसके आत्मा, मन और इन्द्रियाँ प्रसन्न अर्थात् निज-निज दोषों से रहित हों उस पुरुष को स्वस्थ कहते हैं[२]।" रोग का लक्षण बताते हुए भी केवल पाञ्चभौतिक शरीर के रोगों को रोग नहीं कहा गया है, किन्तु आत्मा आदि चारों को आध्यात्मिक,

१—चारों प्रकार की आयुओं के लक्षण च० सू० ३०।२४-२५ में देखिये। यहाँ विस्तारभय से नहीं दिये हैं।

२—समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थइत्यभिधीयते।

(सु० सू० १५।४१)। इसकी टीका में चक्रपाणि कहते हैं—"प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्त्वमेव स्वास्थ्यलक्षणमव्यभिचारि व्यक्तं च; तत्परिकर तथा वैद्यकसिद्धान्तोपयुक्ततया च समदोषाद्यभिधानमिति युक्तं पश्यामः।"

आधिभौतिक, आधिदैविक जो भी दुःख होता है, उसे रोग कहते हैं।

तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते ॥ सु० सू० १।२३

इस संयोग पुरुष में जितने भी दुःख संभव हैं, सबका नाम रोग है। आयुर्वेद में क्षुधा और पिपासा को भी रोग कहा गया है[1]। इसकी यथाकाल शान्ति के लिए उपयुक्त धनधान्य की सुविधा करने का भी शास्त्र में आदेश है। इसीलिए वित्तैषणा की शास्त्रकार ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है[2]। इसी प्रकार मन और आत्मा के दुःखों को भी रोग मान कर उनके प्रतीकार का उपाय शास्त्रों ने निर्दिष्ट किया है। आत्मा का परम रोग जन्म-मरण का चक्र है। इससे मुक्ति के साधनों का विशद वर्णन च० शा० ५।७-२४, च० शा० १-६५-१०८, १५०-१५५ इत्यादि स्थलों में किया गया है। जन्म-मरण के चक्र के अतिरिक्त सामान्य दुःखों का मूल उच्छिन्न करना भी आत्मा के ही हाथ में है। इस विषय पर भी विभिन्न प्रकरणों में ठीक प्रकाश डाला गया है। च० वि० ३।२३-३२ में तो स्पष्ट ही रोगमात्र का मूल अधर्म को कहा गया है। इस प्रकरण के अन्त में कहा है कि उत्तरोत्तर युग में धर्म का एक-एक चरण लुप्त होता जाता है, जिससे लोगों की आयु में भी एक-एक चरण की न्यूनता आती जाती है। क्रमशः उत्तरोत्तर युगों में अधर्म की वृद्धि से रोगो-

१—देखिये—सु० सू० १।२५। २—देखिये—च० सू० ११।५।

त्पत्ति और रोग प्रसर का स्वरूप इस प्रकरण में बड़े प्राञ्जल शब्दों में बताया गया है।

आयुर्वेद में आत्मा के स्थान और महत्त्व का विचार करने के पश्चात् अब हम उन वचनों का निर्देश करेंगे, जिनके द्वारा आयुर्वेद में आत्मा की सिद्धि की गयी है। विशुद्ध सांख्योक्त आत्मा अतीन्द्रिय और केवल अनुमान और आप्तप्रमाण (शब्द) से ग्राह्य है। इन प्रमाणों से इसकी सिद्धि च० शा० १।३६-५२, च० शा० १।७०-७४ इत्यादि स्थलों में की गयी है। द्वितीय स्थल इसी अध्याय में पहले उद्धृत किया गया है। च० सू० ११।६-३२ में पुनर्जन्म की सिद्धि का प्रकरण भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है।

अस्तु, आयुर्वैदिक कर्मपुरुष के विषय में इतना उल्लेख करके अब अगले अध्याय में आत्मा के करण या साधनभूत मन आदि का विवरण करेंगे।

सातवाँ अध्याय

मन और इन्द्रियगण

अथातो मनोविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

पहले कहा जा चुका है कि परम आत्मा वास्तव में ज्ञान-कर्म-कर्मफलोपभोगादि से रहित, निर्विकार केवल द्रष्टा मात्र है। ज्ञान-कर्म आदि का कर्ता मन तथा उसके सहायक सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियगण हैं। पिछले अध्यायों में आत्मा के विषय में आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का निरूपण किया गया। अब अवसर है कि अगले द्रव्य, मन और उसके नेतृत्व में कार्य करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों का विचार किया जाय।

मनका सामान्य परिचय

मन के विषय में अब तक हम प्रसंगोपात्त नीचे लीखी बातें जान चुके हैं।

"प्राणिशरीर में ज्ञान, कर्म, कर्मफलोपभोग आदि के रूप में जो भी हलचल हो रही है उन सबका कर्त्ता मन है। परन्तु वह अचेतन है, उसमें चैतन्य के इन लक्षणों का प्रादुर्भाव आत्मा के सांनिध्य (संग) से होता है। अतः सामान्यतः आत्मा को ही कर्त्ता-ज्ञाता-भोक्ता आदि कहा जाता है।

"विश्व के अनन्त आत्माओं के सांनिध्य से प्रकृति में आन्दोलन होकर महाभूत पर्यन्त चौबीस तत्त्व और उनसे समस्त सृष्टि के जड़-चेतन द्रव्य बनते हैं। उत्पत्ति के पश्चात् प्रलयपर्यन्त सृष्टि की स्थिति भी आत्माओं के सांनिध्य के कारण ही होती है। उक्त चौबीस तत्त्वों में एक मन है। जिस प्रकार संपूर्ण विश्व में उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयात्मक क्रिया अनन्त आत्मओं के कारण होती है उसी प्रकार प्रत्येक प्राणिशरीर में उत्पत्ति, स्थिति-कालीन ज्ञान-कर्मादि रूप क्रियाएँ, प्रलय (मृत्यु) और मृत्यु के पश्चात् पुनः नये शरीर का धारण—यह सब परम्परा उस शरीर में स्थित आत्मा के कारण होती है। इन सब कर्मों में मन का स्थान प्रमुख है।

"आत्मा निर्विकार द्रष्टामात्र है। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक आत्मा को आगामी प्रलयकाल तक के लिए एक-एक सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है। इसका निर्माण मन, बुद्धि, पञ्च प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कामेन्द्रिय और पाँच तन्मात्रों से होता है। यही सूक्ष्म शरीर बाह्य स्थूल इन्द्रियों की सहायता से विभिन्न विषयों को ग्रहण करता है, विभिन्न इच्छा-द्वेष संकल्प-विकल्प-विचार-निश्चय आदि आन्तरिक और ग्रहण-गमन-आहार आदि बाह्य कार्य करता है, शुभ-अशुभ कर्मों से उत्पन्न संस्कार इसी शरीर में रहते हैं। इन संस्कारों के कारण ही यह शरीरकृत कर्मों का फल भोगने के लिए एक शरीर को छोड़ कर अन्य शरीर में जाता है। इन तथा इसी प्रकार के अन्य कर्मों में मन प्रधान है। उसी के

नेतृत्व में अन्य सूक्ष्म और स्थूल शरीरके अवयव कार्य करते हैं। मन के अभाव में ये कर्म नहीं हो सकते अथवा मन अन्यत्र आसक्त हो तो भी इन कार्यों का होना संभव नहीं। अतः समुदाय रूप से मन को ही इन कार्यों का कर्त्ता कहा जाता है। और जैसा कि ऊपर कह आये हैं मन के भी ये सब कार्य प्रतिसूक्ष्म शरीरस्थ आत्मा के कारण होते हैं।

"ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि-इन को करण कहा जाता है। मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का सहायक होने से उभयेन्द्रिय कहा जाता है। यह मन सांख्यमत से अहंकार से उत्पन्न हुआ है। परन्तु आयुर्वेद में अन्य द्रव्य मात्र के समान मन को पाँचभौतिक (महाभूतोत्पन्न) माना गया है। दोनों दशाओं में इस का अन्तिम कारण प्रकृति होने से उसके तीन गुण—सत्त्व-रज और तम—मन में भी होते हैं। प्रत्येक मन में तीनों गुण होते हैं। तदनुसार तीनों के अनुरूप ज्ञान, प्रवृत्ति, अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन में दृष्टि गोचर होते हैं। परन्तु देखने में आता है कि प्रत्येक मन में सामान्यतः अन्य गुणों के अनुरूप कार्य यदा-कदा होते हुए भी अधिकतः एक-एक गुण के अनुरूप कर्म देखने में आते हैं। इस अधिक गुण के कारण ही मनों को तथा उनके अधिष्ठाता पुरुषों को सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है।

"शरीर के रोगों का कारण जैसे वात-पित्त-कफ ये शरीर दोष हैं, वैसे ही मानस रोगों का कारण रज और तम हैं। इन्हें

मानस दोष कहा जाता है। सत्त्वगुण के उदय से मन दोषरहित और मानस रोगों से मुक्त होता है।

"यह मन नव द्रव्यों में एक है। इसका स्थान हृदय है।"

मन के विषय में इतना सार-संग्रह करने के पश्चात् अब अन्य ज्ञातव्य बातों का संकलन करते हैं।—

मन की अनुमान द्वारा सिद्धि

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सांनिध्यात् तच्च वर्तते॥
च० शा० १।१८-१९

× × यथा ज्ञानस्याभावो ज्ञानस्य भावश्च मनोगमको भवति तदाह-सतीत्यादि। वैवृत्त्यान्मनस इति इन्द्रियेणासंयोगात्, सांनिध्यादिति इन्द्रियेण मनसः सम्बन्धात्। एवं मन्यते यदा युगपदिन्द्रियार्था इन्द्रियैः संयुज्यन्ते तदा क्वचिदिन्द्रियार्थे ज्ञानं भवति, क्वचिन्न भवतीति दृष्टं, तेनेमौ ज्ञानभावाभावौ ज्ञानकारणान्तरं दर्शयतः; यच्च तत् कारणान्तरं तन्मनः॥
—चक्रपाणि

इन्द्रियजन्य ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दार्शनिकों ने यह बताया है कि—आत्मा का मन से संयोग होता है, मन का ज्ञानेन्द्रियों से तथा ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से। जिस समय जिस ज्ञानेन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है, उस समय वह ज्ञानेन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण करती है, अन्य

नहीं। ज्ञानोत्पत्ति का कार्य मन का अस्तित्व मानने से ही सम्पूर्ण होता है। मन की सत्ता स्वीकार न करें तो ज्ञानोत्पत्ति उसके बिना कैसे होती है, यह एक प्रश्न रह जाता है। देखिये—

"यदि ज्ञानोत्पत्ति में केवल आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय इतनी ही सामग्री को कारण मानें तो भी देखते हैं कि इन सब के होते हुए कभी तो इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है और कभी नहीं। यही ज्ञान का कभी हाना और कभी न होना—कभी अभाव और कभी भाव—इस बात का सूचक है कि इनके अतिरिक्त भी एक वस्तु है, जिसका संयोग होने से तो ज्ञान होता है और संयोग न होने से नहीं होता। यही अतिरिक्त वस्तु मन है।

मन का अस्तित्व न मानें तो स्थिति यह होती है कि व्यापक होने से आत्मा का इन्द्रियों से सदा संयोग रहता ही है, इन्द्रियों का भी एक साथ अपने-अपने विषयों के साथ दिन-रात सर्वदा प्रायः सम्बन्ध रहता ही है। अतः प्रायः सर्वदा सब इन्द्रियों को एक साथ ज्ञान होना चाहिये। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इससे सिद्ध है कि ज्ञानोत्पत्ति का एक अन्य भी कारण है, जो मन है।

यह मन जब अन्यत्र आसक्त होता है—अर्थात् सुख, दुःख, चिन्ता, विचार आदि अपने विषयों में अथवा अन्य इन्द्रिय के विषय में लीन होता है तब ज्ञानेन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण नहीं कर सकती और यही मन जब किसी ज्ञानेन्द्रिय से संयुक्त होता है तो वह ज्ञानेन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण करती है।"

मन के गुण

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥

च० शा० १।१९

तच्च कारणं मनोरूपं यद्यात्मवद्युगपत् सर्वेन्द्रियव्यापकं स्वीक्रियते किंवा अनेकसंख्यमिन्द्रियवत् स्वीक्रियते, तदा पुनरपि युगपदिन्द्रियार्थसम्बन्धे पञ्चभिर्ज्ञानैर्भवितव्यं, विभुना वा मनसा अनेकैर्वा मनोभिर्युगपदधिष्ठितत्वादिन्द्रियाणां ; न च भवन्ति युगपज्ज्ञानानि, तस्माद्युगपज्ज्ञानानुदयाल्लिङ्गान्मनोऽणुरूपमेकं च सिध्यतीत्याह—अणुत्वमित्यादि ॥

—चक्रपाणि

"इस मन के दो गुण हैं—अणुत्व अर्थात् सूक्ष्मत्व या असर्वव्यापकत्व तथा एकत्व।

"यदि मन आत्मा के समान सर्वव्यापक एवं सब इन्द्रियों के साथ सर्वदा संयुक्त मानें अथवा इन्द्रियों के समान संख्या की दृष्टि से अनेक मानें तो स्थिति यह होगी कि, एक ही समय में एक साथ मन का पाँचों इन्द्रियों से सम्बन्ध होने से एक साथ पाँचों विषयों का ज्ञान होना चाहिये। परन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा देखा नहीं जाता। इससे सिद्ध है कि मन अणु है और एक है।" (जब जिस इन्द्रिय के विषय का ग्रहण आवश्यक होता है तब तत्काल उसी एक इन्द्रिय के साथ मन संयुक्त हो जाता है और उसी एक इन्द्रिय को उस काल अपने विषय का ज्ञान होता है।)

मन के विषय

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च ।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥

च० शा० १।२०

मनोगुणमभिधाय मनोविषयमाह—चिन्त्यमित्यादि । चिन्त्यं कर्तव्यतया अकर्तव्यतया वा यन्मनसा चिन्त्यते । विचार्यमुपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां यद्विमृश्यते । ऊह्यं च यत् सम्भावनया ऊह्यते 'एवमेतद्भविष्यति' इति । ध्येयं भावनाज्ञानविषयम् । संकल्प्यं गुणवत्तया दोषवत्तया वाऽवधारणाविषयम् । यत्किंचिदित्यनेन सुखाद्यनुक्तविषयावरोधः । मनसो ज्ञेयमिति इन्द्रियनिरपेक्षमनोग्राह्यम् । एते च मनोऽर्थाः शब्दादिरूपा एव । तेन षष्ठार्थकल्पनया न चतुर्विंशतिसंख्यातिरेकः । सुखादयस्तु शब्दादिव्यतिरिक्ता मनोऽर्था बुद्धिभेदग्रहणेनैव ग्राह्याः ॥ —चक्रपाणि

मनसस्तु चिन्त्यमर्थः ॥ च० सू० ८।१६

× × इन्द्रियनिरपेक्षं मनो यद्गृह्णाति तच्चिन्त्यम् । × × एतच्च प्राधान्यादुक्तं, तेन मनोऽर्थानां सुखादीनामनुपादानं दोषत्वेन नैवोद्भावनीयम् ॥ —चक्रपाणि

"(मन के विषय दो प्रकार के हैं । प्रथम वे जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से जाने जाते हैं—अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । ये यद्यपि इन्द्रियों के विषय के रूप में प्रसिद्ध हैं, तथापि इनमें मन का भी साहाय्य होता ही है ।) दूसरे प्रकार के इन्द्रिय-निरपेक्ष—ज्ञानेन्द्रियों की सहायता रहित—स्वतन्त्र

विषय ही बहुधा मन के विषय कहे जाते हैं। यथा, सृष्टि में जो कुछ चिन्त्य अर्थात् यह करने योग्य है या नहीं इस चिन्ता (विचार) का विषय है; जो कुछ विचार्य अर्थात् तर्क आदि से विचार करके जिसके विषय में जाना जाता है कि यह ऐसा क्यों है, यह बात इस रूप में कहना युक्तिसंगत है या नहीं इत्यादि जो कुछ ऊह्य अर्थात् 'ऐसा होगा' इस प्रकार की सम्भावना का विषय है; जो कुछ ध्येय अर्थात् ध्यान या भावना का विषय है; जो कुछ संकल्प्य[1] अर्थात् यह वस्तु गुणयुक्त है या दोषयुक्त इस विचार का विषय है, वह सब और इसके सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि के पात्रभूत जितने भी विषय हैं वे सब मन के विषय हैं।"

मन के कर्म

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च ॥ × × × च० शा० १।२१

मनोविषयमभिधाय मनःकर्माह-इन्द्रियेत्यादि। इन्द्रियाभिग्रह इन्द्रियाधिष्ठानं मनसः कर्म। तथा स्वस्य निग्रहो मनसः कर्म; मनो ह्यनिष्ट विषयप्रसृतं मनसैव नियम्यते, मनश्च गुणान्तरयुक्तं सद्विषयान्तरान्नियमयतीत्याहुरेके। यदुक्तं-"विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते। नियन्तुमहितादर्थाद्धृतिर्हि नियमात्मिका"—(च० शा० १।१००) इति। तेन, धृत्या कारणभूतया मन आत्मानं नियमयतीति न स्वात्मनि क्रियाविरोधः।

१—संकल्प का प्रचलित अर्थ प्रतिज्ञा या निश्चय है। स्पष्ट ही इस प्रकरण में यह अर्थ अभीष्ट नहीं है।

मनःकर्मान्तरमाह-ऊहो विचारश्चेति । अत्रोह आलोचनज्ञानं निर्विकल्पम्, विचारो हेयोपादेयतया विकल्पनम् । चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते ; तत्र बाह्यमिन्द्रियरूपम्, आभ्यन्तरं तु मनोऽहंकारो बुद्धिश्चेति त्रितयम् । तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पेन गृह्णन्तीत्यर्थः, मनस्तु संकल्पयति हेयोपादेयतया कल्पयतीत्यर्थः, अहंकारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः, बुद्धिरध्यवस्यति त्यजाम्येनं दोषवन्तमुपददाम्येनं गुणवन्तमित्यध्यवसाय करोतीत्यर्थः । ऊहस्तु यद्यपि बाह्यचक्षुरादिकर्म, तथापि तत्रापि मनोऽधिष्ठानमस्तीति मनःकर्मतयोक्तः । वचनं हि—"सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् । तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि "(सांख्यकारिका ३५) इति ॥

—चक्रपाणि

"मन के विषयों का उल्लेख किया गया। अब मन के कर्मों का निर्देश करते हैं। इन्द्रियों को नियन्त्रित करना-उन्हें हानिकर विषयों से विमुख करना, धृति की सहायता से स्वयं अपना निग्रह (नियन्त्रण) करना, इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्षीकरण (ऊह) और विकल्प अर्थात् यह वस्तु हितकर और गुणयुक्त होने से ग्राह्य है, तथा यह अहितकर और दोषयुक्त होने से त्याज्य है यह विचार—ये कर्म मन के हैं"

पाश्चात्यों का अर्धचेतन मन

ऊपर मन के कर्मों में 'इन्द्रियों का तथा स्वयं अपना निग्रह एवं गुण-दोष विचार ये तीन कर्म मन के बताये हैं। इनके प्रसंग से हम आधुनिक मनोविज्ञान के एक बहुसंमत और

सुप्रचलित मन्तव्य की ओर अंगुलि निर्देश करना चाहते हैं। विशेष विस्तार जिज्ञासुओं को अन्य ग्रन्थों में देखना चाहिये।

आधुनिक मनोविज्ञान तथा मानसरोग विज्ञान में इन दिनों फ्रायड[1] के सिद्धान्तों ने बहुत नाम और स्थान पा लिया है। फ्रायड का मन्तव्य है कि-विषयों का ग्रहण, इच्छा और अनुभव करनेवाला एक मन तो है ही पर इसके अतिरिक्त एक अर्धचेतन मन[2] और है। इसका व्यापार (कार्य) जाग्रत् अवस्था में यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं होता, पर यही अर्धचेतन मन हमारे स्वभाव, हमारे गुण-कर्म और हमारे जीवन का एक तरह से निर्माता है। ज्ञात मन के पीछे-उसके भीतर-गहराई में यह जो अज्ञात अर्धचेतन मन पड़ा हुआ है, उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना मानसरोग शास्त्र और शिक्षामनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ा उपयोगी और आवश्यक है। स्वप्नावस्था, क्रोध-शोक आदि आवेश, संमोहन (हिप्नोटिज्म), अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), प्रलाप, उन्मुक्त विवरण[3] आदि अवस्थाओं में चेतन मन-की क्रियाएँ दबी होती हैं, जिससे अर्धचेतन मन पर से उसका नियन्त्रण (निग्रह)[4] हट जाता है और उसके भीतर स्थित विचार प्रकट हो जाते हैं। संमोहन और उन्मुक्त विवरण का संमिलित नाम 'मनोविश्लेषण'[5] है।

१—Frieud. कई इस शब्द का उच्चारण फ्रूड या फ्रुइड कहते हैं फ्रायड शुद्ध है।

२—Subconsious mind—सबकॉन्शस माइण्ड। ३—Free Association—फ्री एसोसिएशन। इसका आशय आगे दिया है। ४—Repression—रिप्रेशन। ५—Psychoanalysis—सायकोएनेलिसिस।

फ्रायड तथा उनके अनुगामियों का कथन है कि, हमारे मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इन में कइयों को हम पूर्ण करके तृप्ति अनुभव करते हैं, पर अनेक कारणों से कइयों को पूर्ण नहीं कर सकते। ये अपूर्ण—अतृप्त—इच्छाएँ नष्ट नहीं होतीं, पर अर्धचेतन मन में डेरा डाल देती हैं। यथा, पर स्त्री-गमन, पर द्रव्यापहरण आदि के विचार प्रायः हमारे मन में उत्पन्न होते हैं, पर समाज, राजदण्ड आदि के भय से हम उन्हें पूर्ण नहीं कर पाते। माता-पिता का पहला लड़का बड़े लाड़-प्यार से पलता है। उसकी सब इच्छाएँ उसके माता-पिता पूर्ण करते हैं; पर दूसरा अपत्य उत्पन्न होने पर उसके प्रति उतना ध्यान नहीं दिया जाता। पहले तो वह अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए हठ करता है, पर पीछे से कोई फल न देख कर इच्छाओं को दबा देता है। सौतेली मां का सौतेला लड़का भी इसी प्रकार अनेक इच्छाओं को दबाये चलता है। शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अशक्त अथवा कामशास्त्रानभिज्ञ पुरुष की स्त्री बहुधा—विशेष कर उसकी कमेच्छा बहुत प्रबल हो तो—संभोग में पूर्ण तृप्ति नहीं अनुभव कर पाती। विभिन्न भयों के कारण बच्चे कई काम करते हुए डरते हैं—डराये जाते हैं। इन कारणों से भी उनकी कई इच्छाएँ अतृप्त रहती हैं। दुर्बल शरीर वाला लड़का मार खाने के भय से अथवा उसपर कोई आक्षेप न करे इस आशङ्का से लड़कों में अथवा समाज में जाने से डरता है। इन तथा इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों से दबी हुई इच्छाएँ; चिन्ताएँ या

आशङ्काएँ ज्ञात मन में अपने लिए स्थान न पाकर अज्ञात मन में प्रवेश कर जाती हैं। इस प्रकार की अगणित घटनाओंके संस्कार या स्तर हमारे अज्ञात मन में संचित होते रहते हैं। विशेष कर बचपन में इस प्रकार संचित अतृप्त निगृहीत इच्छाओं का हमारे गुण-कर्म-स्वभाव के बनाने में बड़ा भाग है। हममें कोई स्वभाव से दब्बू और निराशावादी होता है तो कोई दबंग आत्मगौरव सम्पन्न, अदीन और प्रखर आशावादी होता है। कोई भीरु और कोई साहसिक होता है। कोई क्रोधी और कोई शान्त; कोई दुराग्रही और कोई नम्र; कोई स्वयं सब काम करने वाला—अन्य के किये से संतोष न माननेवाला और कोई मिल-जुलकर कार्य सिद्ध करनेवाला होता है। इस प्रकार अनन्त प्रकार के स्वभाव पुरुषों में पाये जाते हैं। इन सबका कारण अज्ञात मन में, विशेषतया बालपन में, संचित हुई अतृप्त इच्छाएँ ही हैं। ये अतृप्त दबी हुई इच्छाएँ विचित्र रूपों में बाहर निकलने का—आत्माभिव्यक्ति का—प्रयत्न करती हैं और इसी कारण हमारे विभिन्न स्वभाव बनते हैं।

फ्रायड का मन्तव्य है कि ठेठ बचपन से मरणपर्यन्त हमारे जीवन में एक ही प्रधान वृत्ति होती है-और वह है काम की वृत्ति। शेष सब वृत्तियाँ इसी की रूपान्तर हैं—हमारे सब कर्म इसी की पूर्ति के लिए होते हैं। अंगूठा चूसना, पेशाब करना, मलत्याग करना सब इसी वृत्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। अन्य मानस शास्त्रियों ने अन्य भी वृत्तियाँ स्वीकार की हैं। स्वयं

फ्रायड ने भी अपनी पिछली कृतियों में दबे शब्दों में अन्य वृत्तियों को स्वीकार किया है।

जो हो, अज्ञात मनका अध्ययन मानसिक रोगों की दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। रोगी को संमोहन में डाल कर उसे क्रमशः अपने गत जीवन की स्मृतियाँ ताजा करने को कहा जाय तो उसे अपने जीवन की ऐसी घटनाएँ याद आ जायँगी, जिनके कारण उसके मन को किसी प्रकार का आघात पहुंचा था, परन्तु वर्तमान में उनके ज्ञात मन को जिसका खयाल तक न रहा था। इस विस्मृत घटना की याद आते ही रोगी का मन हलका हो जायगा और वह रोगमुक्त हो जायगा। मिरगी, हिस्टीरिया, न्यूरेस्थीनिया[1],उन्माद आदि रोगों में यह उपाय सफल माना गया है[2]।

जैसे किसी मार्ग भूले हुए मनुष्य को लौटाकर उसी स्थान पर खड़ा कर दिया जाय जहाँ से वह मार्ग भूला था तो वह मार्ग की भ्रान्ति के कारण उत्पन्न हुई मस्तिष्क की विक्षिप्त अवस्था से मुक्त हो जाता है तथा विचार करके अपने गन्तव्य मार्ग को पुनः ढूँढ सकता है; वैसे ही इन रोगों में मनोविश्लेषण द्वारा भ्रान्त और विक्षिप्त चित्त पुनः सरल मार्ग पर आ जाता है—स्वस्थ हो जाता

१—नाड़ी संस्थान (Nervous Systen —नर्वस सिस्टम) की दुर्बलता—जिसके कारण शिरःशूल, अरोचक, अरति आदि होते हैं।

२—इस प्रसंग में आयुर्वेद के इस सिद्धान्त पर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि आयुर्वेद में भी मिरगी (अपस्मार) को मानस रोग ही माना गया है।

है। उस की सब क्रियाएँ सुस्थित होकर वह पुनः पूर्ववत् व्यवहार करने लगता है।

कभी-कभी रोगी संमोहन से वश में न आता हो तो उन्मुक्त विवरण की पद्धति का अवलम्बन करना पड़ता है। इसमें 'रोगी से कहा जाता है कि वह जो कुछ मन में आये कह डाले—यह न सोचे कि मेरे मन में जो आया है, वह क्षुद्र है-नगण्य है। इससे भी रोगी के अज्ञात मन में लीन रोग का कारण प्रकट हो जाता है तथा रोगी रोगमुक्त हो जाता है। स्वप्नों के द्वारा भी कभी-कभी रोग का कारण विदित हो जाता है।

अज्ञात मन में संचित संस्कारों को मनोविश्लेषण के बिना समझना अशक्य है। इसी से इन्हें 'ग्रन्थि' या 'जाल'[1] भी कहते हैं। इन में दो ग्रन्थियाँ विशेषतः देखी जाती हैं। एक में पुरुष अपने को सब से छोटा समझने लगता है-बात-बात में दबता रहता है। इसे 'लघुता-ग्रन्थि'[2] कहते हैं। दूसरी ग्रन्थि में पुरुष अपने को सब से बड़ा-सब से अधिक उत्कृष्ट समझने लगता है। इसे 'महत्ता-ग्रन्थि'[3] कहते हैं। दोनों ग्रन्थियों के कारण पुरुषों में कई विशिष्ट लक्षण पाये जाते हैं। इनका अध्ययन इस विषय के ग्रन्थों में करना चाहिये।

मानस रोग शास्त्रियों तथा शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का कथन

१—Complex—कॉम्प्लेक्स।

२—Inferiority Complex—इन्फीरिओरीटी कॉम्प्लेक्स।

३—Superiority Complex—सुपोरिओरिटी कॉम्प्लेक्स।

है कि बालक की किसी इच्छा को दबाया जाय—निगृहीत किया जाय तो वह उल्टे-सुल्टे रास्ते से निकलने का प्रयत्न करेगी और अनिष्टतर परिणाम उत्पन्न करेगी। अच्छा यह है कि उत्पात-कारिणी नदी पर केवल बाँध बाँधने की अपेक्षया जैसे उस से नहर निकाल कर मनोऽनुकूल फल प्राप्त किया जाता है, वैसे ही अनिष्ट इच्छाओं का प्रवाह बदल कर उन्हें रूपान्तरित कर देना चाहिए। इस प्रकार काम की वृत्ति को कला या भजन के रूप में, जिज्ञासा को योग्य उत्तर देकर विद्वत्ता की अभिलाषा के रूप में, भीरुता को ईश्वर भक्ति के रूप में, एवं दुराग्रह और झगड़ालूपन को स्वाभिमान के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

आधुनिक मानसशास्त्री तथा उनके अनुसरण में क्रिया-शरीर-शास्त्री आत्मा को स्वीकार नहीं करते, परन्तु मन के द्वारा शरीर में जो ज्ञान, इच्छा और अनुभव होते हैं, उनका पृथक् कर्त्ता मानते हैं। इसे वे 'ईगो'[1] कहते हैं[2]। ज्ञात मन की इच्छाएँ यदि दोषयुक्त हों तो उनके दबाने का काम वे एक 'उच्च अन्तः-करण' का मानते हैं। इसे 'सुपर ईगो'[3] नाम दिया है। आयुर्वेद में माना गया है कि ज्ञान, इच्छा, कर्म आदि कार्य मन के

१— EGO.

२—इस विषय में विशेष जानने के लिए देखिये—शरीर क्रिया विज्ञान —पृष्ठ ४७१ तथा पृष्ठ ४८५,

३—Super-ego.

अधिष्ठातृत्व में इन्द्रियों द्वारा होते हैं। कुछ कार्य मन स्वतन्त्र रूप से भी करता है। इन्द्रियों का तथा स्वयं मन का निग्रह[1] धृति की सहायता से होता है। यह वस्तु गुणयुक्त है, यह दोष युक्त है इस बात का विचार मन करता है। इस के पश्चात् अन्तः करण का ही एक भेद बुद्धि यह निर्णय करतो है कि यह कार्य किया जाय या नहीं, यह बात कही जाय या नहीं। इससे यह भी स्पष्ट है कि आयुर्वेद में तथा भारतीय दर्शन में मन दो नहीं माने गये हैं। प्राचीन तथा आधुनिक मानसशास्त्र का अनुशीलन करते हुए यह भेद स्मरण रखना चाहिये।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ

प्राचीन भारतीय तथा नवीन मानस शास्त्र की तुलना के प्रसंग से आधुनिकों द्वारा गवेषित अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ,[2] को भी स्मरण रखना चाहिये। मनुष्यों की शारीरिक गठन, स्वास्थ्य, मानसिक, तथा बौद्धिक विकास और स्वभाव के निर्माण में इन ग्रन्थियों का बड़ा भाग है। आयुर्वेद के वात-पित्त-कफ सम्बन्धी

१—मनोविश्लेषण के बाद में किसी भी कारण इच्छाओं को दबाने के लिये रिप्रेशन (Repression) शब्द आता है। इसके लिये पूर्वोद्धृत च० शा० १।२१ में आया 'निग्रह' शब्द उत्तम है। 'रिप्रेज्ड-दबायी गयी' इच्छा के लिये 'निगृहीत' शब्द होगा।

२—Endocrine organs—एण्डोक्राइन ऑर्गन्स ; या Ductless glands—डक्टलेस ग्लैण्ड्स। इनके स्राव को Hormone हार्मोन तथा उनके अन्तर्गत क्रियाशील अंश को Enzyme एन्जाइम कहते हैं। इनका वर्णन शरीर क्रिया विज्ञान के ३६ वें अध्याय में देखिये।

मन्तव्यों के साथ इन ग्रन्थियों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थियों के रसों का पित्त और कफ तथा कदाचित् बात वर्ग में अन्तर्भाव किया जा सकता है[1]। आधुनिक विज्ञान में जैसे इन ग्रन्थियों को पुरुष के शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक विकास और आरोग्य का आधार कहा गया है, वैसे ही आयुर्वेद में वात-पित्त-कफ को जन्म से ही शारीरिक-मानसिक प्रकृति का हेतु माना गया है[2]। प्रसंगवश तुलना की दृष्टि से यह लिखना योग्य लगता है कि फ्रायड ने 'लघुता-ग्रन्थि' तथा 'महत्ता-ग्रन्थि' नामक जो दो मानसिक जाल या ग्रन्थियाँ कही हैं, उनका कारण मुझे वृषणग्रन्थि के अन्तःस्राव[3] की क्रमशः न्यूनता या पुष्कलता प्रतीत होता है। विद्वज्जन विचार करें। शुक्र के कार्यों में जो धैर्य-शौर्य उत्साह और उपचय गिनाये हैं वे इस विषय में सूचक हैं। सत्त्व-सारता भी अंशतः कारणभूत है।

मानसिक एवं शारीरिक प्रकृति का वंशक्रमागमन

आधुनिक शारीर तथा मानसशास्त्र-वेत्ताओं ने परीक्षणों से सिद्ध कर दिया है कि सन्तान के माता-पिता तथा उनके भी पूर्वजों का शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक स्वरूप, जिसे आयुर्वेद के शब्दों में 'प्रकृति' कह सकते हैं, सन्तान को उत्तराधिकार के

१-२—शरीर क्रिया विज्ञान में इन बातों का विस्तार देखिये।

३—Testoserone–टेस्टोसिरोन। इसे अन्तः शुक्र कह सकते हैं।

रूप में प्राप्त होता है। 'पुंबीज'[1] तथा 'स्त्रीबीज'[2] के न्यूक्लिअस[3] में क्रोमोसोम[4]-नामक वर्णमय सूत्र होते हैं। इनकी संख्या प्रत्येक बीज में परिगणित—निश्चित—होती है। ये सूत्र 'जेन्स'[5] नामक कणों से बने होते हैं। इन जेनीज़ में से प्रत्येक एक-एक गुण का वाहक होता है--एक-एक शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक विशिष्टताको माता-पिता या उनके भी पूर्वजों से सन्तान में पहुँचाता है।

आयुर्वेद में यही बात इस रूप में कही गयी है कि माता-पिता के शुक्र और शोणित किंवा पुंबीज और स्त्रीबीज ही अपत्य की प्रकृति का निर्माण करते हैं। परिस्थिति या देश-काल का भी इन पर प्रभाव होता है[6] साथ ही यह भी कहा है कि सन्तान के विभिन्न अवयवों तथा मानसिक गुण-दोषों के निर्माण में निम्न छः पदार्थ भाग लेते हैं—पिता, माता, रस, आत्मा, मन और सात्म्य। इनमें भी मन के सत्त्व, रज, तम में से प्रायः एक के अधिक होने से सन्तान के मानसिक स्वरूप में भिन्नता होती है।

पूर्वजन्म के भी संस्कार बच्चे में आते हैं

आयुर्वेद का विशेष सिद्धान्त इस प्रसङ्ग में यह है कि

१—Spermatozoan स्पर्मेटोजोआॅन ; बहुवचन—Spermatozoa स्पर्मेटोजोआ। २—Ovum ओवम ; बहुवचन—Ova ओवा।
३—Nucleus. ४—Chromosome. ५—Genes.

६—देखिये शरीर क्रिया विज्ञान पृ० ३८०।

आयुर्वेदीय दर्शन में मन तथा आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। फलतः 'पुंबीज' और 'स्त्रीबीजों' द्वारा जहाँ माता-पिता तथा उनके पूर्वजों की शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक प्रकृति अपत्य में अवतीर्ण होती है, वहाँ साथ ही मन और आत्मा अपने पूर्व शरीरों में अर्जित किये हुए संस्कारों को भी अपने साथ लाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अभी पूर्वजन्म को सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं करते, यद्यपि इस विषय के साधक अनेक "जातिस्मर" अर्थात् पूर्वजन्म का स्मरण और वर्णन करने वाले बच्चों के दृष्टान्त देश-विदेश में उपलब्ध और संगृहीत हुए हैं। सु० शा० २-५७ तथा च० शा० ३-१६ में जातिस्मरता का कारण मन में सत्त्वगुण की अधिकता का होना बताया गया है। आयुर्वेदीय दर्शन की यह विशेषता स्मरणीय है[१]।

इस प्रकार मन के विषय में प्रकरणवश पाश्चात्य मनोविज्ञान के कुछ मन्तव्य संक्षेप में लिखे गये। मूल ग्रन्थों से जिज्ञासुओं को इनका विशेष अनुशीलन और तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिये। अब हम पुनः मन के विषय में आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की ओर आते हैं।

इन्द्रियों का कर्म मन के अधीन है

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके। तदर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्॥ च० सू० ८।४

१—देखिये सु० शा० ३-३३ तथा च० शा० ३।१२-१३, १६-१७-१८।

××× तदिति मनः, तस्य अर्थो मनोऽर्थः, स च सुखादिश्चिन्त्यविचार्यादिश्च ; आत्मा चेतनप्रतिसंधाता, अनयोः संपत्तदर्थात्मसंपत् , एतदायत्ता चेष्टा व्यापारो यस्य तत्तथा ; तत्रार्थसंपत् सुखादीनां सन्निकर्षश्चिन्त्यादीनामभिमुख्यं च, आत्मसंपदर्थग्रहणे प्रयत्नशालित्वम् । मनश्चेष्टा च सुखादिज्ञानं तथा चिन्त्यचिन्तनादि तथा चक्षुरादिप्रेरणं च । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां या चेष्टा स्वविषयरूपादिज्ञानलक्षणा, तत्र प्रत्ययभूतं कारणभूतं मन इति योज्यम् । एतेनैतदुक्तं भवति—यदा सुखादयश्चिन्त्यादयोऽपि विषया भवन्त्यात्मा च प्रयत्नवान् भवति, तदा मनः स्वविषये प्रवर्तते, इन्द्रियाणि चाधितिष्ठति, इन्द्रियाणि च मनोऽधिष्ठितान्येव स्वविषयज्ञाने प्रवर्तन्ते ॥ —चक्रपाणि

मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ॥ च० सू० ८।७

उक्तं मनश्चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणां तद्व्याकरोति—मनःपुरःसराणि मनोऽधिष्ठितानि ॥ —चक्रपाणि

"ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का ग्रहण तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा अपने-अपने कर्म मन के कारण—मन की प्रेरणा से ही होते हैं। मन के अधिष्ठातृत्व में ही दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ अपना-अपना कर्म करती हैं। इस प्रकार मन का एक कर्म है—इन्द्रियों को प्रेरित करना। मन के अन्य कर्म हैं सुख-दुःख आदि अपने विषयों का ज्ञान तथा चिन्त्य विषयों का चिन्तन आदि। इन कर्मों का उल्लेख ऊपर आ ही चुका है। ये तीनों कर्म हों इसके लिये दो बातें आवश्यक हैं—मन के सुख आदि एवं चिन्त्य आदि विषयों का संयोग तथा आत्मा का विषयों के ग्रहण में औत्सुक्य।"

मन उभयेन्द्रिय है

तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। उभयात्मकं मनः॥ सु० शा० १।४

पूर्वाणि पञ्च श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणि, बुद्धेराश्रयत्वात्; इतराणि वाक्प्रभृतीनि कर्मेन्द्रियाणि, कर्मण आश्रयत्वात्तेषाम्। उभयात्मकं बुद्ध्यात्मकं कर्मात्मकं च। बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनोऽधिष्ठितानामेव प्रवृत्तेः॥ —डल्हन

"श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहाती हैं, क्योंकि वे ज्ञान या बुद्धि का आश्रय होती हैं—उनके आश्रय से हमें विभिन्न विषयों का ज्ञान होता है। वाक् इत्यादि पाँच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं—कारण, उनके आश्रय से हम विभिन्न कर्म करते हैं। मन उभयेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय भी और कर्मेन्द्रिय भी है, क्योंकि उसके आश्रय से—उसकी प्रेरणा से दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ अपना-अपना कर्म करती हैं।"

रोगों का एक आश्रय मन है

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानाम्॥ च० सू० १।५५

×× असमासेन च पृथगपि शरीरमनसोर्व्याध्याश्रयत्वं दर्शयति। यतः कुष्ठादयः ('राजयक्ष्मादयः' इति पाठान्तरम्) शारीरा एव, कामादयस्तु मानसाः, उन्मादादयश्च द्वयाश्रयाः॥ —चक्रपाणि

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः॥ सु० सू० १।२६

व्याधीनामाश्रयमाह—त एते इत्यादि । त एते अनन्तरोक्ता व्याधयः। तत्र मनोऽधिष्ठानाः क्रोधादयः, शरीराधिष्ठाना ज्वरादयः, उभयाधिष्ठाना अपस्मारादयः । यद्यपि मानसा अपि शरीरं पीडयन्ति, शारीरा अपि मनः पीडयन्ति ; तथाऽपि प्राङ्मानसा एव मनः पीडयन्ति पश्चाच्छरीरमम्, एवं शारीरा अपि, इति न दोषः । आत्मनि तु व्याध्यधिष्ठानत्वं नास्ति निर्विकारत्वात् ॥ —डह्लन

अब तक हमने मन के विषय में जो कुछ आयुर्वेदीय मन्तव्य उपस्थित किये हैं, उनका आयुर्वेद के मुख्य ध्येय निदान-चिकित्सा विषय के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। अब हम संक्षेप में देखेंगे कि रोगों की उत्पत्ति और चिकित्सा की दृष्टि से हमें मन के विषयमें क्या-क्या बातें जान रखनी चाहिये।

"रोग के आश्रय या अधिष्ठान—अर्थात् रोगों का आक्रमण जिन पर होता है वे दो हैं—शरीर और मन। इस प्रकार रोगों के तीन भेद होते हैं—प्रथम शारीर अर्थात् वे जो केवल शरीर में होते हैं, यथा कुष्ठ, राजयक्ष्मा, ज्वर आदि। दूसरे मानस—जो केवल मन में होते हैं, यथा, काम, क्रोध आदि। तृतीय उन्माद, अपस्मार आदि ; जो शरीर और मन दोनों को एक साथ पीड़ित करते हैं।

"प्रथम दो प्रकार के रोगों को शारीर और मानस कहने का यह अर्थ नहीं है कि शारीर रोगों का मन से और मानस रोगों का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस नामकरण का आशय केवल यह है कि इन रोगों में पीड़ा का प्रारम्भ और

लक्षणों की प्रधानतया विद्यमानता क्रमशः शरीर और मन में होती है। इस विषय में वस्तुस्थिति, जिसका उल्लेख आगे विशेष रूप से होगा, यह है कि जैसे प्राकृत शारीर और मानस क्रियाओं का परस्पर प्रभाव होता है वैसे ही शारीर और मानस रोगों का भी एक-दूसरे के आश्रय पर प्रभाव होता है।"

मानस दोष

(वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो) दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥

च० सू० १।५७

संप्रति विकाराश्रयं तथा विकारस्य व्यवहितं च हेतुमभिधाय प्रत्यासन्नं दोषरूपहेतुमाह—वायुरित्यादि। × × × मानसदोषमाह—मानसः पुनरित्यादि। पुनःशब्दोऽवधारणे, तेन मानस उद्दिष्ट एव परं न शारीरदोषवत्प्रपञ्चितः, मानसदोषाणामस्मिंस्तन्त्रे कायचिकित्सारूपेऽप्रस्ताविकत्वादिति भावः। आदौ रज उक्तं प्राधान्यात्, वचनं हि "नारजस्कं तमः प्रवर्तते" (च० वि० ६।९) इति। एव शब्देन सत्त्वाख्यगुणस्यादोषत्वमवधारयति, सत्त्वं ह्यविकारि॥ —**चक्रपाणि**

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यामानमदशोकचिन्तोद्वेगभयहर्षादयः॥ च० वि० ६।५

मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति॥ सु० सू० १।२५

क्रोधः पराभिद्रोहलक्षणः, शोकः पुत्रादिवियोगे चित्तोद्वेगः, भयं

कस्मात् त्रासः । × × हर्ष उत्सेकः, निर्निमित्तमन्यस्य दोषोत्पादनेनात्मनः प्रीतिजननं वा हर्षः । असिद्धिभयाद्विविधेषु कर्मसु सादोऽप्रवृत्तिः विषादः । ईर्ष्या परसंपत्तावसहिष्णुता, छिद्रान्वेषितया परगुणेषु दोषारोपणमसूया, दैन्यं क्लिष्टचित्तता, मात्सर्यं परगुणेष्वमाध्यस्थ्यं क्रौर्यं वा, काम इन्द्रियार्थेष्वभिकांक्षा, लोभः परस्वग्रहणाभिलाषः, आदि ग्रहणान्मानमददम्भादयः । इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्तीति इच्छा सातिशयोऽर्थाभिलाषः, सा च नानावस्त्ववलम्बिनी नानाकामतश्च भिन्ना भवति । तत्र हर्षशोकदैन्यकामलोभादय इच्छाभेदेन । द्वेषः अप्रीतिः, सोऽपि नानावस्त्ववलम्बी नानारूपो भवति । क्रोधभयविषादेर्ष्यासूयामात्सर्याणि द्वेषभेदेन । अन्ये तु 'मानसाः क्रोधशोकभयदैन्येर्ष्यासूयामात्सर्यकामादयः' इति पठन्ति ॥ —डह्लन

(रोगों के कारण दो प्रकार के हैं—संनिकृष्ट या प्रत्यासन्न तथा विप्रकृष्ट या दूरवर्ती । संनिकृष्ट कारण वे हैं जो रोग की उत्पत्ति में निकटतम या साक्षात् कारण हैं । विप्रकृष्ट कारण वे हैं जो सनिकृष्ट कारणों को उत्पन्न करके उनके द्वारा शरीर और मन में रोगोत्पत्ति करते हैं । असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग किंवा विषयों का अहितकर प्रकार से सेवन, प्रज्ञापराध अर्थात् स्वास्थ्य के नियमों को न जानना अथवा जानते हुए भी प्रमादादिवश उनका पालन न करना तथा काल या परिणाम अर्थात् ऋतुओं के स्वरूप में परिवर्तन—विपर्यय—इन तीन को विप्रकृष्ट कारण कहते हैं । निदान-प्रकरण में इनका विस्तार से वर्णन देखा जा सकता है ।

"उक्त कारणों से उद्दीपित या प्रकुपित हो कर शरीर और

मन में रोग उत्पन्न करने वाले कारणों को सन्निकृष्ट या प्रत्यासन्न कारण कहते हैं। वात, पित्त और कफ शारीर रोगों के सन्निकृष्ट कारण हैं। मानस रोगों के सन्निकृष्ट कारण दो हैं—रज और तम। (इन दोनो का गुण नाम प्रसिद्ध है। पर मन को दूषित कर रोगजनक होने से इन्हें दोष कहा जाता है। मन को दूषित कर) ये दोष काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष, विषाद, असूया, दैन्य, मात्सर्य, दम्भ आदि मानस रोगों को उत्पन्न करते हैं। इनमें इन्द्रियों के विषयों की विशेष आकांक्षा को काम कहते हैं। मन और उसके द्वारा शरीर को पीड़ित करने वाला वह विकार जिसमें दूसरे के अहित की प्रवृत्ति होती है उसे क्रोध कहते हैं। अन्यों के धन, दारा आदि के ग्रहण की इच्छा का नाम लोभ है। दूसरे की समृद्धि को सहन न कर सकने (जलन, डाह) का नाम ईर्ष्या है। (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान-विपरीत ज्ञान को मोह कहते हैं। अपने गुणों को बहुत अधिक मानना तथा अन्यों में उनको न्यून मान कर उनके प्रति हीनता का भाव रखना, मान कहाता है। इसीका अतिरेक—विशेष वृद्धि—मद है।) पुत्र आदि इष्ट वस्तुओं का वियोग हो कर चित्त में जो विकलता होती है, उसे शोक कहते हैं। (किसी वस्तु का अत्यधिक ध्यान करना चिन्ता-फिक्र कहा जाता है। समय पर उचित मार्ग न सूझने से जो घबराहट होती है, उसे उद्वेग कहते हैं।) आपत्तिजनक वस्तु से त्रस्त होने का नाम भय है। प्रसन्नता अथवा बिना कारण अन्य पुरुष की

हानि करके मन में प्रसन्नता अनुभव करने को हर्ष कहते हैं। कार्य को दुष्कर मान कर हाथ-पर-हाथ धर कर बैठ जाने को विषाद कहा जाता है। छिद्रान्वेषण के स्वभाव के कारण दूसरों के गुणों को भी दोष समझने और समाज में इसी प्रकार का प्रचार करने का नाम असूया है। मन का दब जाना—साहस और धैर्य रहित होना—दैन्य कहा जाता है। दूसरों के गुणों को न प्रकट करने अथवा क्रूरता को मत्सरता कहते हैं। (जो गुण-कर्म-स्वभाव अपने में न हों उन्हें अपने में प्रदर्शित कर जनता को वञ्चित करना दम्भ कहाता है।)

"इन सब मानस रोगों को इच्छा या राग और द्वेष या अप्रीति इन दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। किसी वस्तु की अत्यधिक अभिलाषा का नाम इच्छा या राग है। अनभीष्ट वस्तु के प्रति जो अरुचि का भाव होता है उसे द्वेष कहते हैं। हर्ष, शोक, दैन्य, काम, लोभ आदि इच्छा के ही भेद हैं। क्रोध, भय, विषाद, ईर्ष्या, असूया, मात्सर्य आदि द्वेष के ही विभिन्न रूप हैं[1]।"

दोषोंकी गणनाका कारण

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यति बहुत्वात्, दोषास्तु खलु परि-

---

१—इस विषय का विशेष विवेचन डा० भगवानदास कृत 'साइन्स आफ इमोशन' आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये। आपका मत है सम्पूर्ण मानसिक भावों और रसों को 'राग' और 'द्वेष' इन दो के ही अन्तर्भूत किया जा सकता है।

संख्येया भवन्त्यनति बहुत्वात्। तस्माद्यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थमन-वशेषेण च दोषान् व्याख्यास्यामः ॥ च० वि० ६।५

× × × यथाचित्रमिति यथाविन्यासं, तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारान-धिकतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेव व्याख्यास्यामः, न तु सर्वान् अशक्यत्वात् ××

—चक्रपाणि

"आयुर्वेद में दोषों का विशेष विस्तार से उल्लेख है। उसका कारण यह है कि दोष तो शारीर तीन और मानस दो ही हैं। परन्तु उनसे उत्पन्न होने वाले रोग असंख्य हैं, जिससे उन सब का वर्णन अशक्य है। अतः संहिताओं में पद्धति यह रखी गयी है कि दोषों से उत्पन्न होने वाले लक्षणों तथा उनके कारणों आदि का पूर्णतया वर्णन करके, पश्चात् उदाहरण रूप में कुछ अति-प्रसिद्ध रोगों का वर्णन कर दिया गया है और विद्यार्थी से आशा रखी गयी है कि वह इन्हीं के आधार पर अनुक्त रोगों के निदान-चिकित्सा की कल्पना स्वयं कर लें। इस बात का विशेष विस्तार क्रिया शारीर और निदान-चिकित्सा के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

"इस विषय में इतना और जान लेना चाहिये कि आयुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं का विषय कायचिकित्सा और शल्य-शालाक्य ही है। अतः इनमें मानस दोषों तथा रोगों का उतना विस्तार से वर्णन नहीं पाया जाता जितना शारीर दोषों और रोगों का[1]।"

१—देखिये ऊपर च० सू० १।५७ की व्याख्या में चक्रपाणि का वचन।

शारीर और मानस दोषों और रोगोंका परस्पर संबन्ध

ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च। नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परं, न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते ॥ च० वि० ६।८-९

विकारणां शारीरमानसानां परस्परं संसर्गमाह–ते च विकारा इत्यादि। अनुवर्तमाना इत्यनेन यदैव ज्वरादयः कामादयो वा बलत्वेन चिरकालमनुवर्तन्ते, तदैवानुबध्नन्ति प्रायः। यदा तु स्तोक कालावस्थायिनो भवन्ति न तदा प्रायोऽनुबध्नन्तीत्यर्थः। किंवाऽनुवर्तमानाः परस्परबलमभिवर्धयन्तः। अत्र च परस्परशब्देन शारीराणां शारीरेण, मानसानां मानसेन, शारीराणां मानसेन, मानसानां शारीरेण चानुबन्धो ज्ञेयः। विकारानुबन्धं दर्शयित्वा दोषानुबन्धमाह-नियतस्त्वित्यादि ॥ —चक्रपाणि

(प्रायः) शारीरदोषाणामेकाधिष्ठानीयानां संनिपातःसंसर्गो वा समान गुणत्वात्; दोषा हि दूषणैः समानाः। च० वि० ६।१०

. शारीरदोषानुबन्धमाह—शारीरेत्यादि। एकाधिष्ठानीयानामित्यनेनैक शरीराधिष्ठानप्रत्यासत्त्या च संसर्गा दोषाणां भवन्तीति दर्शयति। समानगुणत्वादिति हेतुं विवृणोति-दोषा हीत्यादि। दूषणैरिति हेतुभिः; प्रायो हि शारीराणां वातादीनां समान एव हेतुर्भवति; यथा–ह्यम्लं लवणं कटु च पित्तकरं; तत्राम्लं सकफं पित्तं करोति, लवणं च सपित्तं कफं करोति, कटु तु सवातं पित्तं करोति। तथा वसन्तः श्लेष्मकारकोऽप्यादानत्वेन वातपित्ते च करोति, तथा वर्षास्वपि पित्तं चीयमानं शरदि प्रकुप्य कफानुगतमेव कुप्यति, तथा ग्रीष्मो वातचयं रूक्षत्वेन कुर्वन् उष्णत्वेन मनाक् पित्तचयमपि करोतीत्यनुसरणीयम् ॥ —चक्रपाणि

शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम् ॥ च० शा० ६।३६

"चिकित्सा की दृष्टि से शारीर और मानस दोनों प्रकार के दोषों और रोगों के सम्बन्ध में विशेष महत्त्व की बात यह है कि–दोनों प्रकार के दोष और उनसे उत्पन्न रोग प्रायः अकेले-अकेले नहीं पाये जाते।

"मानस दोष रज और तम तो सर्वदा ही साथ-साथ रहते हैं। रज के बिना तम और तम के बिना रज रह नहीं सकता। अतः उनसे उत्पन्न रोग भी एक-दूसरे के साथ गुथे हुए रहते हैं।

"शारीर दोष वात-पित्त-कफ भी इसी प्रकार साथ-साथ ही कुपित या क्षीण होते हैं। कोई भी दोष अकेला ही कोप (वृद्धि) या क्षय (ह्रास) को प्राप्त हो यह सम्भव नहीं। कारण, दोषों में (विरोधी गुण होते हुए भी अधिकांश) गुण समान होते हैं। इस अवस्था में जो गुण, कर्म, देश, आहार, औषध, ऋतु आदि अमुक-अमुक दोष को प्रकुपित या क्षीण करते हैं वे समान गुण वाले होने से अन्य दोषों को भी प्रकुपित या क्षीण करते हैं। यद्यपि मुख्य दोष की तुलना में अल्प मात्रा में। यथा—

"अम्ल, लवण और कटुरस पित्त को प्रकुपित करते हैं, यह प्रसिद्ध है। तथापि अम्ल रस पित्त को मुख्यतया कुपित करने के साथ-साथ समान गुण होने से कफ को भी कुपित करता है। लवण रस इसी प्रकार पित्त-सहित कफ को और कटुरस वात-सहित पित्त को कुपित करता है। एवं, वसन्त ऋतु श्लेष्मा को कुपित करता है यह प्रसिद्ध है; परन्तु आदान-काल होने से वात

और पित्त की भी वृद्धि करता है। पित्त वर्षा में सञ्चित हो कर शरद ऋतु में कुपित होता है यह विदित है, पर उसके साथ कफ का भी कोप होता है। अथच, ग्रीष्म में ऋतु की रूक्षता के कारण वात का सञ्चय होता है, परन्तु उसके उष्ण होने से साथ ही पित्त का भी किञ्चित् सञ्चय होता है[1]।

"इस प्रकार दो दोष एक साथ कुपित या क्षीण हों तो उनके संयोग को संसर्ग कहते हैं और तीन दोष मिले हुए हों तो संयोग को सन्निपात कहते हैं।

"उक्त प्रकार से मानस दोष, मानस दोष से और शारीर दोष, शारीर दोष से संयुक्त हो कर ही रोग उत्पन्न करते हैं। इसी लिये कहा गया है कि—रोग कभी एक दोषज नहीं होते (नैकदोषास्ततो रोगाः। अ० हृ० सू० ९।३[2])।

"परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। शारीर और मानस रोग भी परस्पर मिश्रित होते हैं। यह मिश्रण प्रायः तब होता है जब रोग चिरस्थायी हो गया हो, अथवा दोष बलवान् हो।

"सारे कथन का आशय यह है कि शरीर मन का और मन शरीर का अनुगामी होता है।

"दोषों के परस्पर सम्बन्ध का विशेष नाम 'अनुबन्ध है।"

१—यह विषय स्वस्थवृत्त का है। इसे समझने के लिये उसके ग्रन्थ देखने चाहिये।

२—इस सूत्र की कुछ व्याख्या दूसरे अध्याय में कर आये हैं।

वायु का मन पर प्रभुत्व

मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक है। दोनों इन्द्रियों के बाह्य अधिष्ठान शरीर के अवयवभूत हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत अवस्थाओं में मन का शरीर पर कैसा और कितना प्रभुत्व होता है। क्रोध, काम, हर्ष आदि मानस विकारों का भी शरीर पर कैसा प्रभाव होता है यह प्रत्येक को स्वानुभव सिद्ध है। इससे जाना जा सकता है कि शारीर रोगों की चिकित्सा करते हुए मन की चिकित्सा भी आवश्यक है। दूसरी ओर, शरीर का अथवा अन्य शब्दों में दोषों, धातुओं और मलों का भी मन पर प्रभाव होता है ? चिकित्सा की दृष्टि से शरीर का मन पर प्रभाव जानना भी उपयोगी है। इन दोषों, धातुओं और मलों में वायु मुख्य है। कारण वही उसका प्रेरक है ; इनके साम्य और वैषम्य का वही कारण है[1]। अतः प्रथम वायु का मन के प्राकृत कार्यों पर प्रभुत्व देखेंगे। इसके पश्चात वायु के प्रकोप से होने वाले मानस विकारों पर दृष्टिपात करेंगे। -

वायुः × × प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा × × × प्रवर्तको वाचः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः। × × × कुपितस्तु खलु × × × मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति × × × भयशोक मोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति × × ×॥ च० सू० १२।८

१—इस विषयके प्रमाण 'शरीर क्रियाविज्ञान' पृ० ४५३-४५४ तथा ५३३-५३४ पर संगृहीत देखिये।

××× नियन्ताऽनीप्सिते विषये प्रवर्तमानस्य मनसः, प्रणेता च मनस एवेप्सितेऽर्थे। उद्योजकः प्रेरकः, किंवा 'उद्योगकारकः' इति पाठः, सोऽप्यभिन्नार्थः। अभिवोढेवाभिवोढा सर्वेन्द्रियार्थग्राहकत्वेन, तच्चास्य वायुमयेन स्पर्शनेन्द्रियेण सर्वेन्द्रियाणां व्यापकत्वात् पूर्वाध्यायप्रतिपादितेन न्यायेन बोद्धव्यम्। ××× उत्साहः कार्येषूद्योगो मनसः, योनिरभिव्यक्ति कारणम् ×××॥ —चक्रपाणि

(दोषधात्वग्निसमतां) संप्राप्तिं विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः॥

सु० नि० १।१०

×× विषयेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु। क्रियाणां कायवाङ्मानसानाम्। आनुलोम्यं प्रवर्तकत्वम्॥ —डह्लन

इन्द्रियार्थोपसंप्राप्तिं दोषधात्वग्न्यवैकृतम्।
क्रियाणामानुलोम्यं च कुर्याद्वायुरदूषितः[1]॥

सु० नि० १।१०

××× इन्द्रियाणां चक्षुरादीनामर्थानां रूपादीनामुपगमन पूर्विकां प्राप्तिं करोति वायुरदूषितः, सर्वक्रियाणामनिलकृतत्वात्। भूतात्मनां मनः पुरःसरमिन्द्रियेणेन्द्रियार्थानां ग्रहणात्, अपगतमनसां पुनरग्रहणात्। यद्येवं न स्यात्तदा सर्वेन्द्रियाणामेव सकृदर्थग्राहित्वं स्यात्। तस्मादिन्द्रियाणामर्थग्रहणार्थं मनस उपगमे हेतुता च वातकृता, सर्व क्रियाणामनिलमूलत्वात् ×× —गयदास

१—गयदास सम्मत पाठ।

क्रियाणाम प्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥

सु० शा० ७।८

× × क्रियाणां कायक्रियाणां प्रसारणाकुञ्चनादीनां, वाक्क्रियाणां भाषितादीनाम् । अप्रतीघातम् अप्रतिहनम् । बुद्धिकर्मणामिति पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां, मनसो बुद्धेश्च स्वे-स्वे विषये प्राकृतायां प्रवृत्तौ मोहस्याभावं करोति । अन्यान् गुणान् "तत्र प्रस्पन्दनोद्वहन पूरण" (सु० सू० १५।४) इत्यादिकान् ॥ —डह्लन

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वास चेष्टा धातुगतिः समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥

च० सू० १८।४९

चेष्टेत्यविकृता चेष्टा । धातुगतिरिति रसादीनां पोष्यं धातुं प्रति गमनम् । गतिमतामिति पुरीषादीनां बहिर्निःसरताम् ॥ —चक्रपाणि

× × × वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय बलवर्णविवृद्धये वर्चस्वित्वायोपचयाय ज्ञानोपपत्तये परमायुः प्रकर्षाय चेति ॥ च० सू० १२।१०

सर्वाहि चेष्टा वातेन[1] ॥ च० सू० १७।११८

"वायु मन का प्रेरक है—अर्थात उसकी सुख-दुःख ग्रहण,

१—यहाँ केवल वातके प्राकृत कर्मोंके द्योतक वचन ही उद्धृत किये हैं । क्षीण अथवा कुपित वात एवं वातप्रकृति पुरुषके लक्षण विस्तारभयसे यहां नहीं दिये हैं । शरीर क्रिया विज्ञानके अध्याय ४८ से ५४ तक इनका संग्रह देखा जा सकता है ।

चिन्तन आदि आत्मनिष्ठ क्रियाएँ तथाउभय प्रकार की इन्द्रियों द्वारा होनेवाली क्रियाएँ वायु की प्रेरणा से ही होती हैं। इस प्रकार परम्परया वायु ही विषयों का ज्ञान कराता है तथा वही स्वभाव से विविध उच्छ्वास-निःश्वास आदि जीवनयोनि (अनैच्छिक) और बोलना-चालना आदि ऐच्छिक चेष्टाएँ कराता है। मन (तथा उसके द्वारा इन्द्रियाँ) अहितकर विषयों में प्रवृत्त हो रही हों तो वायु ही उन्हें उन विषयों से निवृत्त करता है—अटकाता है। पुरुषों में जो हर्ष तथा उत्साह है—उसका कारण भी वायु ही है। वायु क्षीण हो जाय तो उसके इन मानसिक कार्यों में क्षीणता आ जाती है। वही कुपित हो जाय तो ये कार्य विकृत रूपसे होने लगते हैं। यथा वायु की क्षीणता होनेपर सर्व प्रकार की चेष्टाओं की अल्पता, वाणी की अल्पता; रसज्ञान, गन्धज्ञान आदि इन्द्रियजन्यज्ञान पूर्ण रूपसे न होना, हर्ष और उत्साह का भंग-ग्लानि (इत्यादि) लक्षण होते हैं। वायु का प्रकोप होने पर इन्द्रियजन्य ज्ञान लगभग न होना या सर्वथा न होना—यथा अरसज्ञता, शब्दाज्ञता, उच्चैःश्रुति (ऊँचा सुनना) या बाधिर्य, दृष्टि का ह्रास, सुप्ति (स्पर्शनाश) और घ्राणनाश (गन्ध ज्ञान का अभाव) मूकता या प्रलाप, वाणी की कर्कशता; निद्रानाश, तम, भ्रम, विभिन्न शूल तथा वेदनाएँ, भय (भीरुता) शोक, विषाद (मानसिक दैन्य), मोह, चित्त की अस्थिरता, अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) इत्यादि लक्षण होते हैं।

"ऊपर मन की उन प्राकृत तथा विकृत क्रियाओं का वर्णन

किया गया है। जो पुरुष मात्र में वायु के कारण होती हैं। इनके सिवाय वातप्रकृति पुरुष का तो शारीरिक ढाँचा और मानसिक स्वभाव पूर्णरूपसे वात से प्रभावित होता है। यहाँ प्रसंगवश वातप्रकृति पुरुष की स्वभावगत विशेषताओं का वर्णन करते हैं—

"वातप्रकृति (वातिक, वातल) पुरुषों में भय, घबराहट, प्रीति, विरक्ति, क्रोध, क्षोभ (चिड़), काम आदि विकार शीघ्र अर्थात अकस्मात् और अल्पमात्र कारण से उत्पन्न होते हैं और उतनी ही शीघ्रता से शान्त भी हो जाते हैं। किसी कार्य के करने का निश्चय (बुद्धि, अध्यवसाय) भी वे सहसा कर बैठते हैं, पर वह निश्चय बदलते हुए भा उन्हें देर नहीं लगती—अर्थात वे स्वाभाव से जल्दबाज होते हैं। उन्हें कोई बात कही या समझायी जाय तो उसे वे शीघ्र समझ लेते हैं पर उनकी स्मृति-शक्ति अल्प होती है—किसी बात को वे शीघ्र ही भूल जाते हैं। उनकी मैत्री भी स्थायी नहीं होती।

"वातिक पुरुषों की चाल-ढाल, चेष्टा, आहार, बोलना-चालना इन सब में एक प्रकार का हलकापन और चञ्चलता देखी जाती है। वे बड़े वाचाल (बक-बक करनेवाले), असंबद्ध और असंयत बोलनेवाले होते हैं। उनमें मानसिक दृढ़ता नहीं होती। वे असंयमी, अनार्य, नास्तिक, चोर, मत्सरी, क्रोधी तथा कृतघ्न होते हैं।

"इन वातिक पुरुषों का स्वभाव पुराणों में वर्णित गन्धर्व

जाति के पुरुषों के समान होता है—अर्थात गाना-बजाना, नाचना, हँसी-ठट्ठा, विलास (ऐश-आराम), कलह और मृगया उन्हें स्वभाव से प्रिय होते हैं। भोजन में उन्हें मधुर, अम्ल, लवण और उष्ण-आहार पर रुचि विशेष होती है। वे पेटू होते हैं।

"वातप्रकृति पुरुषों का स्वर भी अन्य पुरुषों से कुछ विशेषता रखता है। किसी का स्वर बैठा हुआ, किसी का फटा हुआ, किसी का गद्गद् (लरजनेवाला) किसी का रूक्ष और किसी का क्षीण होता है। उनके हाथ-पैर, संधियाँ, नेत्र, जिह्वा, भौंह, कनपटी, ओष्ठ, सिर, कन्धा आदि सदा किसी न किसी प्रकार की निरर्थक चेष्टा किया करते हैं।

"अल्प वीर्य होने से वातल पुरुष स्त्रियों की प्रीति संपादन नहीं कर सकते।

"वातल पुरुषों को निद्रा कम आती है और अल्पकारण से उचट जाती है। उन्हें आकाश में उड़ने एवं पर्वतों वृक्षों, अट्टालिकाओं आदि के लाँघने के स्वप्न आते हैं। सच पूछा जाय तो कल्पना शक्ति की प्रधानता, स्वभाव की शीघ्रता और चपलता के कारण वे दिन में भी लम्बी-चौड़ी और असंभव कल्पनाओं के जगत में विहार करते हैं। इस क्रिया को हम 'जाग्रत्स्वप्न' कह सकते हैं।

"वायु के पाँच प्रकारों में उदान और व्यान का मन से विशेष सम्बन्ध है। इनमें उदान बोलना, गाना, प्रयत्न (मन

को प्रेरणा) एवं उत्साह का कारण है। व्यान वायु प्रसारण, आकुञ्चन आदि पाँच प्रकार की (ऐच्छिक, अनैच्छिक) चेष्टाओं का हेतु है। प्राणवायु श्वास क्रिया में सहकार करता है।"

इस प्रकार वायु और मन के सम्बन्ध के विषय में विचार करके अब हम देखेंगे कि पित्त का प्राकृत और विकृत अवस्था में मन और उसकी क्रियाओं पर क्या प्रभाव होता है।

पित्त का मन पर प्रभाव[1]

यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा ; सोऽभिप्रार्थित मनोरथ साधन कृदुक्तः ॥ सु० सू० २१।१०

बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यै रभिप्रेतार्थ साधनात् ।
साधनं हृद्गतं पित्तम् ॥ अ० हृ० सू० १२।१३

पित्त का मन के साथ सम्बन्ध भी कम गाढ़ नहीं है। "मन का स्थान हृदय है। यहीं रह कर वह, जिस काल जिस इन्द्रियों से कार्य कराने की आवश्यकता होती है, उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। पित्त का एक भेद साधक पित्त इसी हृदय में रहता है। यह हृदय को आवृत (मन्द) करने वाले कफ और तम को दूर कर मन को निर्मल और स्वकार्यक्षम करता है। इस प्रकार आवरणमुक्त तथा सत्त्व और रजोगुण के उत्कर्षवाले हृदय में बुद्धि (निश्चय करने का गुण), मेधा (ग्रन्थ को समझने का गुण), अभिमान आदि का विकाश होता है।

१—इस प्रकरण से सम्बन्ध रखनेवाले वचन यहाँ संपूर्ण उद्धृत नहीं किये हैं। शरीर क्रिया विज्ञान में अध्याय ३९-४० में इनका संग्रह देखें।

परिणामतया आत्मा अपने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप सभी प्रकार के अभीष्ट कर्मों के साधन (संपादन) में समर्थ होता है। इसी कारण इस पित्त को 'साधक' कहते हैं। भय या शौर्य, क्रोध या हर्ष, मोह (इन्द्रियों की अपने विषयों के ग्रहण में मन्दता या अक्षमता) या प्रसाद (इन्द्रियों की क्षमता) आदि द्वन्द्वों का कारण यह साधक पित्त है।"

उल्लिखित गुणों और कर्मों का मन से कितना सम्बन्ध है यह कहने की आवश्यकता नहीं। ये सब कार्य पित्त-विशेष द्वारा सम्पन्न होते हैं। अतः पित्त का मन पर प्रभाव सुस्पष्ट ही है। आयुर्वेद और अर्वाचीन क्रिया शरीर का तुलनात्मक अध्ययन करनेवालों का कथन है कि साधक पित्त आधुनिकों का एड्रीनलीन है। एड्रीनलीन की उत्पादक ग्रन्थियाँ यद्यपि वृक्कों के ऊपर स्थित होती हैं तथापि उनकी क्रिया हृदय पर विशेषतया लक्षित होने से उनके स्राव एड्रीनलीन का स्थान आयुर्वेद में हृदय को कहा है। दोषों के पाँच-पाँच भेदों के जो स्थान हैं वे उन स्थानों पर उनकी क्रिया को लक्ष्य में रख कर ही निश्चित किये गये हैं। यह आयुर्वेद में स्पष्ट कहा है।

डा० बनर्जी[1] का मन्तव्य है कि एकमात्र एड्रीनलीन ही साधक पित्त नहीं, किन्तु उसके समान अन्य सभी अन्तःस्राव साधक पित्त इस एक ही नाम से अभिहित हैं।

१—डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जीः कलकत्ताके कारमाइकेल मेडिकल कालेजमें पैथॉलॉजीके प्रोफेसर, आयुर्वेदके प्रखर विवेचक तथा लेखक हैं।

मनके साथ इस सीधे सम्बन्ध के अतिरिक्त एक पित्त का दर्शन क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध है। इस पित्त का नाम आलोचक पित्त है[१]।"

पित्त का मन तथा उसके द्वारा उभय प्रकार की इन्द्रियों के साथ उल्लिखित घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही पित्त प्रधान प्रकृतिवालों में कुछ विशेताएँ पायी जाती हैं, जो अन्य पुरुषों में नहीं पायी जातीं। देखिये :—

"पित्त का एक गुण 'तीक्ष्णता' होता है। परिणामतया, पित्त प्रकृत पुरुष तीक्ष्ण स्वभाववाला होता है—वह अभिमानी, तेजस्वी और निर्भय होता है; किसी से दबने का नाम नहीं लेता।

१—**बुद्धि वैशेषिक पित्त**—इस विषय में स्मरण किया जा सकता है कि भेल ने आलोचक पित्त के दो भेद किये हैं—"चक्षुर्वैशेषिक और बुद्धि-वैशेषिक।" इनमें चक्षुर्वैशेषिक तो अन्य तन्त्रकारों का आलोचक पित्त ही प्रतीत होता है; शेष बुद्धिवैशेषिक के विषय में कहा है कि "वह दोनों भौंहों के मध्य में शृङ्गाटक (?) में रहता है। आत्मा और मन के अभिलषित सुसूक्ष्म विषयों को ग्रहण करता है, स्मरण करता है, उनके विषय में चर्चा करता है, अतीत को याद करता है; अपनी प्रतिभा के बल से विचार कर—आवश्यकता अनुभव करके—अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है। उसीके कारण उत्पन्न होते ही बच्चा विना सिखाये दूध पीने की ओर प्रवृत्त होता है। वही ध्यान और प्रत्याहार का कारण है।"

भेल ने पाँच पित्तों में एक 'राजक पित्त' बताया है। इसका कार्य विषयों के प्रति राग (आसक्ति) उत्पन्न करना तथा विषयों में परस्पर राग (पुरुषों के हित के लिये महाभूतों के समान परस्पर सहकार) उत्पन्न करना कहा है।

उसका पराक्रम तीक्ष्ण होता है। धृष्ट-सामना करनेवाले-पुरुषों के प्रति उसका व्यवहार कठोर होता है, परन्तु प्रतिपक्षी यदि नम्र हो जाय—घुटने टेक दे तो उसके साथ सन्धि करते हुए प्रीति और सद्व्यवहार करनेवाला होता है। वह सब क्षेत्रों में साहसी होता है। बुद्धि और मेधा भी उसकी वैसी ही तीक्ष्ण होती है। युद्ध भूमि के समान सभाभूमि में भी वह अपनी प्रतिभा के बल से विरुद्ध पक्ष को परास्त करके ही दम लेता है। वह शीघ्र ही कुपित होता है, पर उतना ही शीघ्र प्रसन्न (और प्रकृतिस्थ) भी हो जाता है।

"वह बहुत सुकुमार होता है। (शारीरिक और मानसिक) क्लेशों तथा धूप-ताप आदि को सहन करने का सामर्थ्य उसमें अल्प होता है। उसमें हर्ष (कामवासना) तथा मैथुनशक्ति की न्यूनता होती है, अतः वह स्त्रियों का उतना प्रिय नहीं हो पाता।"

पित्त के मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियोंपर उल्लिखित प्रभाव के कारण स्पष्ट है कि उसका क्षय होनेपर इन स्वाभाविक कार्यों में क्षीणता आती है। इसके विपरीत, अपने प्रकोपक कारणों से पित्त की वृद्धि होनेपर, पित्त के तीक्ष्णता आदि गुण विशेषतः लक्षित होते हैं। यथा, "दवथु (हृदय की धड़कन), मतिभ्रम, शुक्र की अल्पता तथा तज्जन्य विकार, क्लम (परिश्रम के बिना ही शरीर और मनमें थकावटका अनुभव होना), अरति (किसी प्रकार चैन न पड़ना), ठण्ढे आहार-विहार आदि की इच्छा,

निद्रा की अल्पता, चिड़चिड़ापन, क्रोध, नेत्र की ज्योति मन्द पड़ना, तम (आँख के आगे अंधेरा छाना), सहनशक्ति का अभाव मद, मूर्च्छा, इन्द्रियों की दुर्बलता इत्यादि पित्त-विकार पित्त की वृद्धि से मन के अभिभूत होनेपर होते हैं।"

कफका मनपर प्रभाव[1]

वात और पित्त का मनपर प्रभाव देखा। अब अवसर है कि प्राकृत और विकृत कफ की मनपर क्या क्रिया होती है यह भी देखें। शरीर, उभय प्रकार की इन्द्रियों और मन का पोषण और स्नेहन करनेका कार्य कफ का है। इस प्रकार यह पित्त की शोषण और वात की रूक्षण क्रियाओं का प्रतिकार करके शरीर के अवयवों के स्वरूप और कार्यों को समस्थिति में रखता है। अत एव "कफ के कर्म सामान्य रूप से बताते हुए निम्न मानसिक कर्मों का समावेश किया गया है—दृढ़ता, उत्साह, वृषता, ज्ञान, बुद्धि, धृति, विवेक, अलोलुपता, क्षमा ; मन की आर्द्रता, मृदुता तथा स्निग्धता—इत्यादि। इसके विपरीत, कफकी क्षीणता का मनपर जो प्रभाव होता है वह निम्न विक्रियाओं द्वारा दर्शाया गया है— शिथिलता, आलस्य, नपुंसकता, अज्ञान, मोह, अविवेक, लोभ, अधीरता, अक्षमा इत्यादि।

"कफ के पाँच भेदों में तीन कफ ऐसे हैं, जिनका मन एवं

१—इस विषयके प्रमाण 'शरीर क्रियाविज्ञान' के इकतालीसवें तथा बैतालीसवें अध्याय मेंदेखिये।

ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रिया से सीधा सम्बन्ध होता है। इनके नाम निम्न हैं—अवलम्बक कफ, तर्पक कफ और बोधक कफ।

"इनमें अवलम्बक कफ हृदय (हृदय तथा फुफ्फुस) को एवं शरीर में अन्यत्र स्थित कफों को अवलम्बन प्रदान करता है तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण शरीर का अवलम्बन करता है (तथा उनके द्वारा सम्पूर्ण शरीर का अवलम्बन करता है) उन्हें अपना-अपना प्रकृतिनियत कर्म करने का सामर्थ्य देता है।

"दूसरा तर्पक कफ शिरमें रहता है तथा समस्त इन्द्रियोंका (मस्तिष्क में स्थित इन्द्रियोंके केन्द्रोंका) तर्पण-पोषण-करता है।

"तीसरा बोधक कफ जिह्वा पर रहता है, जिसके सम प्रमाण में रहने से जिह्वा को विभिन्न रसों का ज्ञान होता है। (इसकी वृद्धि होनेसे भोजन के प्रति रुचि नष्ट हो जाती है।)"

कफ के उल्लिखित तथा अन्य गुणों को लक्ष्य में रखने से विदित होगा कि कफ प्रकृत पुरुष के स्वभाव में शान्ति, सौम्यता आदि सद्‌गुणो का प्राधान्य होता है देखिये--

"कफ प्रकृति पुरुष की सम्पूर्ण चेष्टाओं में एक प्रकार की मन्दता पायी जाती है। वह सहसा क्रोध, शोक आदि मनोवेगों का शिकार नहीं होता, प्रत्युत सहनशील, धैर्यशाली, क्षमावान् और परिश्रमी होता है। गम्भीरता उसका विशेष लक्षण है। बचपनमें भी वह न उतना रोनेवाला होता है, न उतना चपल। उसके मुख से कभी निष्ठुर वचन नहीं निकलते। गम्भीर होने के अतिरिक्त वह सरल, कृतज्ञ, निर्लोभ, सात्त्विक, ईर्ष्यारहित, विनीत, वृद्धों का मान करनेवाला, श्रद्धालु, सत्यप्रतिज्ञ, साम्य

और शालीन (शिष्ट) होता है। उसका स्वभाव प्रत्येक कार्य को धीरे-धीरे करने का होता है। वह अल्प परन्तु निश्चित वाक्य बोलता है। दान बहुत बिचार कर करता है, पर जब करता है तो मुक्त हस्त होकर करता है। वह किसी बात को देर से समझता है, पर एक बार जो बात सलझ ली वह उसकी स्मृति से शीघ्र बाहर नहीं होती। वह दीर्घदर्शी, शान्त, बुद्धिवान् और विद्वान् होता है। उसकी मित्रता स्थिर होती है। किसी से बैर ठानता है तो बैर भी चिरस्थायी और दृढ़ परन्तु गुप्त रूप से होता है। उसे नींद बहुत सताती है। उसकी चाल मत्त गजराज के समान तथा कदम भी अचञ्चल तथा सम्पूर्ण होता है। उसे मधुर रस प्रिय होता है।"

कफ तमोगुण प्रधान है, अतः इसमें आवरण (अन्य दोष आदि की क्रिया को दबा देना)और मन्दता ये दो विशेषताएँ होती हैं। परिणामतया, कफ की वृद्धि होने पर शरीर, मन और बुद्धि की क्रियाओंपर आवरण और उनकी मन्दता देखने में आती है। देखिये—"संहिताओ में कफ की वृद्धि के लक्षण बताते हुए मन और इन्द्रिय सम्बन्धी निम्न लक्षणों की गणना की गयी है– तृप्ति (खाये बिना भी तृप्ति अनुभव होना), तन्द्रा (सुस्ती-नींद-सी बने रहना), निद्रा की अधिकता, इन्द्रियों की अपटुता, आलस्य, मनमें भारीपन और शिथिलता रहना, अवसाद (अवसाद-विषाद), हृदय और छातीपर भार-सा प्रतीत होना, बुद्धि की मन्दता, उष्ण और तिक्त-रस-द्रव्योंपर रुचि, अचैतन्य (!)

इत्यादि। इसके विपरीत कफ का क्षय होनेपर मन से सम्बद्ध निम्न लक्षण होते हैं—रूक्षता (शरीर में भी और स्वभाव में भी), शिर आदि कफ के आशयों में खालीपन का भास होना और दुर्बलता ; अनिद्रा।"

इस प्रकार दोषों के मनपर प्रभाव का पृथक्-पृथक् निरूपण हुआ। इस बात का विचार इसलिए किया है कि हम मन के रोगों का विचार करते हुए इन दोषों को न भूल जायँ। आशय यह है कि मानस रोगों का भी मूल केवल मन में नहीं है, किन्तु शरीर में भी है। काश्यप ने तो स्पष्ट ही कहा है कि "मानस रोगों का उपचार भी शारीर दोषों को लक्ष्य में रखकर ही करना चाहिए—मानसानाँ च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम्—का० सू० २७-५"

दोषों का मनसे सम्बन्ध देखने के पश्चात अब हम देखेंगे कि धातुओं और मलों का मनपर कैसा प्रभाव है।

धातुओं और मलोंका मनपर प्रभाव

"आदि धातु रसका कार्य शरीर और मनको हृष्ट और पुष्ट करना है। अतएव, इसका क्षय होने पर नीचे कहे मानसिक लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं--रूक्षता (स्वभाव में चिड़चिड़ापन और कर्कशता), अकारण थकावट लगना, हृत्कम्प (दिल की धड़कन), ऊँचे शब्द के प्रति द्वेष ; आमाशय, हृदय और सारा शरीर खाली-खाली सा भासित होना, तृष्णा, हृदय-शूल, ग्लानि उधर, रसकी अति वृद्धि होने पर जी मिचलाना, आलस्य, शिथि-

लता, अङ्गमर्द, श्रम, तन्द्रा, अति निद्रा, अरुचि, रसों का बोध ठीक प्रकार से न होना, तृप्ति (पेट भरा-भरा सा लगना), भारीपन, हृद्रोग, स्रोतों का अवरोध (स्रोतो में मनोवह और संज्ञावह स्रोत-नाड़ो सस्थान की दोनो प्रकार की नाड़ियाँ—भी सम्मिलित हैं। इनके अवरोध से मन और इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य ठीक नहीं कर सकतीं), तम (आँखो के आगे अन्धेरा छाना), क्लीबता इत्यादि।"

स्थूलता और कृशता के लक्षण बताते हुए शास्त्रकारों ने प्रकारान्तर से रस को ही वृद्धि क्षय के लक्षण बताये हैं। उनको भी इस प्रसङ्ग में स्मरण किया जा सकता है।

"शरीर में रस शुद्ध हो तथा उसका प्रमाण प्रर्याप्त हो तो (त्वक्सारता में) पुरुष नीरोग, प्रसन्न, बुद्धिमान्, विद्वान् एवं दीर्घायु होता है।"

"पुरुष विशुद्ध तथा यथेष्ट रक्तवाला (रक्तसार) हो तो उसकी इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं--उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों के ग्रहण में तथा कर्मेन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में प्रवृत्ति रखती हैं ; वह सुखी, शान्त, मेधावी, मनस्वी और सुकुमार होता है।

"रक्त का क्षय (अल्पता) होनेपर वायु का प्रकोप और शिराओं का शैथिल्य (ब्लडप्रेसर कम होना) होते हैं।"

हृदय रस और रक्तका स्थान है। वही चेतना धातु (आत्मा), मन, उसके सत्व, रज और तम इन तीन गुणों, साधक पित्त और

ओजका आश्रय है। इससे स्पष्ट है कि रस-रक्तकी शुद्धि-अशुद्धि और सम-विषम प्रमाणका हृदय पर और उसके द्वारा मनपर कैसा प्रभाव होता है।

अब अगली धातु मांस का मन पर प्रभाव देखिये। "मांस-सार पुरुषों में क्षमा, धृति, अलोलुपता, विद्या वित्त, सुख, सरलता बल और दीर्घायु—ये मन से सम्बद्ध विशेष गुण होते हैं।"

मन का अधिष्ठानभूत हृदय "मांसपेशीमय"[1] होता है। अतः हृदय के स्वास्थ्य और क्रिया का मांस धातु के स्वास्थ्य और साम्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

"मांस का क्षय होने पर श्रम अर्थात् परिश्रम किये बिना थकावट होती है। इसीसे स्वभाव में रूक्षता भी आती है। इसके अतिरिक्त 'धमनीशैथिल्य' होता है।" धमनीशैथिल्य आधुनिकों का 'ब्लडप्रेशर की न्यूनता' ही प्रतीत होता है। धमनियों का सङ्कोच-विकास उनमें स्थित सूक्ष्म मांससूत्रों के कारण ही होता है, अतः मांसधातु की क्षीणता (प्रमाण या शक्ति की अल्पता) होने पर धमनियों में स्थित मांससूत्रों के प्रमाण तथा कार्य में शिथिलता आना स्वाभाविक है। परिणामतया, धमनियाँ शरीर में रस और रक्त के प्रक्षेपण का कार्य समुचित प्रकार से नहीं कर सकतीं। इससे शरीर और मन की क्रियाओं में बाधा आना भी स्वाभाविक है।

१—देखिये 'शरीर क्रिया विज्ञान' पृष्ठ १७९ पर धृत प्राचीन वचन। आधुनिक क्रिया शरीरविद् भी हृदय को मांसधातुमय ही बताते हैं।

अब मेद का मन तथा इन्द्रियों से सम्बन्ध देखते हैं। "मेद की क्षीणता होने पर श्रम होता है। अल्प मेद वाला पुरुष क्षुधा पिपासा के वेगों, शीत-उष्ण (ठण्डी-गर्मी), वात, वृष्टि, रोगों का आक्रमण और औषध का बल—इनको सहन करने एवं शारीरिक या मानसिक श्रम पर्याप्त मात्रा में करने में असमर्थ होता है।" नवीन क्रिया शारीर में कहा है कि शरीर में उष्णता तथा विभिन्न ऐच्छिक-अनैच्छिक चेष्टाओं के लिए आहारगत अमुक द्रव्यों के अतिरिक्त शरीरगत मेद का भी उपयोग होता है। उसके अभाव में शरीर मांस आदि धातुओं का उपयोग करता है, जिससे मांस आदि का क्षय हो कर एक प्रकार की अशक्ति उत्पन्न होती है, जिसे श्रम आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त मेद यथेष्ट प्रमाण में हो तो शरीर की उष्णता भी बाहर नहीं जाने पाती, जिसके कारण शरीर की समस्त क्रियाएँ सुस्थित होती हैं, शरीर और मन में एक प्रकार की स्फूर्ति रहती है और शरीर शीतजन्य (वात-कफजन्य) रोगों का ग्रास नहीं होने पाता।

"मेदोवृद्धि के कारण शिथिलता, सुकुमारता, दुर्बलता, अकाल वृद्धत्व, पुंसत्वशक्ति की अल्पता, श्रम करने की शक्ति की न्यूनता—इत्यादि मानसिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।"

"मेदःसार अर्थात् जिनमें मेद सम प्रमाण एवं विशुद्ध स्वरूप में हो ऐसे पुरुष परिश्रम के सहन करने में समर्थ, ऐश्वर्यवान्, सुखी, दानी, भोगी, सुकुमार व्यवहारवाले, सुकुमार ही चिकित्सा पसन्द करनेवाले एवं सरल होते हैं।"

अब अस्थिधातु का मन से सम्बन्ध देखते हैं। "अस्थिसार पुरुष, जिनकी अस्थियाँ विशुद्ध एवं परिपुष्ट होती हैं, अति उत्साही क्रियाशील, शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों के सहन में समर्थ और दीर्घायु होते हैं। अस्थि की क्षीणता होने पर श्रम किये बिना भी शारीरिक और मानसिक श्रम बना रहता है।"

आयुर्वेद में "अस्थियों को वायु का आश्रय" कहा है। अतः वायुसाध्य क्रियाओं का अस्थियों की पुष्टि से सम्बन्ध स्पष्ट ही है। इन क्रियाओं में मन और इन्द्रियों की क्रियाएँ प्रमुख हैं। इस प्रकार अस्थियों के सम्यक् विकास से मन और इन्द्रियों की क्रियाएँ सुस्थित होती हैं, इसमें संशय नहीं।

आधुनिक अन्वेषणों के अनुसार इस बात की व्याख्या कुछ अंशों में यों की जा सकती है। अस्थि की रचना कैल्शियम और प्रस्फुरक (फॉस्फरस) इन दो मूल द्रव्यों से होती है। आहार में जीवनीय 'डी' पर्याप्त हो तभी शरीर इन दो द्रव्यों का ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त पोषणिका ग्रन्थि[1] के अग्रिम खण्ड के एक स्राव का तथा परिचुल्लिका[2] के स्राव का भी अस्थियों के पोषण पर प्रभाव होता है। मात्रा तथा गुण की दृष्टि से यह स्राव उत्कृष्ट हो तभी शरीर प्रस्फुरक और कैल्शियम का ठीक उपयोग कर सकता है, जिससे अस्थियों का विकास उत्तम होता है।

१—Pituitary gland—पिट्यूइटरी ग्लैण्ड।

२—Parathyroid- पैराथायरोयड।

कैल्शियम और प्रस्फुरक शरीर के प्रत्येक धातु और प्रत्येक कोष[1] के अनिवार्य घटक हैं। कैल्शियम नाड़ी-संस्थान द्वारा कराई जाने वाली चेष्टाओं—कर्मेन्द्रियों के कर्मों—में सहकार उत्पन्न करता है। इसके हीनयोग में स्पन्दन, कम्पन या अनियमित चेष्टाएँ होती हैं। कैल्शियम का एक अन्य कार्य हृदय की सङ्कोचनी शक्ति को सुस्थित बनाये रखना है। इन दो क्रियाओं का मन से निकट सम्बन्ध है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

प्रस्फुरक शरीर में होने वाले धातुपाक[1] का उद्दीपक तथा नाड़ी-संस्थान के लिये बल्य है। इसी कारण दुर्बलता में और नाड़ी-संस्थान के विभिन्न रोगों में प्रस्फुरक के कल्प दिये जाते हैं।

अस्थियों की समुचित पुष्टि का अर्थ यह है कि शरीर में इन दो मूल द्रव्यों का ठीक-ठीक उपयोग हुआ है, और इनके उपयोग का अर्थ है कि ऊपर वर्णित क्रियाएँ सम्यक् प्रकार से हो रही हैं। इन द्रव्यों के ठीक उपयोग का अर्थ यह भी है कि आहार में जीवनीय "डी" पर्याप्त है एवं परिचुल्लिका और पोषणिका ग्रन्थियाँ कार्यक्षम हैं। इनकी कार्यक्षमता का अर्थ यह है कि इनके शरीर और मन से सम्बन्ध रखने वाले जो अन्य कार्य हैं वे यथोचित रूप से हो रहे हैं। अस्तु ; अब मज्जा का मन से सम्बन्ध देखते हैं।

आयुर्वेद के मत से तथा आधुनिक रसायन की दृष्टि से भी

१—Cell—सेल।

"मज्जा और मेद में विशेष भेद नहीं।" अतः मज्जा का मन पर प्रभाव मेद के तुल्य ही है। परन्तु 'मज्जा के विशेष गुण भी आयुर्वेद में कहे हैं; यथा, "आहार आदि के रूप में सेवन की गयी मज्जा, बल, शुक्र, रस, श्लेष्मा, मेद और मज्जा की पुष्टि करने वाली, विशेषतः अस्थियों को बलप्रद तथा उत्तम स्नेहन है। इसके अतिरिक्त यह शुक्र धातु की पोषक है।" नवीन वैद्यक में भी मज्जा को रक्त धातु के रक्त और कतिपय श्वेत कणों की उत्पादक कहा है, अतः मज्जा का मन और शरीर पर विशेष प्रभाव भी होता है, यह स्वतः सिद्ध है। "मज्जासार पुरुष स्निग्ध और गम्भीर स्वर (वाणी) वाले, बलिष्ठ, शास्त्राभ्यास और श्रवण से उत्पन्न ज्ञान से सम्पन्न तथा सौभाग्य, धन, शिल्प और समान से युक्त होते हैं। मज्जा की क्षीणता होने से मज्जक्षयजन्य रोगों के अतिरिक्त दुर्बलता और शुक्र तथा अस्थियों की क्षीणता होने से तज्जन्य लक्षण होते हैं। मज्जा की अधिकता से शरीर और मन में गौरव होता है।"

अगली धातु शुक्र का शरीर और मन पर जो प्रभाव होता है वह आयुर्वेद के विद्यार्थियों को अविदित नहीं। "शुक्रायत्तं बलं पुंसाम्—पुरुषों का बल शुक्र के ही अधीन है। धैर्य अर्थात् क्रोध, शोक, चिन्ता आदि के उद्दीपक कारण उपस्थित होने पर भी मन में विकृति न उत्पन्न होना (स्थितप्रज्ञता); निर्भयता, शूरता, उत्साह, पुष्टि, स्त्रियों पर प्रीति, हर्ष (काम की प्रबलता) ये मानसिक प्रभाव शरीर में शुक्र के कारण होते हैं। अतएव, शुक्रसार

पुरुष सौम्य स्वभाव और स्निग्ध-सौम्य दृष्टि वाले, स्निग्ध स्वरयुक्त, अति हर्षयुक्त, स्त्रियों की तृप्ति में समर्थ, बलवान्, सुखी, एवं ऐश्वर्य, आरोग्य, वित्त, सम्मान और सन्तान से सम्पन्न होते हैं। जन्म, अति व्यवाय किंवा रोग आदि से क्षीण शुक्र वाले पुरुषों में इनसे विपरीत लक्षण होते हैं।"

ओज का मन पर प्रभाव

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतीघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च कारणानामत्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति[1] ॥

सु० सू० १५-२०

प्रधान और अप्रधान दोनों ओजों का मन पर प्रभाव भी आयुर्वेदज्ञों के लिए नवीन नहीं है। "ओज शरीर के सर्वधातुओं की स्थिरता और पुष्टि का कारण है। वातादि दोष सम प्रमाण में हों तो भी ओज के बिना निज कार्य नहीं कर सकते। (इस प्रकार ओज दोषों तथा धातुओं के शारीरिक और मानसिक कार्यों का परम्परया कारण है।) श्रोत्र, चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों और मन, बुद्धि आदि आभ्यन्तर इन्द्रियों की अपने-अपने कर्म करने की शक्ति ओज के ही कारण होती हैं। सब प्रकार की चेष्टाएँ सुस्थित होना, स्थित प्रज्ञता (मन की निर्विकारता-शान्ति) और स्वर तथा वर्ण की विकलता का कारण ओज है। इस ओज का स्थान हृदय है।

१—प्रस्तुत विषय के सम्पूर्ण प्रमाण 'शरीर क्रिया विज्ञान' के चौंतीसवें अध्याय में देखिये।

"ओज की क्षीणता होने से पुरुष का मन सदा दबा हुआ रहता है। शरीर और मन के बल से वह हीन होता है—सर्वदा निष्प्रभ, व्यथित इन्द्रियोंवाला और चिन्तामग्न रहता है,—बात-बात में डरा और घबराया करता है। उसके मांसादि धातु क्षीण और रूक्ष होते हैं। (क्षय का प्रमाण विशेष हो तो) मूर्च्छा, मोह (ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों को ठीक-ठीक ग्रहण न कर सकना), अज्ञान, प्रलाप आर मृत्यु का ग्रास होता है।

"ओज की व्यापत्ति अर्थात् दोषों के प्रभाव से गुणहीन होने पर तन्द्रा, निद्रा, शरीर में गौरव और ग्लानि (हर्ष का क्षय) ये मन और इन्द्रियों से सम्बद्ध लक्षण होते हैं। ओज के विस्रंस अर्थात् स्वस्थानच्युत होने से अस्थि, मांसादि की सन्धियों का शैथिल्य, श्रम, दोषों का अपने स्थान से विच्युत होना, एवं कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का सम्यक् न होना ये मन और इन्द्रियों से सम्बन्ध रखनेवाले विषय देखे जाते हैं।

"जिस प्रकार ओज का मन पर प्रभाव होता है उसी प्रकार मन का प्रभाव ओज के प्रमाण और कार्य पर होता है। मानसिक (या शारीरिक) आघात, (धातुक्षय), क्रोध, शोक, चिन्ता, श्रम इन मानसिक कारणों से ओज का क्षय (ह्रास) होता। अतः क्षीण ओज की वृद्धि के लिए मानसिक दुःखों का निवारण, तत्त्वज्ञान के उपदेश आदि द्वारा मन की शान्ति इत्यादि उपायों का अवलम्बन करना उपयुक्त होता है।"

अन्न का मन पर प्रभाव

अबतक हमने दोषों,, धातुओं और ओज का मन पर तथा मन का दोषादिक पर प्रभाव देखा। अब हम देखेंगे कि ये सब दोषादि जिस अन्न से उत्पन्न और पुष्ट होते हैं उस अन्न का मन से कैसा सम्बन्ध है। नीचे दिये उपनिषद्वचन इस विषय पर उत्तम प्रकाश डालते हैं।—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः। × × × अन्नमयं हि सोम्य मनः॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति॥ छान्दोग्य उपनिषद्; षष्ठ अध्याय

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः॥ छान्दोग्य उपनिषद्, सप्तम प्रपाठक, २६ खण्ड

"हम जो अन्न खाते हैं, पचन के पश्चात् उसके तीन विभाग हो जाते हैं—स्थूल, मध्यम और अणु (सूक्ष्म)। इनमें स्थूल भाग पुरीष होता है, मध्यम मांसादि धातु तथा अणु भाग मन। जैसे दही का सूक्ष्म सारभूत भाग घी होता है उसी प्रकार अन्न का सूक्ष्म सारभूत भाग मन होता है। मन अन्नमय (अन्न से उत्पन्न और अन्न से पुष्ट) होता है। अन्न शुद्ध (सात्त्विक) हो तो मन भी शुद्ध होता है। मन शुद्ध हो तो पुरुष की स्मृति (तथा अन्य आन्तरिक गुण) पुष्ट होते हैं।"

भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में (श्लोक ८-१०) सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषों के प्रिय आहार बताते हुए साथ-साथ उन आहारों के परिणाम भी बता दिये हैं। इस प्रसंग में उनको भी स्मरण किया जा सकता है।

चरक का निम्न वचन अन्न का मन से सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है—

तत् (अन्नपानं) सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानं, विपरीतमहिताय संपद्यते ॥ च० सू० २७-३

सत्त्वमूर्जयति मनोबलं करोति ॥ —चक्रपाणि

"विधिवत् सेवन किया गया अन्न-पान मन को बलवान् बनाता है ; धातुओं का पोषण, बल, वर्ण की विमलता और इन्द्रियों में पटुता उत्पन्न करता है। विधिहीन अन्न पान का परिणाम इससे विपरीत होता है।"

जैसे अन्न पान का प्रभाव मन पर होता है वैसे मन का भी प्रभाव अन्न पान के पचन पर होता है। 'तन्मना' होकर आहार न किया जाय—भोजन के पूर्व, समकाल अथवा पश्चात् मन क्रोधादि से आविष्ट हो तो शरीर में आम का प्रकोप हो कर विभिन्न रोगों का प्रादुर्भाव हाता है[1]।

मन का शरीर पर प्रभाव

शरीर और मन का परस्पर सम्बन्ध बड़ा व्यापक, गहन

१—तन्मय हो कर आहार करने का प्रभाव जानने के लिए देखिये—'शरीर क्रिया विज्ञान' पृ० ८५,९५ ; प्राचीन तथा अर्वाचीन मत सें आम का अर्थ देखिये—पृष्ठ ३७८-३७९।

और उपयोगी विषय है। यहाँ हमने उसके एक देश का ही विचार किया है। इसी प्रकार विभिन्न आहार-औषध या विष-द्रव्यों, मधुरादि रसों, विभिन्न देश-काल आदि परिस्थितियों और विशेष करके विभिन्न रोगों का मन से कैसा सम्बन्ध है, इस बात का भी अनुशीलन बड़ा बोधप्रद हो सकता है। विस्तरभय-भय से इस विषय का विवेचन इस पुस्तक में नहीं किया जा सकता। अस्तु।

अबतक हमने विषय के एक ही पहलू का ही विचार किया है—हमने यही देखा है कि वात इत्यादि का मन पर कैसा प्रभाव होता है। अब हम दूसरे पहलू का विचार करते हुए देखेंगे कि मन का भी इन पर कैसा प्रभाव होता है। मन की महिमा, मन का पुरुष की सर्व प्रकार की उन्नति-अवनति इत्यादि से सम्बन्ध भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक पृष्ठ में सविस्तर वर्णित है। अतः इस विषय को हम संक्षेप में ही देखेंगे।—

कामशोकभयाद् वायुः, क्रोधात् पित्तम् ॥

च० चि० ३—११५

"काम, शोक और भय से वायु का प्रकोप होता है, क्रोध से पित्त की वृद्धि होती है।" इसो प्रकार अन्य मानसिक विकारोंका भी दोषों के प्रमाण पर प्रभाव होता है तथा विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं। परन्तु—

मन के स्वास्थ्य अस्वास्थ्य का रोगों से सम्बन्ध एक अन्य दृष्टि से भी विचारणीय है। शारीर रोगों का प्रत्यासन्न (निकटवर्ती)

कारण वातादि दोष अथवा उनका वैषम्य है। परन्तु उनकी विषमता के उत्पादक अन्य कारण हैं, जिनका परिचय 'प्रज्ञापराध' इस एक शब्द से दिया जा सकता है। इसका वर्णन करते हुए महर्षि अग्निवेश कहते हैं—

"पुरुष जब रजोगुण अथवा तमोगुण से आविष्ट होता है तब वह बुद्धि, धृति और स्मृति[२] से हीन हो जाता है। परिणामतया, वह या तो अपने हिताहित को समझ नहीं पाता किंवा समझता हुआ भी विपरीत आचारण करता है। इसी अवस्था का नाम 'प्रज्ञापराध' है। यह प्रज्ञापराध शरीर में सर्व दोषों का प्रकोप तथा सर्व रोगों का मूल कारण है[१]।"

१—बुद्धि से हिताहित का निश्चित ज्ञान होता है, धृति से मन अहित विषयों में प्रवृत्त होने से रोका जाता है और स्मृति से हिताहित ज्ञान का यथा समय स्मरण होता है। देखिये—च० शा० १।९९–१०१

२—धीधृतिस्मृति विभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्व दोष प्रकोपणम्॥ यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्। प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्॥ बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्। प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥ च० शा० १।१०२ १०८, १०९। दोषों के प्रकोप के कारण भूत प्रज्ञापराध आदि का विस्तृत वर्णन देखिये—च० सु० १।५४-५५, च० सु० ८।१७, १८, च० सू० ११।३७-४२, च० शा० १।१०१-१३१, च० नि० ७।२२-२६

२—दूरन्धकारे विद्धस्य केनचिद्विषशङ्कया। विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत्॥ ग्लानिर्मोहोऽतिसारश्चाप्येतच्छङ्काविषं मतम्॥ च० चि० २३।२२१-२२२

मन का सामर्थ्य बढ़ाने से पुरुष कैसी-कैसी शारीरिक-मानसिक चमत्कारिणी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है, इसका अच्छा बोध प्राचीन-अर्वाचीन योगियों और मानसशास्त्र विशारदों के जीवन-वृत्तान्तों से प्राप्त हो सकता है। आयुर्वेद में वर्णित "शङ्का विष" इस बात का उत्तम उदाहरण है कि मन की विक्रिया का शरीर पर कैसा विकारजनक प्रभाव होता है। शङ्काविष का लक्षण देते हुए कहा है कि "पुरुष को अन्धकार में काँटे आदि से अथवा निर्विष प्राणी से वेध हो जाय और उसके मन में शङ्का पैठ जाय कि किसी विषधर प्राणी ने काटा है तो उसे इस शङ्का मात्र से ज्वर, वमन, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि (हर्ष का क्षय), मोह और अतिसार हो जाते हैं[1]।" टीकाकार चक्रपाणि कहते हैं कि "यह शङ्का ही शरीर में विष को उत्पन्न करती है—"शङ्का चेयं प्रभावा-देव विष जनिका।" बारीज्वर में कितनी ही बार केवल इस विचार से कि आज ज्वर का दिन है, इतने बजे वेग प्रारम्भ होगा, रोगी को नियत समय पर ज्वर का वेग प्रारम्भ हो जाता है।

कोई रोग उत्पन्न होने पर पुरुष का मन उल्लसित और उत्साही हो तो रोग शीघ्र शान्त होता है। इसके विपरीत "उसका मन मन्द हो गया हो तो रोग की वृद्धि का यही सबसे बड़ा कारण बन जाता है—विषादो रोगवर्धनानाम् (श्रेष्ठः) च० सू० २५।४०"।

आज तो पश्चिम में शरीर पर मन के आरोग्योत्पादक और रोगजनक प्रभाव का नये सिरे से ऐसा विशद अनुशीलन प्रारम्भ

१—इसका फुटनोट आ० प० विज्ञान के पृ० २७२ के अन्तिम पैराग्राफ नं० २ देखें

हो गया है कि चिकित्सा-शास्त्र का स्वरूप ही बदल-सा गया है। मन के स्वतन्त्रकर्म, उनका शरीर पर साक्षात् प्रभाव, जीवनयोनि नाड़ीसंस्थान[१], उसके द्वारा मन का शरीर की क्रिया और विक्रिया पर प्रभाव ; अधिवृक्क[२], पिट्युइटरी[३] आदि ग्रन्थियों के स्वास्थ्य और अंस्वास्थ्य का मानसिक और शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्ध मन की जाग्रत और सुप्त शक्तियाँ, उनके विकास का विलक्षण प्रभाव, मन के निग्रह[४] से होने वाले विकार, मनो-विश्लेषण[५], उसका अनेक शारीर-मानस रोगों की चिकित्सा, मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, मानस-चिकित्सा[६] इत्यादि अनेक विषयों का ज्ञान आज उत्तरोत्तर पल्लवित होता जा रहा है और चिकित्सा शास्त्र दिन-पर-दिन मानस-शास्त्र के अधिकाधिक निकट आता जा रहा है। शरीर और मन के इस गाढ़ सम्बन्ध को देखते हुए ही एक विद्वान् ने तो यह भी प्रस्ताव किया है कि वर्तमान चिकित्सा-शास्त्र का 'एॅलोपैथी' नाम भ्रान्तिजनक और अपूर्णार्थ-

---

१—Autonomic nervous system—ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम प्राचीन भारतीय दर्शन में इस नाड़ीसंस्थान के कार्य के लिये 'जीवनयोनि' शब्द का व्यवहार हुआ है ; देखिये—शरीर क्रिया विज्ञान, पृष्ठ २१७-२१८, ५०५। उसके आधार पर इस संस्थान का नाम 'जीवनयोनि नाड़ीसंस्थान' रखना योग्य प्रतीत होता है। म० म० गणनाथसेनजी ने तथा उनके अनुकरण में अन्य लेखकों ने इसके लिये 'स्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान' शब्द रखा है।

२—Adrenals—एड्रीनल्स। ३—Pituitary gland.

४—Repression—रिप्रेशन। ५—Psycho-analysis—सायको-एनेलिसिस। ६—Psycho-therepy—सायको थेरेपी।

द्योतक है। अतः इसे बदल कर इसका नाम 'साइको-सोमेटिक मेडिसिन्[1]' रखना योग्य है। इस शब्द का अर्थ है—शरीर और मन की चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाला शास्त्र।

मन की विकृति से शरीर में कैसी विकृतियां होना संभव है, इसका आयुर्वेद मत से उल्लेख 'शङ्का विष' के प्रसंग से दिया है। अब इसी विषय का निर्देश एक आधुनिक लेखक के शब्दों में देखिये—

"मानसिक विक्रिया से शरीर की समावस्था में होनेवाली क्रियाओं में विषमता आ जाती है, रोगजन्तुओं के प्रतिकार की शक्ति न्यून हो जाती है, इतना ही नहीं, शरीर के मर्मभूत अवयवों के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। उत्क्लेश, आमाशय-शूल, आमाशय में कैंसर, आमाशय में व्रण, प्रवाहिका, पुरीषधरासंरम्भ,[2] उच्च ब्लडप्रेसर, राजयक्ष्मा, ईक्षुमेह,[3]

१—Psycho somatic medicine, इसमें Psyce—'साइक' का अर्थ 'मन' है, तथा Soma—सोमा का अर्थ 'शरीर' है;

२—अंग्रेजी Inflammation—इन्फ्लेमेशन शब्द के लिए आयुर्वेद के शल्य-शालाक्य सम्बन्धी अध्यायों में 'पाक' या 'संरम्भ' शब्द का व्यवहार हुआ है। आधुनिक लेखक इसके लिए शोथ शब्द का उपयोग करते हैं। संहिताओं में 'शोथ' शब्द का व्यवहार किसी भी प्रकार के 'उत्सेध' (उभार) के लिए आया है, परन्तु 'पाक' या 'संरम्भ' शब्द का उपयोग 'इन्फ्लेमेशन' के समान मर्यादित अर्थ में ही हुआ है।

३—जिस मेहरोग में मूत्रमार्ग से खाँड जाती है, उसके लिए जनता और वैद्यों में 'मधुमेह' शब्द प्रचलित है। परन्तु सुश्रुत के मत से

उदकमेह,[1] सन्धि-संरम्भ, दन्तक्षय, हृद्रोग—ये सब रोग हमारे मन के किसी गह्वर में दबी हुई चिन्ताओं के कारण ही होते हैं। ऐसी स्थिति में, यह कितना आवश्यक है कि हम रोग-परीक्षा पद्धति में ही परिवर्तन कर डालें और यह न देखें कि रोगी को किस प्रकार का

१—जिसे 'बहुमूत्र, मूत्रातिसार' आदि नाम नवीन लेखकों ने दिये हैं वही प्राचीनों का 'उदकमेह' है। देखिये—'शरीर क्रिया विज्ञान' पृ० ३५३।

'मधुमेह' तो इस तथा अन्य मेहों की उस अवस्था का नाम है, जिसमें शरीर में पिडकायें (मधुमेह-पिडका—carbuncle-कारबंकल) निकल आती हैं। देखिये—मधुमेह का लक्षण—"पिडका पीडितं गाढ़मुपसृष्टमुपद्रवैः। मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्तितः (सु० नि० ६-२४)।" इसी स्थल की टीका में गयदास द्वारा उद्धृत भोज का वचन भी देखिये—"प्रभूतमूत्रः पुरुषः पूर्वरूपैरुपद्रुतः। प्रमीढ इति विज्ञेयो मधुमेही तु वक्ष्यते॥ यस्य गात्रे प्रमीढस्य पिडका जायते भृशम्। मधुमेही स विज्ञेयो युक्तश्चोपद्रवैर्भृशम्॥ इति"। परन्तु चरक ने 'मधुमेह' नाम उसी रोग का दिया है, जो जनता तथा वैद्यों में मधुमेह नाम से प्रसिद्ध है। देखिये—"ओजः पुनर्मधुरस्वभावं, तद् यदा रौक्ष्याद् वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहं करोति॥ च० नि० ४।३७॥ कषायमधुरं पाण्डु रूक्षं मेहति यो नरः। वातकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम्॥ च० नि० ४।४४॥ तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति। यदा वस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते॥ च० सू० १७।८०॥" पहले स्थल की टीका में चक्रपाणि लिखते हैं—"रौक्ष्याद् वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्येति मधुरमप्योजो वायुः प्रभावात् कषायरसयुक्तं कृत्वा रौक्ष्यान्मूत्राशयेऽभिवहति, मूत्राशयं रौक्ष्याच्छेदयित्वा रूक्षं च कृत्वा नयत्योजः; स्वमहिम्ना च वायुरोजः कषायं करोति, यतो वातो हि वृद्धः प्रभावात् कषायरसं करोति॥" 'इस मधुमेह में जो ओज मूत्र मार्ग से च्युत होता है वह वायु के प्रभाववश कषायरस हो जाता है' इस वचन से

रोग है किन्तु यह देखें कि किस प्रकार के रोगी को कौन रोग हुआ है। (रीडर्स डाइजेस्ट, अक्तूबर १९४२, न्यूयार्क)" यह परिणाम सहस्रों रोगियों की सूक्ष्म परीक्षा करके निकाला गया है[1]।

१—Mental conditions upset normal physical functions, weaken our resistance to infection, even actually cause physical change in vital organs ; nausea, stomach pains, stomach cancre, stomach ulcer, mucous colitis, high blood pressure, tuberculosis, diabetes, arthritis, tooth decay; heart trouble (are caused because) most of us bury distressing problems in a secret crypt of our minds. (This is what the psycho-analyst calls repression) It is more important to know what sort of patient has a disease, than what sort of disease a patient has. (Readers, Digest, for Oct. 1942 pp. 49-51 Newyork, u. s. a.) यह उद्धरण डा० भगवानदास कृत 'पुरुषार्थ से लिया गया है।

कदाचित् इस स्थल की व्याख्या करने में कुछ सुविधा हो। चरकीय मधुमेह को सुश्रुत ने 'क्षौद्रमेह, नाम दिया है। टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि "मधुमेह पिडका आदि उपद्रवयुक्त प्रमेहको सुश्रुतने 'मधुमेह' यह विशेष नाम दिया है, अतः चरकीय मधुमेह को उन्होंने 'क्षौद्रमेह' नाम दिया है,। चरक के मधुमेह और सुश्रुत के 'क्षौद्रमेह' में शब्दमात्र का भेद है। देखिये- "क्षौद्रमेहो मधुमेहः। तस्य तु 'मधुमेह' इति पारिभाषिकमुपद्रवाणामभावेनान्यत्र बोधनार्थमर्थभेदेऽपि शब्दमात्राभिन्नं नाम कृतम्। सु० नि० ६।१२ पर डल्हन।" क्षौद्रमेह का लक्षण इस स्थल पर यह दिया है—"क्षौद्ररसवर्णं क्षौद्रमेही (मेहति)—अर्थात् क्षौद्रमेह में रोगी का मूत्र रस और वर्ण में क्षौद्र (मधु) के तुल्य होता है।" परन्तु विचारणीय विषय इतना ही नहीं है। चरकीय मधुमेह और सुश्रुतीय क्षौद्रमेह के सिवाय कफजन्य 'इक्षुमेह' (सुश्रुत के एक पाठान्तर में इसे इक्षुबालिकामेह' नाम दिया है और 'शीतमेह इन दो मेहों में भी मूत्र 'अति मधुर' होता है। देखिये—च० नि० ४।१४,१९ ; तथा सु० नि० ६।६। विद्वज्जन विचार करें।

रोग और आरोग्य दोनों दशाओं में शरीर और मन के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा पर्याप्त हुई। इस प्रकरण को समाप्त करने के पूर्व इस विषय को स्पष्ट करने वाला एक दृष्टान्त महाभारत से उद्धृत किया जाता है। महाभारत में कहा है कि "शरीर और मन का परस्पर पर सम्बन्ध एक लोहे के गोले और एक जलपूर्ण पात्र के समान है। लोहे का गोला खूब गरम करके ठण्डे जल वाले पात्र में डालें तो उसके सम्पर्क से पानी और पात्र दोनों गरम हो जायँगे। इसके विपरीत, पानी खूब गरम हो और उसमें ठण्डा गोला डालें तो गरम पानी के सङ्ग से गोला भी गरम हो जायगा। मन और शरीर की भी यही स्थिति है। मन सन्तप्त (रुग्ण) हो तो उसके सङ्ग से शरीर सन्तप्त होता है और उधर शरीर सन्तप्त हो तो उसके प्रभाव से मन भी सन्तप्त होता है।"

मन और शरीर के परस्पर सम्बन्ध के विषय में इतना विचार करने के पश्चात् अब हम पुनः मूल विषय पर आते हैं।

इन्द्रियाँ

श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति (इन्द्रियाणि) ; तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः ॥ सु० शा० १।४

पूर्वाणि पञ्च श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणि, बुद्धेराश्रयत्वात् ; इतराणि वाक्प्रभृतीनि कर्मेन्द्रियाणि, कर्मण आश्रयत्वात् तेषाम् ; उभयात्मकं बुद्ध्यात्मकं कर्मात्मकं च मनः ॥ —डल्हन

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि ॥ च० सू० ८।८

हस्तौ पादौ गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि च ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव ॥ च० शा० १।२५

"आत्मा को साधनभूत इन्द्रियाँ कर्मभेद से तीन प्रकार की हैं ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और उभयेन्द्रिय । श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय या बुद्धीन्द्रिय हैं । इनके द्वारा बाह्य विषयों का ज्ञान होता है । वाक्, हस्त, उपस्थ (पुरुषों में शिश्न और स्त्रियों में मदनातपत्र तथा योनि), पायु (गुद) और पाद ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । इनके द्वारा विभिन्न कर्म पुरुष करता है । मन उभयेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी है । कारण, इसी की प्रेरणा से दोनों इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति होती है और इसी की सहायता से वे अपना-अपना कर्म भी कर सकती हैं ।

इन्द्रियों के विषय

तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः ; कर्मेन्द्रियाणां यथासंख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥ सु० शा० १।५

तत्रेत्यादि । विषया ग्राह्याः । वचनादानानन्दविसर्गविहरणानीत्यत्र विषया इति सम्बध्यते ; तेनोच्यते यत्तद्वचनं वक्तव्यमुच्यते, एवं कर्मप्रत्ययान्तत्वादादानमादातव्यम्, आनन्द आनन्दनीयं, विसर्गो विसर्जितव्यं, विहरणं विहर्तव्यं स्थानम् ॥ —डल्हन

पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥ च० सू० ८।११

अत्र च स्पर्शग्रहणेन स्पर्शस्य स्पर्शाश्रयस्य च द्रव्यस्य स्पर्शैकार्थसमवेतस्य च परिमाणादेः स्पर्शग्राह्यस्य ग्रहणम् । एवं रूपादिष्वपि वाच्यम् ॥

--चक्रपाणि

× × पादौ गमनकर्मणि । पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे ॥ जिह्वा वागिन्द्रियम् ॥ च० शा० १।२५-२६

"प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय (अर्थ) होता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय जिस गुण को ग्रहण करतो है--जिस गुण का ज्ञान कराती है, वह उसका विषय है। एवं प्रत्येक कर्मेन्द्रिय अपना कर्म करने के लिये जिस पदार्थ को ग्रहण करती है—पसन्द करती है, वह उसका विषय है। कर्ण का विषय शब्द है, त्वचा का स्पर्श, चक्षु का रूप, रसना (जिह्वा) का रस और घ्राण का गन्ध है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने विषय के सहचारी अन्य विषयों का भी ग्रहण कराती है; यथा स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श के साथ परिमाण आदि की भी ग्राहक है।

कर्मेन्द्रियों में—वक्तव्य अर्थात् जो कही जाय वह वस्तु वागिन्द्रिय (कण्ठ आदि) का विषय है; आदेय अर्थात् जिस वस्तु का ग्रहण और धारण किया जाय वह हस्त का विषय है; विहरण या गमन का क्षेत्र-भूत स्थान चरणों का विषय है; आनन्द योग्य नारी-देह आदि वस्तु उपस्थ (पुरुषों में शिश्न और स्त्रियों में कामच्छत्र) के विषय हैं; त्याज्य मल-मूत्र पायु (गुद) के विषय हैं।"

इस वचन से ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का भी निर्देश हो गया। अर्थात्—शब्दादि का ग्रहण कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों का कर्म है, तथा वचन (बोलना) आदि क्रमशः कण्ठादि कर्मेन्द्रियों के विषय हैं।

कतिपय आधुनिक शारीरविदों का मत है कि ज्ञानेन्द्रियों में त्वचा के नीचे स्थित मांसधरा कला[1] तथा अन्तःकर्ण का भी समावेश करना चाहिये। मांसधरा कला भार का ग्रहण करती है, तथा अन्तःकर्ण से शरीर की स्थिति का—अर्थात् वह सीधा है या किसी ओर झुका हुआ है इस बात का—भान होता है। इनमें मांसधरा कला का ग्रहण तो त्वचा के ग्रहण से हो जाता है। सुश्रुत (शा० अ० ४) ने मांसधरा कला का परिगणन त्वचाओं में किया है।

वही विद्वान् जीवनयोनि कर्मों (हृदय, फुफ्फुस आदि से होने वाले अनैच्छिक कार्यों) के करने वाले अवयवों की गणना कर्मेन्द्रियों में करना योग्य समझते हैं।

सांख्य मत से इन्द्रियों की अहंकारिकता, आयुर्वेदमत से उनकी भौतिकता

तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते ॥ सु० शा० १।४

वैकारिकः सात्त्विकः तैजसो राजसः × ×। तत्र सात्त्विकादहंकाराद्रा-

१—Deep fascia—डीप फेशिआ।

जससहायात तमोमात्रयाऽनुविद्धादेकादशेन्द्रियाणि ; तल्लक्षणानि प्रकाश-लक्षणानि, सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात् । तान्यहंकारादुत्पन्नान्याहंकारिणीति सांख्ये, वैद्यके तु भौतिकानि ॥ —डल्हन

भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ॥

सु० शा० १।१४

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि–खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति ।
इन्द्रियाणां प्राधान्येनारम्भकं द्रव्यमिन्द्रियद्रव्यम् ॥

"सांख्यवादी इन्द्रियोंको अहंकार से उत्पन्न हुआ मानते हैं। अर्थात् जैसा कि पहले कह आये हैं उनके मतानुसार तामस अहंकार की अल्प मात्रा युक्त राजस अहंकार की सहायता से सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु आयुर्वेद में इन्द्रियोंको पाञ्चभौतिक माना गया है।"

प्रत्येक इन्द्रिय में एक एक भूतका आधिक्य

तत्रानुमानगम्यानां पंचमहाभूतविकार समुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते ॥ च० सू० ८।१४

संप्रति वैद्यकसिद्धान्तेन पांचभौतिकानामपि चक्षुरादीनां यथा तैजसत्वादिव्यपदेशो भवति तदाह-तत्रेत्यादि । अनुमानेन प्रतीयन्त इत्यनुमान-गम्यानि ; अनुमानं च चक्षुर्बुद्ध्यादयः करणकार्याः, क्रियात्वात, छिद्रादि क्रियावत् । महाभूतानि खादीनि तेषां विकारः परिणाम विशेषः, समुदायोमेलकः, स आत्मा समवायिकारणं येषां तानि । विशेषेणाधिकत्वेन । एतदुक्तं भवति

पाञ्चभौतिकत्वेऽपि तेजोऽधिकत्वाच्चक्षुस्तैजसं व्यपदिश्यते ; एवं घ्राणादिष्वपि पृथिव्याद्यधिकत्वेन पृथिव्यधिकमित्याद्यवधार्यते ॥ —चक्रपाणि

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु ।
पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥

च० शा० १।२४

एकैकाधिकपदेन पञ्चामि पाञ्चभौतिकानि, परं चक्षुषितेजोऽधिकमित्याद्युक्तम्-सूचयति ; कर्मानुमेयानीति कार्य्यानुमेयानि; कार्य्यं चक्षुर्बुद्ध्यादि ॥

—चक्रपाणि

"इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष नहीं हैं। चाक्षुष आदि ज्ञान-रूप अपने कर्मोंसे उनका अनुमान होता है। अर्थात् जैसे छेदन-भेदन आदि कर्म अपने करण (साधन) कुठार आदि के बिना नहीं हो सकते, इसी प्रकार पुरुष में चाक्षुष ज्ञान आदि भी करणों के बिना नहीं हो सकते। ये करण चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं।

"चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ पाञ्चभौतिक हैं, अर्थात् प्रत्येक सूक्ष्म इन्द्रियकी रचना पाँचों महाभूतों के समवाय से हुई है। तथापि एक-एक इन्द्रिय की रचना में एक-एक महाभूत की अधिकता होती है, यथा—श्रोत्र में अवकाश की अधिकता होती है। चक्षु में रूप की, घ्राणमें पृथ्वी की, रसना में जल की और त्वचा में वायु की अधिकता होती है।

"जिस इन्द्रियमें जो भूत अधिक होता है, उसीके अनुसार उसका अभिधान होता है; यथा—तेज की अधिकता होने से चक्षु को तैजस कहा जाता है, इत्यादि।"

ज्ञानेन्द्रियों की अपने प्रधान भूत के प्रति प्रवृत्ति

तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात् तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च ॥ च० सू० ८।१४

यदिन्द्रियं विशेषाद् भूयस्त्वेन यदात्मकं यद्भुतारब्धं, तदिन्द्रियंतदात्मकमेव, तद्भूतात्मकमेवअर्थं विषय मनुगृह्णात्यनुधावति; यत् तेजः प्रधानं तत्तेजः–प्रधान मेव विषयं गृह्णातीत्यर्थः, एवं पार्थिवादिष्वपि वाच्यम् । तत्र हेतुमाह-तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च; तत्स्वभावादिति ग्राह्याणां रूपादीनां यः स्वभावस्तैजसत्वादिः, चक्षुरादीनामपि तत्स्वभावादेवेत्यर्थः ; विभुत्वादिति शक्तत्वात्, समानजातीयतैजसादि ग्रहण एव चक्षुरादीनां शक्तत्वादित्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

इन्द्रियेणेन्द्रियर्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥

सु० शा० १।१५

इन्द्रियाणामिन्द्रियार्थानां च पाञ्चभौतिकत्वेऽपि यस्य भूतस्य यत्र यत्रेन्द्रिये आधिक्यं तेन तेनेन्द्रियेण तस्य तस्यैव गुणाः शब्दादयो गृह्यन्त इति दर्शयितुमाह इन्द्रियेणेत्यादि । इन्द्रियेण चक्षुरादिना रूपादिकमात्मीयमात्मीयं मानव उपादत्ते ; तद्यथा—चक्षुस्तैजसमेव रूपमादत्ते, पार्थिवं घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमेव गन्धमादत्ते, एवं शेषेष्वपि बोद्धव्यम् । नियतमात्मीयमेव कुत इत्याह—तुल्ययोनित्वादिति ; एकभूतहेतुत्वात्, भूतं हि स्वयोनिमेवधावति जलमिव जलम् । तमेव स्पष्टीकुर्वन्नाह-नान्येनान्यमिति ॥ —डल्हन

“आगे हम देखेंगे कि (रचना तथा क्रिया का प्रकार दोनों दृष्टियों से) पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय अर्थात त्वचा-रूप ही हैं ।

तथापि देखा जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय अमुक-अमुक विषय का ही ग्रहण करती है। इसमें कारण यह है कि जिस इन्द्रिय में जिस भूत का आधिक्य होता है, वह इन्द्रिय उस भूत के गुण की ओर ही प्रवृत्त होती है। जैसे, चक्षु में तेज की अधिकता है; वह तेज के गुण रूप को ही ग्रहण करतो है। जो इन्द्रिय जिस गुण को ग्रहण करती है, वह उसका विषय कहाता है[1]। इसके अतिरिक्त तत्तत् इन्द्रिय द्वारा तत्तत् विषय के ग्रहण में अन्य कारण यह भी है कि प्रत्येक इन्द्रिय की अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की हो शक्ति होती है[2]।"

१—चरक में इस कारण का निर्देश "तत्स्वभावात्=तुल्य स्वरूप वाली होने से" इन शब्दों में किया है। सुश्रुत में "तुल्ययोनित्वात्=समवायी कारण की समानतासे" ये शब्द हैं।

२—चक्रपाणि ने इन्द्रियों की पाञ्चभौतिकता-विषयक आयुर्वेद सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा है कि "यह आयुर्वेद का सांख्य से मतभेद है। किंवा इन्द्रियों की पाञ्चभौतिक औपचारिक (गौण) है। इस उपचार का कारण यह है कि इन्द्रिय जिस महाभूत के गुण को ग्रहण करती है उसी महाभूत की अधिकता उसमें मान ली गया है। देखिये—यद्यपि च सांख्ये आहंकारिकाणीन्द्रियाणि, यदुक्तं—"सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।" (सां० का० २५) इति, तथापि मतभेदाद् भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम्। किंवा, औपचारिकमेनद् भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम्; उपचारबीजं च यद्गुण-भूयिष्ठं यादिन्द्रियं गृह्णाति, तत्तद्भूयिष्ठमित्युच्यते; चक्षुस्तेजो गृह्णाति तेन तैजसमुच्यत इत्यादि ज्ञेयम्—च० शा० १।२४ पर —चक्रपाणि

इसी प्रकार—तदनेन ग्रन्थेनैतदनुमानमुपदिश्यते यत्—चक्षुस्तैजसं, रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वाद् बाह्यालोकवत; रसनमाप्यं, रूपादीनां

आधुनिक क्रियाशारीरवेत्ताओं ने इस विषय में अनुसन्धान से पता लगाया है कि, जिन नाड़ियों[1] के द्वारा रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयों के वेग मस्तिष्क की ओर पहुंचाये जाते हैं उनमें परस्पर तथा शरीर में व्याप्त शेष नाड़ियों में कोई भेद नहीं है— न रचना सम्बन्धी न क्रिया सम्बन्धी। विषय या केन्द्र द्वारा दिये गये सन्देश-विशेष का वहन करते हुए नाड़ी मात्र में जो विद्युत्-तुल्य वेग होता है वह समान ही होता है। भिन्नता नाड़ी के दोनों अन्तों (सिरों) में होती हैं। विषय से संयुक्त[2] सिरे और विषय के वेग का रूप, शब्द आदि की संज्ञाओं के रूप में अनुवाद करने वाले केन्द्रीय[3] सिरे में ही कुछ विशेषता होती है, जिससे कोई नाड़ी रूपको ग्रहण करती है, कोई रस को इत्यादि।

इसके सिवाय यह भी देखा गया है कि विषय[4] कोई भी हो प्रत्येक संज्ञावह नाड़ी अथवा ज्ञानेन्द्रिय अपने एक और निश्चित विषय का ही ग्रहण करती है। यथा, हमारी आँखों पर जोर का धक्का लगे तो प्रकाश की एक रेखा आँखों के सामने आ जाती है। यह प्रकाश बाहर का नहीं होता, किन्तु आघात का ही

१—Nerves— नर्व्स। २—Receptor—रिसेप्टर। इस शब्द का अर्थ 'ग्रहणकारी' है। ३—Central—सेण्ट्रल।
४—Stimulus—स्टिम्युलस।

मध्ये रसस्यैव प्रकाशकत्वादन्तोदकवत्; तथा गन्धः स्वजातीयगुणोत्कर्षवद दिन्द्रियग्राह्यः, भूतविशेषगुणत्वाद्, रूपवत् इत्यादि। च० सू० ८।१४ पर
—चक्रपाणि

दृष्टि नाड़ी द्वारा रूप या प्रकाश के रूप में किया गया ग्रहण है। एवं, शस्त्रकर्म में भूल से दृष्टि नाड़ी कट जाय तो, जैसी कि सहज कल्पना होती है, वेदना का अनुभव नहीं होता, किन्तु प्रकाश की रेखा ही दृष्टिगोचर होती है।

जैसे नाड़ी के दोनों अन्तों की विशिष्टता के कारण दृष्टि-नाड़ी[1] रूप (वर्ण, प्रकाश) का ही ग्रहण करती है एवं शब्दवह नाड़ी[2] शब्द का ही ग्रहण करती है, उसी प्रकार त्वचा की नाड़ियाँ यद्यपि शीत-उष्ण आदि संज्ञाओं का वहन करती हैं तथापि त्वचा के भी विभिन्न स्थानों में ग्राह्य विषय कुछ-कुछ भिन्न होता है। यथा हमारी हथेली उत्तम स्पर्श ग्राहिणी है, परन्तु शरीर के अन्य स्थानों की त्वचा जितनी उष्ण स्पर्श को ग्रहण नहीं कर सकती। इसीसे पानी सुखोष्ण है या नहीं इस बात की परीक्षा डोल में हाथ डुबो कर नहीं की जा सकती। इसके लिये अन्य स्थानों की त्वचा पर पानी छोड़ना पड़ता है। इसी प्रकार हम यदि कम्पास (परकार) की दो नोकों को ओष्ठ पर अत्यन्त निकट रखें तो भी वे दो हैं इसकी प्रतीति सुगमता से होगी। परन्तु पीठ पर यदि उन्हें रखें तो त्वचा पर दो नोकों का स्पर्श हो रहा है इस बात की प्रतीत के लिये उन्हें बहुत दूर-दूर रखना होगा।

इन्द्रियों के आधिष्ठान

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि--अक्षिणी कार्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ॥

च० सू० ८।१०

१—Optic nerve-ऑप्टिक नर्व। २—Auditory nerve-ऑडिटरी नर्व।

इन्द्रियाधिष्ठानमिन्द्रियाश्रयः। यद्यपि चाक्षिणी कर्णौ नासापुटे द्वे तथाप्येकेन्द्रियाधिष्ठानत्वेनैकमेवेति कृत्वा 'पञ्च' इत्युक्तम् ॥--चक्रपाणि

"इन्द्रियों के अधिष्ठान अर्थात् आश्रयस्थान पाँच हैं--चक्षु की दोनों आँखें, श्रोत्र के दोनों कर्ण, घ्राण की दोनों नासिकाएँ, रसना की जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय का त्वचा।"

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि सामान्य भाषा में जिन्हें आँख, नाक, कान आदि कहा जाता है वे वास्तविक इन्द्रिय नहीं हैं। ये तो वास्तविक इन्द्रियों के वास और क्रिया करने के आश्रय मात्र हैं। वास्तविक इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म और अनुमान-गम्य हैं तथा सृष्टि के आरम्भ उत्पन्न हो कर अपने-अपने सूक्ष्म शरीर में रहती हैं, उसके साथ गर्भाशयस्थ शुक्रशोणित के समागम में आतो हैं, मृत्यु-समय में उसी के साथ निकल जाती हैं, एवं आप्रलय बनी रहती हैं। मन का अधिष्ठान इसी प्रकार हृदय है।

मन की अध्यक्षता में ही इन्द्रियों का सामर्थ्य

मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ॥ च० सू० ८।७

मनःपुरःसराणि मनोऽधिष्ठितानि ॥ --चक्रपाणि

इन्द्रियों को मन की सहायता हो--(अर्थात् मन भी उनके साथ विषय में प्रवृत्त हो) तभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण कर सकती हैं।"

इन्द्रिय बुद्धियाँ तथा उनकी उत्पत्ति का प्रकार

पञ्चेन्द्रियबुद्धयः--चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः; ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थ-सत्त्वात्मसंनिकर्षजाः, क्षणिका, निश्चयात्मिकाश्च ॥ च० सू० ८।१२

असाधारणेन कारणेनेन्द्रियेण व्यपदिष्टा बुद्ध्यो इन्द्रिय बुद्धयः । चक्षुषाऽसाधारणेन कारणेन जनिता बुद्धिश्चक्षुर्बुद्धिः ; एवं श्रोत्रादिष्वपि वाच्यम् × × इन्द्रियबुद्ध्युत्पादसामग्रीमाह--ताः पुनरित्यादि । संनिकर्षः सम्बन्धः, स च क्वचित्संयोगः, क्वचित्समवायः ; तेन चक्षुर्बुद्ध्यादावात्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ; श्रोत्रबुद्धौ तु श्रोत्रशब्दयोः समवाय इति विशेषः । क्षणिका इत्याशुतरविनाशिन्यः, न तु बौद्धसिद्धान्तवदेकक्षणावस्थायिन्यः । निश्चयात्मिका वस्तुस्वरूपपरिच्छेदात्मिका, क्षणिकत्वेऽपि वस्तुपरिच्छेदकत्वं प्रदीपार्चिर्ज्वलनवद्बुद्धीनामविरुद्धमित्यर्थः ॥—चक्रपाणि

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते ।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा ॥
भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां बह्व्यो वै बुद्धयः स्मृताः ।
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा ॥
अंगुल्यंगुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः ।
दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥

च० शा० १।३२-३४

संप्रति प्रकृतिगणप्रविष्टाया बुद्धेरुपदर्शनार्थं तस्या बुद्धेर्वृत्तिभेदात् ज्ञान विशेषरूपाण्याह–येत्यादि । यदिन्द्रियमाश्रित्येति यदिन्द्रियप्रणालिकामाश्रित्य महच्छब्दाख्यस्य बुद्धितत्त्वस्य वृत्तिविशेषरूपाणि ज्ञानानीन्द्रिय प्रणालिकया भवन्ति तदिन्द्रियजन्यत्वेनैव तानि व्यपदिश्यन्ते—चक्षुर्बुद्धिः श्रोत्रबुद्धिरित्यादि-व्यपदेशेन । मनोभवा च बुद्धिश्चिन्त्यादि विषया मनसा निर्दिश्यते मनोबुद्धिरिति व्यपदिश्यत इत्यर्थः । इन्द्रियमनो

भेदेन षट्त्वं बुद्धीनां प्रतिपाद्य बुद्धिबहुत्वं प्राह–भेदादित्यादि। कार्यस्य इन्द्रियार्थस्य च भेदात् तत्सम्बन्धेन भिद्यमाना बह्व्यो बुद्धयो भवन्ति। कार्यं सुखदुःखभेदाः, सुखदुःखप्रपञ्चेन हि तत्कार्येण कारणं ज्ञानमपि बहु भवति। इदानीं सर्वबाह्य ज्ञानसाधनमाह-आत्मेत्यादि। आत्मा अव्यक्तम् एकैकेति प्रत्येकम्। बुद्धेरनेकात्मादिमेलक जन्यत्वे दृष्टान्तमाह-अंगुलीत्यादि। अनेन दृष्टान्तेन शब्द द्वयमाह; अंगुल्यंगुष्ठतलज शब्द एकः, अयं चांगुष्ठ यन्त्रितमध्यमांगुल्याः करतल-संयोगाज्जयमानतल शब्द उच्यते; तन्त्रीवीणानखोद्भवश्च वीणाशब्द एकः; अन्ये त्वेकमेवांगुल्यादिजं वीणाशब्दं वर्णयन्ति। एतेन, यथा शब्दोऽङ्गुल्याद्यन्यतमवैकल्येऽपि न भवति, तथा बुद्धिरप्यात्मादीनामन्यतम वैकल्येऽपि न भवतीति दर्शयति॥

—चक्रपाणि

बुद्धि अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञानके दो मुख्य भेद हैं—इन्द्रिय बुद्धियाँ तथा मनोबुद्धि। इन्द्रियबुद्धियाँ ज्ञानेन्द्रियोंके भेदसे पाँच हैं। जो बुद्धि (ज्ञान) जिस इन्द्रियसे होती है, उसके नाम के अनुसार ही उसका नाम रखा जाता है; यथा चक्षुर्बुद्धि, श्रोत्र बुद्धि, इत्यादि। चिन्त्य, विचार्य्य आदि मनके विषयोंके सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है उसे मनोबुद्धि कहते हैं। इस प्रकार करणों (साधनभूत इन्द्रियों) के भेदसे बुद्धियोंके दो या छः भेद हैं। परन्तु, सुख-दुःख ग्रहण आदि कार्यों और इन्द्रिय विषयोंके अगणित होनेसे बुद्धियाँ अगणित भी होती हैं। ये बुद्धियाँ क्षणिक अर्थात् शीघ्र नष्ट हो जानेवाली और वस्तुओंके स्वरूपका निश्चित ज्ञान कराने वाली होती है। (इन्हें क्षणिक इसलिये कहा

है कि ये स्वयं नष्ट हो जाती हैं, इनकी स्मृति ही शेष रहती है)।

"जिस प्रकार चुटकी बजाते हुए अंगुष्ठ, मध्यमा अंगुली और हस्ततलका संयोग होता है, किंवा वीणाके वादनमें वीणाके तार और नखका संयोग होता है, उसी प्रकार इन बुद्धियोंकी उत्पत्तिके लिये भी संयोगकी आवश्यकता है। प्रत्येक इन्द्रिय-बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्तिमें इन्द्रियके विषयका इन्द्रियसे, इन्द्रिय का मनसे और मनका आत्मासे संयोग होने पर ज्ञानका उत्पन्न होता है।"

बुद्धि का कार्य

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपिवा॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्॥

च० शा० १।२२-२३

ऊह विचार पूर्वत्वं बुद्धेर्विवृणोति–इन्द्रियेणेत्यादि। गृह्यते इति ऊह-मात्रेण निर्विकल्पेन गृह्यते। गुणत इत्युपादेय तया। दोषत इति हेयतया। विषये तत्रेति मनसा कल्पिते विषये। निश्चयात्मिकेति स्थिरस्वरूपा अध्यवसायरूपेत्यर्थः। व्यवस्यतीत्यनुष्ठानं करोति उद्युक्तो भवतीत्यर्थः, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं वक्तुं कर्त्तुं वाऽनुतिष्ठतीति यावत्। बुद्धिपूर्वकमित्यनेन

यदेव बुद्धिपूर्वकमनुष्ठानं तदेवैवंविधं भवति नोन्मत्ताद्यनुष्ठानमिति दर्शयति॥
—चक्रपाणि

सजीव और निर्जीव उभयविध सृष्टिमें बुद्धितत्त्व विद्यमान है, तथापि सजीव प्राणियोंके और उनमें भी मनुष्य जातिके विशेष सत्त्वगुणाधिक होनेसे उन्हींमें इसका प्रकाश विशेष देखा जाता है। इस बुद्धिको आयुर्वेदमें आत्माका ही एक विशेष चिह्न माना है[1] कारण, पुरुष-शरीरकी उत्पत्तिमें महाभूतोंसे भिन्न सूक्ष्म पदार्थोंका विचार आयुर्वेदको अभिमत नहीं है। इस बुद्धिके कर्म निम्न हैं:—

"मन सहित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषयका ग्रहण करनेके पश्चात् मन और बुद्धिका व्यापार होता है। विषयके ग्रहणके अनन्तर मन संकल्प करता है—अर्थात् गुणयुक्त (उत्कृष्ट) होनेसे उपादेय है अथवा दोषयुक्त होनेसे त्याज्य है; इस बातका विवेचन करता है। पश्चात् उस विषयके सम्बन्धमें स्थिर निश्चय होता है। इस निश्चयको 'बुद्धि' या 'अध्यवसाय' कहते हैं। इस बुद्धिकृत निश्चयके अनन्तर पुरुष मनसहित इन्द्रिय द्वारा गृहीत, मन द्वारा संकल्पित तथा बुद्धि द्वारा अध्यवसित उस वस्तुके विषयमें कुछ कहने वा करनेका निर्णय करता है।"

अहंकार का कार्य

"सम्पूर्ण सृष्टिको महाभूतमय मानकर व्यवहार करते हुए

१—देखिये छठे अध्यायमें "आत्माके लक्षण" शीर्षकके नीचे धृत प्रमाण वचन।

आयुर्वेदमें जैसे महाभूतोंसे पूर्व उत्पन्न बुद्धितत्त्वको आत्माका ही एक गुण मान लिया है, उसी प्रकार अहंकारको भी आत्माका ही गुण माना है[1]। "इसका कर्म अभिमान है--अर्थात यह मेरा है, मैं इसका अधिकारी हूँ, इस प्रकारका भाव अहंकारके कारण होता है।" देखिये:—

चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते ; तत्र वाह्यमिन्द्रियरूपम्, आभ्यन्तरं तु मनोऽहंकारो बुद्धिश्चेति त्रितयम्। तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पेन गृह्णन्तीत्यर्थः, मनस्तु संकल्पयति हेयोपादेयतया कल्पयतीत्यर्थः, अहंकारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः, बुद्धिरध्यवस्यति त्यजाम्येनं दोषवन्तमुपाददाम्येनं गुणवन्तमित्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः। ऊहस्तु यद्यपि बाह्यचक्षुरादिकर्म, तथापि तत्रापि मनोऽधिष्ठानमस्तीति मनःकर्मतयोक्तः। वचनं हि—"सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि" (सां० का० ३५) इति। ("सांप्रतं त्रयोदशसु करणेषु केषांचिद् गुणभावं केषांचित् प्रधानभावं सहेतुकमाह—सान्तःकरणेत्यादि। द्वारि प्रधानम्। शेषाणि करणानि बाह्येन्द्रियाणि, द्वाराणि गौणानि, तैरुपनीतं सर्वं विषयं समनोऽहंकारा बुद्धिर्यस्मादवगाहतेऽध्यवस्यति, तस्माद् बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, द्वारवती च सान्तःकरणा बुद्धिः"—सांख्य तत्त्वकौमुदी व्याख्या) ततः परं बुद्धिः प्रवर्तत इति ऊह विचारानन्तरं बुद्धिरध्यवसायं करोतीत्यर्थः। अहंकारव्यापारश्चाभिमननमिहानुक्तोऽपि बुद्धिव्यापारेणैव सूचितो ज्ञेयः। बुद्धिर्हित्यजाम्येनमुपाददामीती वाऽध्यवसायं कुर्वती

१—देखिये—छठा अध्याय, आत्माके लक्षण।

अहंकाराभिमत एव विषये भवति। तेन बुद्धिव्यापारेणैवाऽहंकारव्यापारोऽपि गृह्यते। बुद्धौ हि सर्वकरणव्यापारार्पणं भवति। यदुक्तम्—एते प्रदीप कल्पाः परस्पर-विलक्षणा गुणविशेषाः। कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति" (सां० का० ३६)। (न केवलं बाह्यानीन्द्रियाण्यपेक्ष्य प्रधानं बुद्धिरपि तु ये अप्यहंकारमनसी द्वारिणी, ते अप्यपेक्ष्य बुद्धिः प्रधानमित्याह—एत इत्यादि। यथाहि ग्रामाध्यक्षाः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छन्ति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनश्च संकल्प्याहंकाराय, अहंकारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायां, तदिदमुक्तं,—पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्तीति। बाह्येन्द्रियमनोऽहंकाराश्च गुणविशेषा गुणानां सत्त्वरजस्तमसां विकाराः ; ते तु परस्परविरोधशीला, अपि पुरुषार्थेन भोगापवर्गरूपेण एकवाक्यतां नीताः ; यथा वर्त्तितैलवह्नयः सन्तमसापनयेन रूपप्रकाशाय मिलिताः प्रदीपे, एवमेते गुणविशेषा इति योजना—सांख्य तत्त्वकौमुदी)।

च० शा० १।२१ पर —चक्रपाणि

"अहंकारका पृथक् परिगणन इसलिए नहीं किया है कि बुद्धि के ग्रहणसे ही उसका भी ग्रहण हो जाता है। कारण, बुद्धि जिस पदार्थके विषयमें निश्चय करती है वह अहंकारका भी विषय होता है—अर्थात् उसके विषयमें पहले यह अभिमान होता है कि यह मेरा है। बाह्य इन्द्रियों, अहंकार और मन से विषयका जो ज्ञान होता है, वह अन्तमें बुद्धिको अर्पितकर दिया जाता है, इसीसे बुद्धि सबमें प्रधान है, और उसके ग्रहणसे अ ंकारका भी ग्रहण आयुर्वेदमें हुआ है।"

स्मृति और धृति

कई आचार्य मन, बुद्धि और अहंकारके अतिरिक्त चित्त नामक चौथा अन्तःकरण भी मानते हैं, तथा उसका कर्म स्मरण (और विषय स्मरणीय पदार्थ) बताते हैं। देखिये—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी ॥

—शंकर स्वामी

आयुर्वेदमें स्मरण या स्मृतिको आत्माका ही गुण माना है[1]। अतः चित्तकी पृथक् गणना नहीं की है।

बुद्धि, स्मृति और अहंकारके अतिरिक्त आत्माका एक विशेष लक्षण धृति है[2], जो आयुर्वेदकी दृष्टिसे बहुत ज्ञातव्य है। "धृतिके द्वारा पुरुष अहित आहार-विहारमें प्रवृत्त हुए मनका नियन्त्रण करता है।" देखिये—

विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥

च० शा० १।१००

'विषयप्रवणं विषयेषु प्रसज्जत्। नियन्तुमिति व्यावर्तयितुम्। धृतिर्हि नियमात्मिकेति यस्मात् धृतिरकार्यप्रसक्तं मनो निवर्तयति स्वरूपेण,

---

१—देखिये छठा अध्याय-"आत्माके लक्षण।

२—देखिये—छठा अध्याय "आत्माके लक्षण!

तस्मान्मनोनियमं कर्तुमशक्ता धृतिः स्वकर्मभ्रष्टा भवतीत्यर्थः ॥

—चक्रपाणि

"बुद्धि, धृति और स्मृति का महत्त्व इसलिए है कि इनके द्वारा पुरुष अपने हिताहित का ज्ञान प्राप्त करता, यथा समय स्मरण रखता है एवं हितके सेवन तथा अहित के परिहार (त्याग) में प्रवृत्त होता है। ये विकृत (भ्रष्ट) हो जायँ तो पुरुष हितके त्याग और अहित के सेवन में ही प्रवृत्त होता है, जिससे सर्व शारीर—मानस दोषोंका प्रकोप होकर रोगोंकी उत्पत्ति होती है। इस अनिष्ट प्रवृत्ति को आयुर्वेद में 'प्रज्ञापराध' कहा है।" देखिये—

धी धृतिस्मृति विभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोष प्रकोपणम् ॥

च० शा० १।१०२

सर्वदोष शब्देन वातादयो रजस्तमसी च गृह्यन्ते ।—चक्रपाणि

रोगोंके विप्रकृष्ट कारण बताते हुए प्रज्ञापराध के अतिरिक्त दो अन्य भी कारण कहे हैं—असात्म्य (अहितकर) विषयों का इन्द्रियों से संयोग तथा दोषादि के प्रकोप का काल। परन्तु असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग (हिताहित विषय को न जानना, जानकर भी भूल जाना या उपेक्षा अथवा प्रमादवश हितका त्याग और अहित का सेवन) प्रज्ञापराध का ही भेद है, तथा प्रकोपानुकूल काल उपस्थित होनेपर उचित कर्म न करना भी प्रज्ञापराध

के ही अन्तगत है, अतः दोषोंके प्रकोप का एकमात्र कारण तो प्रज्ञापराध ही है। देखिये—

कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्चकर्मणाम् ॥

च० शा० १।१०४

कर्मकालातिपातश्चिकित्सा कालाति वर्तनम्। —चक्रपाणि

अस्तु, अतः करणों के विषय में इतना विचार करके अब पुनः प्रकृत विषय पर आता हूं[1]।

ज्ञानेन्द्रियों की स्पर्शनेन्द्रियरूपता

लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेद्रिय गोचरम्।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥

—च० शा० १।३०

१—बुद्धि त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होनेसे त्रिगुणात्मक है। श्रीमद्भगवगीतामें उसके सात्त्विकादि भेदोंसे तीन भेद करके तीनोंके पृथक् लक्षण दिये हैं। उपयोगी होनेसे वे तथा धृतिके भी इसी प्रकार तीन भेदोंके लक्षण यहाँ दिये जाते हैं।—"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन। प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।—गीता, अध्याय १८।३०-३५ ॥ अर्थ सुगम होनेसे वाचक स्वयं विचार कर सकते हैं।

स्पर्शनेन्द्रिय गोचरमिति स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञेयम् । कथमेतत् सर्वं स्पर्शनेन्द्रियज्ञेयमित्याह—स्पर्शनेत्यादि । सविपर्यय इति स्पर्शाभाव इत्यर्थः । यदिन्द्रियं यद् गृह्णाति तत् तस्याभावमपि गृह्णाति ; तेन आकाशस्यास्पर्शत्वमपि स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्यमित्युक्तम् × × × ॥

—चक्रपाणि

तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रिय व्यापकं, चेतः—समवायि, स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः ॥ च० सू० ११।३८

× × × एकं स्पर्शनमिति स्पर्शनमेव नान्यचक्षुरादि, इन्द्रियाणामिति निर्धारणे षष्ठी, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि व्याप्नोतीतीन्द्रियव्यापकं ; स्पर्शनं हि सर्वेष्विन्द्रियेष्वस्ति, अत एव स्पृष्ट्वैवार्थमिन्द्रियाणि गृह्णन्ति । तर्हि कथं न सर्वदाऽर्थग्रहणं भवतीत्याह—चेत इत्यादिना । श्रोत्रं चास्मद्दर्शने पाञ्चभौतिकं कर्णशष्कुलीगत नभोरूपं, तेन तस्याति स्पर्शोऽस्ति ; चेतः समवायि मनःसंबन्धि, मनःसम्बन्धकथनेन चार्थग्रहणं प्रति समर्थत्वं स्पर्शस्य दर्शयति, मनोऽधिष्ठितानामिन्द्रियाणामर्थग्राहकत्वात् । तत्किमणुपरिमाणेन मनसैकत्र स्थितेनैव स्पर्शनस्य सर्वेन्द्रियव्यापकस्य संबन्धात् सर्वेन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते, तथा सतियुगपत् पञ्चज्ञानोत्पत्तिप्रसंग इत्याह—स्पर्शनेन्द्रियव्याप्तेर्व्यापकमपि चेत् इति । स्पर्शनेन्द्रियाणां व्याप्तिः-स्पर्शनेन्द्रियव्याप्तिः, तस्याश्चेतोऽपि व्यापकम्; एतदुक्तं भवति—यावति प्रदेशे स्पर्शनं तिष्ठति, तावन्तं देशं मनोऽपि भ्रमति प्रत्यक्षेणार्थग्रहणार्थं, तेन यस्मिन् प्रदेशे यदा मनो वर्तते, तदा तेन प्रदेशेन चक्षुरादिरूपेणार्थं गृह्णातीति न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः ॥ —चक्रपाणि

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च ।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥

च० शा० १।१३३

× × स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्श इत्यनेनेन्द्रियाणामर्थेन संबन्धं स्पर्शनेन्द्रिय-कृतं दर्शयति; चक्षुरादीन्यपि स्पृष्टमेवार्थं जानन्ति; यदि ह्यस्पृष्टमेव चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं वा गृह्णाति, तदा विदूरमपि गृह्णीयात्, न च गृह्णाति, तस्मात् स्पृष्ट्वैवेन्द्रियाण्यर्थं प्रतिपद्यन्ते; मानसस्तु स्पर्शश्चिन्त्यादिनाऽर्थेन समं सूक्ष्मोऽस्त्येव, येन मनः किंचिदेव चिन्तयति, न सर्वं; तेन यन्मनसा स्पृश्यते तदेव मनो गृह्णातीति स्थितिः ॥ —चक्रपाणि

"ज्ञानेन्द्रियों की संख्या यद्यपि पाँच प्रसिद्ध है तथापि यथार्थतः देखें तो ज्ञानेन्द्रिय एक ही है और वह है स्पर्शनेन्द्रिय। जितने भी ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं अथवा उनके अतिरिक्त जो पदार्थों के चलत्व, द्रवत्व आदि धर्म हैं वे सब इन्द्रियोंके स्पर्श में आनेपर ही जाने जाते हैं। इन धर्मों के सिवाय इनका अभाव भी इन्द्रिय-गम्य ही है। स्पर्शनेन्द्रियरूप इन इन्द्रियों का मन से संनिकर्ष होनेपर वे तत्-तत् विषय का ग्रहण करती हैं।" आधुनिक विज्ञान के मतसे भी ज्ञानेन्द्रियाँ स्पर्शनेन्द्रियरूप ही है[1]। ज्ञानेन्द्रियों का आधुनिकों ने बड़ा विशद अनुशीलन किया है। वह भी गुरू मुख से अवश्य जानना चाहिये[2]।

निद्रा

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की क्रिया के प्रसंग से निद्रा का भी संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है। कारण, निद्राकाल में इन्द्रियों की प्रवृत्ति शान्त हो जाती है। निद्रासम्बन्धी अन्य वर्णन स्वस्थवृत्त, क्रियाशरीर तथा संप्राप्तिविज्ञान के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

१—देखिये शरीर क्रियाविज्ञान, पृ० ४७४। २—इस विषय का पर्याप्त वर्णन शरीर क्रियाविज्ञान में ४६-४७ अध्यायों में किया है।

हृदयं चेतनास्थान[1]मुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् ।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ।।
निद्राहेतुस्तमः, सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ।
स्वभाव एव वा तत्र गरीयान् परीकीर्त्यते ।।

सु० शा० ४।३४-३५

× × सत्त्वादीनां सदा सांनिध्यात् परस्परविरोधिनोः स्वापबोधयोरनुपपत्ति मन्यमान आह-स्वभाव एव वेत्यादि ॥ —डह्लन

सा (निद्रा) स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति । सु० शा० ४।३३

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ।।

च० सू० २१।३५

मनसीत्यन्तः करणे, किंवा मनोयुक्त आत्मा मन इत्युच्यते, तस्मिन्; क्लान्त इति निष्क्रिये । कर्मात्मान इतीन्द्रियाणि । क्लमान्विताः क्रियारहिताः । विषयेभ्यो रूपादिभ्यः । मनसोऽप्रवृत्त्येन्द्रियाण्यपि न प्रवर्तन्त इति भावः । तदा स्वपितीति स्वप्नगुणयुक्तो भवति, स्वप्नश्च निरिन्द्रियप्रदेशे मनोऽवस्थानम् । किंवा कर्मात्मान इति संसार्यात्मानः । मनसि क्लान्ते आत्मनः क्लान्ता भवन्ति, मनोऽधीन प्रवृत्तित्वादात्मनां; ततश्च मनोनिवृत्त्याऽऽत्मानोऽपि न विषयान् गृह्णन्ति, इन्द्रियाणि चात्मनोऽप्रवृत्त्यैव न प्रवर्तन्ते ॥ —चक्रपाणि

रात्रिस्वभावप्रभवा मता या, तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।।

च० सू० २१।५७

भूतानि प्राणिनो दधाति पुष्णातीति भूतधात्री, धात्रीव धात्री ॥

—चक्रपाणि

१—इस सूत्र के अर्थ का विचार जानने के लिए देखिये—शरीरक्रिया विज्ञान, पृ० ४६७ ।

"निद्रा के अनेक प्रकार हैं। इन में स्वाभाविक निद्रा वह है, जो सामान्यतः सब प्राणियों को रात्रि के समय आती है। इस अवस्था में अन्तःकरण अथवा कर्मपुरुष (दिन भर के परिश्रम से) श्रान्त और निष्क्रिय हो जाते हैं, जिससे इन्द्रियाँ भी निष्क्रिय होकर अपने विषयों से विमुख (निवृत्त) हो जाती हैं और मन इन्द्रियरहित देश में स्थित होता है (—जिससे उसका इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है)। इस काल में चैतन्य एवं मन-सहित आत्मा का विशिष्ट आश्रयस्थान हृदय तमोगुण से व्याप्त हो जाता है। जब हृदय में सत्त्वगुण की पुनः प्रबलता होती है, तब पुरुष जाग उठता है।" पुरुषों के राजस, तमास और सात्त्विक भेदों के कारण स्वाभाविक निद्राके काल आदि में भी कुछ-कुछ भिन्नता होती है। निदान-चिकित्सा में इस विषय का ध्यान रखना चाहिये[1]।

१—आधुनिक स्वस्थ वृत्त के ग्रन्थों में प्रत्येक पुरुष के लिए उचित निद्रा का प्रमाण अमुक घण्टों के रूप में बताया जाता है। परन्तु आयुर्वेद-मत से सब पुरुषों के लिए निद्रा का प्रमाण समान नहीं होता। सत्त्व-रज-तम अथवा वात-पित्त-कफ प्रकृति के भेद से प्रत्येक पुरुष के लिए आवश्यक निद्रा का प्रमाण भिन्न-भिन्न होता है। प्रसंगवश यह भी कह दूँ कि, शरीरोष्मा, (टेम्परेचर) आहार की आवश्यक मात्रा आदि में भी प्रकृति-भेद से भिन्नता होती है। आधुनिक शास्त्रों में जो प्रति-शरीर सम ऊष्मा (नॉर्मल टेम्परेचर), अथवा आहार की आवश्यक मात्रा की कैलोरी बतायी जाती है वह आयुर्वेद-संमत नहीं है।

आठवाँ अध्याय

काल और दिशा

अथातः काल-दिग्विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्याः। इति ह स्माहु रात्रेयादयोमहर्षयः ॥

आयुर्वेदाभिमत छः पदार्थों में प्रथम पदार्थ द्रव्य का वर्णन करते हुए हमने अब तक पाँच महाभूत, आत्मा और मन का क्रमशः वर्णन किया। अब काल और दिशा का अवसर प्राप्त वर्णन इस अध्याय में करेंगे। दार्शनिकों ने काल का लक्षण बताते हुए कहा है कि जिस द्रव्य के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन शब्दों का प्रयोग होता है उसे काल कहते हैं; परन्तु पाठक देखेंगे कि आयुर्वेद काल के विषय में चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अन्य कितनी ही प्रकार की जानकारी देता है।

काल के दो भेद

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च ; तत्र संवत्सरो द्विधा, त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य ॥ च० वि० ८।१२५

संवत्सरोऽयनभेदेन द्विविधः, शीतोष्णवर्षभेदेन त्रिविधः, ऋतुभेदेन षोढा, मासभेदेन द्वादशधा, पक्षभेदाच्चतुर्विंशतिधा, प्रहरादिनाऽनेकधेति ज्ञेयम्। तत्तत् कार्यमित्ययनादिज्ञेयभेदेन संपाद्यं कार्यमित्यर्थः ॥

—चक्रपाणि

आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा ; तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः, कालः पुनरन्यस्येति ; एतदपि हि भवत्यवस्थाविशेषेण ; तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा। तस्य परीक्षा—मुहुर्मुहुरातुरस्य सर्वावस्थाविशेषावेक्षणं यथावद्भेषजप्रयोगार्थम्। न ह्यतिपतितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति ; कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति ॥ च० वि० ८।१२८

आतुरावस्थालक्षणं कालमाह—आतुरेत्यादि। तत्रोदाहरणं यथा—नवज्वरे न कषायकालः, अतिक्रान्तषडहेज्वरे कषायकाल इति। भैषज्य-प्रयोगपर्याप्तिमिति भेषजप्रयोगसाध्यसिद्धिमित्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च ; तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः ॥ च० वि० १।३०

नित्यग इत्याहोरात्रादिरूपः। आवस्थिक इति रोगित्वबाल्यत्वाद्यव-स्थाविशेषित इत्यर्थः। विकारमपेक्षत इति बाल्यादिकृतं तु श्लेष्मविकारं ज्वरादिकं चाहारनियमार्थमपेक्षत इत्यर्थः। ऋतुसात्म्यं हि ऋतुमपेक्षत इति ऋतुसात्म्यापेक्षः ॥ —चक्रपाणि

"काल के दो भेद हैं—संवत्सर या वर्ष तथा रोगी की अवस्था। इन्हें क्रमशः 'नित्यग' तथा 'आवस्थिक' काल भी कहते हैं।

"संवत्सर के अयन भेद से दो विभाग होते हैं (दक्षिणायन और उत्तरायन); शीत, उष्ण (सर्दी-गर्मी) और वर्षा इन तीन प्रधान ऋतुओं के भेद से तीन विभाग होते हैं ; छः ऋतुओं के भेद से छः ; बारह मासों के भेद से बारह, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष

के भेद से चौबीस तथा प्रहर आदि के भेद से अनेक विभाग होते हैं।

"रोगी की बाल्य, यौवन और वृद्धत्व इन अवस्थाओं में अथवा रोग की सामत्व-निरामत्व ; तरुणत्व-जीर्णत्व आदि अवस्थाओं में जिस काल में औषध, आहार आदि देना योग्य होता है उसे उस औषध आदि का 'काल' कहते हैं। इससे अतिरिक्त काल को 'अकाल' कहते हैं। जैसे—नवज्वर में कषाय देने का काल नहीं है, ज्वर हुए छः दिन बीत जायँ तब कषाय का काल होता है। काल उपस्थित होने के पूर्व अथवा पश्चात् औषध आदि देने से इष्ट सिद्धि नहीं होती। अतः आहार आदि की सम्यक् योजना के लिये रोगी-सम्बन्धी यावत् अवस्थाओं का समुचित निरीक्षण करना चाहिये।"

रसोंके उत्कर्षापकर्ष और प्राणियोंके बलाबल में काल की कारणता

आवस्थिक काल के विषय में अन्य विशेष वक्तव्य न होने से शेष संवत्सर-रूप काल के सम्बन्ध में आयुर्वेद का मन्तव्य दिया जाता है।

कालो हि नाम भगवान् स्वयंभूरनादिमध्यनिधनः। अत्र रसव्यापत्संपत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः ; संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः॥

सु० सू० ६।३

× × कलां भागं न लीयते गतिमत्त्वात् श्लिष्टो न भवति। संकलयति संहरणादेकराशीकरोति भूतानीति वा कालः ; संकलयति सुखदुःखाभ्यां

भूतानि योजयतीति वा कालः ; कालयति संक्षिपतीति वा कालः ; अथवा कालयति मृत्युसमीपं नयतीति वा कालः । अन्ये तु 'कालयति' इत्यत्र 'कलयति' इति पठन्ति, 'कलयति संख्यातीति वा काल' इति च व्याख्यानयन्ति ॥ —डह्लन

"काल भगवान् स्वयंभू तथा उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से रहित है। रसों की (गुण और प्रमाण की दृष्टि से) उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता एवं प्राणियों के जीवन-मरण अथवा रोग और आरोग्य इसी प्रकार अवलम्बित हैं[1]।

"उसे काल इसलिए कहते हैं कि वह 'सूक्ष्मामपि कलां न लीयते'—अर्थात् निरन्तर गतिशील होने से क्षणमात्र को भी टिकता नहीं। अथवा उसे काल इसलिए कहते हैं कि वह 'कालयति' अर्थात् विनाश के समय सृष्टिमात्र को समेट लेता है, अथवा प्राणियों को सुख-दुःख से संयुक्त (संकलित) करता है।"

काल का विभाग

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकला-मुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति। तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः—शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः। तत्र माघादयो द्वादश

१—मूल ग्रन्थ में आगे काल का सम्बन्ध प्राणियों के बलाबल से बताया है। अतः यहाँ 'जीवितमरणे' का विकल्प से अर्थ 'रोग और आरोग्य' लेने में कोई बाधा नहीं है।

२०

मासाः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड्तवो भवन्ति। ×××[1]। त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। ×××। अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति। ते तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते। स एष निमेषादिर्युगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्रमित्युच्यत इत्येके॥ सु० सु० ६।४-९

×× भगवानादित्य इत्युपलक्षणं; तेन चन्द्रोऽपि गृह्यते, निशाकरणत्वादिहेतुत्वात्; अथवा रविरेव भगवान् माहात्म्यवान् स्वरश्मिभिः शीतोष्णवर्षाः कुरुते, कालविभागं च गतिविशेषेणात्मीयेनोदयास्तगमनलक्षणेन। ××× युगपदेकालमयनद्वयं संवत्सरः, न पृथग्दक्षिणायनमुत्तरायणं वा। ××× ते त्वित्यादि। इयं च युगस्य पारिभाषिकी संज्ञा, परमार्थतस्तु कृतादयश्चत्वारो युगविशेषाः॥ —डल्हन

एके इति रसबलादिजनकशिशिराद्यृतुक्रमवादिनः॥ —चक्रपाणि

"भगवान् सूर्य (तथा चन्द्र) अपनी गतियोंसे संवत्सर-रूप कालको निम्न विभागोंमें विभक्त करते हैं-- अक्षिनिमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग।

"अकार आदि लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उसे 'अक्षिनिमेष' अथवा केवल 'निमेष' कहते हैं। ऐसे पन्द्रह अक्षिनिमेषों की एक काष्ठा होती है; तीस काष्ठाओंकी एक कला, दस कलाओं का एक मुहूर्त-यह मुहूर्त कला का दसवाँ भाग होता है; तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र (दिन-रात, चौबीस

१—यहाँ के शेषांश आगे 'ऋतुओं के दो विभाग' शीर्षक के नीचे लिखे हैं।

घण्टा) और पन्द्रह अहोरात्रों का एक पक्ष होता है ; पक्ष दो प्रकार का होता है—शुक्ल और कृष्ण, ये दो पक्ष मिलकर मास कहाते हैं ; माघ आदि दो-दो मास मिलकर एक ऋतु होती है ; ऐसी तीन-तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। अयन दो हैं—उत्तरायन और दक्षिणायन। दो अयन एक साथ मिलकर संवत्सर या वर्ष कहाते हैं। ऐसे पाँच वर्ष मिलकर एक युग होता है ! स्मरण रहे, यह युग आयुर्वेद में ही सीमित संज्ञा है ; पुराणादि के सत्ययुग आदि चार युग इससे भिन्न हैं। इस प्रकार निमेष से युग पर्यन्त चक्र के समान फिरनेवाला यह काल 'कालचक्र' कहाता है।"

आज कल पाश्चात्य काल-विभाग विशेष प्रचलित होने से अहोरात्र से पूर्व का विभाग केवल ज्योतिष में व्यवहार में आता है। -युगों की गणना का भी प्रचार नहीं देखा जाता। नाड़ी की गति आदि की गणना में वैद्यजन भी पाश्चात्य काल-विभाग की द्योतक घड़ियों का ही व्यवहार करते हैं।

ऋतुओं के दो विभाग

वर्ष में बारह मास होते हैं और दो-दो मासों की एक ऋतु होती है ; इस प्रकार एक वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं यह सुविदित है। छः ऋतुओं के नाम, उनका क्रम तथा वे किन-किन मासों में होती हैं यह भी सुविदित है। परन्तु आयुर्वेद में इस ऋतु-विभाग के अतिरिक्त एक अन्य ऋतु-विभाग भी प्रतिपादित है। ऋतुओं के ये दो विभाग प्रयोजन-भेद से किये गये हैं।

आयुर्वेद का मन्तव्य है कि—वनस्पति-सृष्टि में यद्यपि बारहों मास छहों रसों की उत्पत्ति और पुष्टि होती है, परन्तु सबके सब रसों की पुष्टि सब ऋतुओं में एक-जैसी नहीं होती, किन्तु ऐसी ऋतु में कोई रस और किसी ऋतु में कोई रस अन्य रसों की अपेक्षा अधिक पुष्टि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्राणि जगत् में प्राणियों का बल भी ऋतु-भेद से न्यूनाधिक होता है। रस और बल के इस भेद को प्रदर्शित करने के लिए एक ऋतु-विभाग का उपयोग होता है। यह ऋतु-विभाग वही है जो भारतीय समाज में सुप्रचलित है। स्वस्थवृत्त में जो ऋतु-चर्य्या कही गयी है, उसमें इसी विभाग का उपयोग हुआ है।

द्वितीय ऋतु-विभाग का आधार भी आयुर्वेद का एक सिद्धांत है। आयुर्वेद का अभिमत है कि यद्यपि शरीर में सब समयों में सब दोष रहते हैं, तथापि अमुक निश्चित ऋतु में अमुक दोष सञ्चय, उससे अगली ऋतु में उसका प्रकोप और उससे भी अगली ऋतु में उसका शमन होता है। प्रकोप जिस ऋतु में हों उस समय उस दोष से होनेवाले रोग शरीर को पीड़ित न करें इस निमित्त उसका संशोधन (वात को बस्ति द्वारा, पित्त को विरेचन द्वारा और कफ को वमन द्वारा शरीर से बाहर निकालना) करना चाहिये। यह ऋतु-विभाग प्रचलित-विभाग से कुछ भिन्न है दोनों ऋतु-विभाग क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(क) रस और बल के तारतम्य को दृष्टि में रखकर किया गया-प्रथम विभाग

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतूञ्छिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च। विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति, इतरे पुनरादाने; सोमश्चाव्याहतबलः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत्, अतो विसर्गः सौम्यः। आदानं पुनराग्नेयं; तावेतावर्कवायु सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते। तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसांस्तिक्तकषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति। वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसंतापे जगति, अरूक्षा रसाः प्रवर्द्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति॥ च० सू० ६।४-७

××× उदगुत्तरां दिशं प्रति अयनं गमनमुदगयनम्। आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं प्राणिनां च बलमित्यादानम्। ×× दक्षिणां दिशं प्रत्ययनं दक्षिणायनं, विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणि ॱ ॱ बलमिति विसर्गः। ×× नातिरूक्षा इति सौम्यविसर्गकालसम्बन्धेन मन्दीकृतरौक्ष्याः प्रवान्तीति। इतरे पुनरादान इति अप्रशान्ता अतिरूक्षाश्चाग्नेयादानसम्बन्धाहितरूक्षत्वात्। अव्याहतबल इति कालमार्गमेघवातादिभिस्तदा सूर्यस्य सोमपरिपन्थिनोहतबलत्वात्। सौम्यः सोमगुणप्रधानः। आग्नेयमग्निगुणप्रधानप्रतिहतबलत्वेनेत्यर्थः। नन्वेतावतैवादित्यचन्द्रवातानां

बलवत्त्वमबलवत्त्वं च कथं भवतीत्याह-तावेतावित्यादि । कालो देवतारूपः स च नित्यरूपोऽपि प्राणिनामदृष्टेन नानारूपेण गृहीतः सन् कदाचित् सूर्यबलवायुबलीसोमबलादीन् करोति । स्वभावः सूर्यस्य सौम्यांशक्षयकर्तृत्वादिः, वायोर्विरूक्षणादिः सोमस्याप्यायनादिः ; मार्गो दक्षिण उत्तरश्च, तत्र दक्षिणः कर्कटादयो धनुरन्ताः, मकरादिरुत्तरः । एते च कालस्वभावमार्गपरिग्रहा यथासंभवं बोद्धव्याः, न हि सोमे मार्गपरिग्रहः कंचिद्विशेषमावहति, वायोश्च मार्गपरिग्रह एव नास्ति । परिगृहीताः संबद्धाः । कालत्वादीनां निर्वृत्तिप्रत्ययभूता निष्पत्तिकारणभूताः, उपदिश्यन्ते 'आचार्यैः' इति शेषः । × × × । आददान उच्छोषयन्, जगतः स्थावरजङ्गमस्य, स्नेहं सारं सौम्यभागमित्यर्थः । न केवलं रविः वायवश्च शोषयन्तः स्नेहमिति संबन्धः । तीव्राश्च रूक्षाश्च तीव्ररूक्षाः, यदि वा तीव्रं रौक्ष्यं येषां ते तीव्ररूक्षाः, एतच्चादाने तीव्रेण रविणा संबन्धाद्वायोर्भवति योगवाहित्वाद्वायोः । उक्तं हि-"योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्" (च० चि० ३।३८) इत्यादि । यथाक्रममिति शिशिरे रौक्ष्यमल्पं तिक्तं रसमल्पं च दौर्बल्यं, तथा वसन्ते मध्यं रौक्ष्यं कषायं रसं मध्यं दौर्बल्यं, तथा ग्रीष्मे प्रकृष्टं रौक्ष्यं कटुकं रसं महच्च दौर्बल्यं दर्शयति । × ×

× × × वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकस्य वाय्वग्निगुणबहुले ग्रीष्मकाल एवोत्पत्तिः, पवनपृथिव्युत्कर्षवति तु वसन्ते पवनपृथिव्युत्कर्षजन्यस्य कषायस्योत्पत्तिः । × × पृथिव्याद्युत्कर्षश्च कालविशेषप्रभावकृतः कार्यदर्शनादुन्नेयः । अभिवर्धयन्त इति वचनाद्यथास्वकाले तिक्तादीनामति (भि) वृद्धिः सूच्यते, तेन न तदैकरसत्वम् । अत्र च क्रमवद्रौक्ष्योत्पत्तितिक्ताद्युत्पत्ती अपि दौर्बल्योत्पत्तौ कारणं, यतो रौक्ष्यमुत्पादयन्त इति तिक्तकषायकटुका-

नभिवर्धयन्त इति च हेतुगर्भविशेषणद्वयं कृत्वा दौर्बल्यमावहन्तीत्युक्तम्। दक्षिणाभिमुखे दक्षिणाशां गन्तुमुद्यत एवाऽर्के, तेन विषुवदुदयोपलक्षितमध्य-देशादुत्तरेण वर्तमानोऽपि रविर्यदैव दक्षिणाशां गन्तुमुद्यतो भवति तदैव क्षीयमाणबलो भवति; उत्तराशागमनप्रकर्षाहितबलप्रकर्षतया तु स्तोकस्तोक क्रमापचीयमानबलोऽपि तथा दुर्बलो न लक्ष्यते। एवमुत्तरायणेऽपि व्याख्येयम्। मार्ग इह दक्षिणाभिमुखः, मेघस्य वातो मेघवातः, वर्षणं वर्षः, एतैरभिहतप्रतापेऽर्के इति संबन्धः। वातस्त्विह मेघसंबन्धाहितशैत्यो-ऽर्कतापपरिपन्थी भवति, शशिनोऽव्याहतबलत्वं सूर्यस्य परिपन्थिनोऽभिह-तप्रतापत्वात् अनुगुणमेघवातवर्षणयोगाच्च। जगति स्थावरजङ्गमे × ×॥

—चक्रपाणि

तत्र माघादयो द्वादश मासाः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड्ऋतवो भवन्ति; ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः ; तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमा-धवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति। त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः काल विभागकरत्वात् अयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशर-द्धेमन्ताः; तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते। उत्तरं च शिशिरवसन्त-ग्रीष्मा तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते॥ सु० सू० ६।६-७

तपाः माघः, तपस्यः फाल्गुनः। मधुः चैत्रः, माधवः वैशाखः। शुचिः ज्येष्ठः, शुक्रः आषाढः : नभाः श्रावणः, नभस्यः भाद्रपदः। इषः आश्विनः, अर्जः कार्तिकः। सहाः मार्गशीर्षः, सहस्यः पौषः। शिशिरा-

दिरयं विभागो रसबलमधिकृत्योक्तः। चरकेऽपि तस्याशितीये (च० सू० अ० ६) रसबलनिष्पत्त्यर्थं शिशिरादिविभागो दर्शितः। अन्ये त्वन्यथा व्याख्यानयन्ति—तत्रेति गङ्गाया उत्तरे देशे शिशिराद्यृतुविभागो बोद्धव्य इति; अयमर्थो गयदासाचार्येण बहुधा दूषितः। × × ×॥ —डल्हन

'शोधनं प्रति' इति शोधने कर्तव्येऽयं यथोक्तः प्रावृडादिऋतुविभागो भवति; स्वस्थवृत्तौ रसोत्पत्तौ वा तस्याशितीयोक्त एव वर्षाशरद्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मरूपः ऋतुक्रमो भवति। × × ×। तेन, रसबलोत्पादचिन्तायां स्वस्थवृत्तानुष्ठानेषु च शिशिरादिक्रमो भवति, संशोधनव्यवस्थायां तु प्रावृडादिरिति॥ च० सि० ६।५ पर —चक्रपाणि

"दो-दो मास की छः ऋतुओं के रूप में वर्ष के छः विभाग (अङ्ग) होते हैं। ये छः ऋतुएँ निम्न हैं—शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त। इन में, माघ और फाल्गुन में शिशिर ऋतु होती है, चैत्र और वैशाख में वसन्त, ज्येष्ठ और आषाढ़ में ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद में वर्षा, आश्विन-कार्तिक में शरद् और मार्गशीर्ष-पौष में हेमन्त ऋतु होती है।

"शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं के समुदाय को उत्तरायण कहते हैं, कारण इस में सूर्य की उत्तर दिशा की ओर गति (अयन) होती है। शेष वर्षा, शरद और हेमन्त को दक्षिणायन कहते हैं, क्योंकि इन में सूर्य पृथ्वी की दक्षिण दिशा की ओर रहता है।

"दक्षिणायन-काल में अर्थात् वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतु में वायुएँ काल-स्वभाववश विशेष रूक्ष नहीं होतीं। दूसरी ओर,

काल-स्वभाव, सूर्य के दक्षिण दिशा में गमन का विलक्षण प्रभाव, मेघ, वायु, वर्षा इत्यादि के कारण सूर्यका बल न्यून हो जाता है, जिस के कारण सहज ही उस के विपक्षभूत चन्द्रमा का बल वृद्धि को प्राप्त होता है। उस की शीतल किरणों के प्रभाव से स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् अर्थात् उद्भिज्जों और प्राणियों का उत्तरोत्तर पोषण होता है। वर्षा के जल के प्रभाव से सृष्टि में उष्णता भी न्यून हो जाती है। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि, उद्भिज्जों में रूक्ष-गुण विरोधी अम्ल, लवण और मधुर रस क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं- अर्थात् वर्षा में अम्ल रस की विशेष पुष्टि होती है और शरद् में लवण की तथा हेमन्त में मधुर रस की।

"उल्लिखित परिस्थिति के कारण ही जङ्गम सृष्टि में (मनुष्यों और प्राणियोंमें) तीनों ऋतुओं में बल की क्रमशः वृद्धि होती है। क्रमशः का अर्थ यह कि वर्षा में पूर्व ऋतु की अपेक्षया अमुक प्रमाण में बल की वृद्धि होती है, शरद में उससे अधिक और हेमन्त में उससे भी अधिक बल की वृद्धि होती है।

"वनस्पतियों में स्नेहांश तथा अरूक्ष रसों एवं प्राणियों में बल के विसर्जन (उत्पादन) के निमित्त होने से दक्षिणायन-काल को विसर्ग भी कहते हैं।

"उत्तरायण-काल में दक्षिणायन-काल से ठीक विपरीत परि-स्थिति होती है। वायुएँ इस काल में अतिरूक्ष और अतिप्रमाण में होती हैं। ये वायुएँ स्थावर-जङ्गमों के स्नेहांश को शोषण करती हैं। सूर्य भी अपनी किरणों से जगत् के स्नेहांश का

ग्रहण करता है। दोनों की इस क्रिया का परिणाम यह होता है कि वनस्पतियों में रूक्षरस—तिक्त, कषाय और कटु क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा प्राणियों में बल उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। 'क्रमशः' और 'उत्तरोत्तर' शब्दों का आशय यह है कि, शिशिर में अपनी पूर्व ऋतु की तुलना में रूक्षता, तिक्तरस और दुर्बलता की वृद्धि अमुक प्रमाण में होती है। वसन्त में रूक्षता और दुर्बलता शिशिर की अपेक्षया अधिक होती है तथा रसों में तिक्त रस की विशेष पुष्टि होती है। अगली ऋतु ग्रीष्म में रूक्षता और दुर्बलता अत्यधिक होती है तथा रसों में कटुरस की पुष्टि अधिक होती है।

"वनस्पतियों तथा प्राणियों के स्नेहांश और प्राणियों के बल का आदान (ग्रहण-शोषण) करने वाला होने से उत्तरायण अर्थात् शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं के समुदाय को 'आदान' काल कहा जाता है।

"वनस्पतियों में तत्-तत् ऋतुओं में तत्-तत् रस की पुष्टि (अधिकता) का कारण यह है कि काल के प्रभाव से उस-उस ऋतु में उस-उस रस के कारण भूत महाभूतों की अधिकता हो जाती है एवं, आदान काल में प्राणियों के बलक्षय का तथा विसर्ग-काल में बलवृद्धि का एक कारण यह भी है कि इन कालों में रूक्ष और अरूक्ष रसों की उत्पत्ति विशेष होने से उनका सेवन भी स्वभावतः अधिक प्रमाणमें होता है।

"इस वर्णन से स्पष्ट है कि काल, स्वभाव (अपने-अपने

शोषक-पोषक धर्म) और मार्ग (अयन) के वश हो कर सूर्य, चन्द्र और वायु जगत् में काल, ऋतु, रस, दोष और बल की उत्पत्ति, पुष्टि और ह्रास में निमित्त होते हैं।

"प्रसंगवश प्रथम ऋतु विभाग के विषय में यह जानना चाहिये कि आयुर्वेद में स्वस्थवृत्त के प्रकरण में जो ऋतुचर्या का प्रतिपादन किया गया है उसमें इस प्रथम ऋतु विभाग में कही ऋतुओं का ही ग्रहण है।"

उद्भिज्ज-सृष्टि में[१] रसों की, अथवा यों कहिये कि स्वयं उद्भिज्जों की, उत्पत्ति, पुष्टि और ह्रास का साक्षात् कारण सूर्य, चन्द्र और वायु हैं। प्राणिशरीर में भी दोषों और बल की उत्पत्ति, पुष्टि और क्षय का कारण ये ही हैं दोषों की वृद्धि-क्षय द्वारा परम्परया भी ये शरीर में तत्तत् क्रिया और विक्रिया उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार जैसे शोषण, पोषण और विक्षेपण (योगवाहित्व) रूप कर्मों द्वारा सूर्य, चन्द्र और वायु बाह्य सृष्टि को धारण किये रहते हैं, वैसे पित्त, कफ और वायु सूर्यादि का आश्रय पा कर शरीर को धारण किये रहते हैं। आयुर्वेद में यही बात शब्दान्तर से यों भी कही है—शरीर में पित्त, सूर्य और अग्नि का प्रतिनिधि हो

१—उद्भिज्जों के लिये सामान्यतः वनस्पति शब्द प्रचलित है। परन्तु वनस्पति तो उद्भिज्जों के चार भेदों में एक भेद का नाम है। अतः जिन्हें हम वनस्पति कहते हैं उनके लिये जाति वाचक 'उद्भिज्ज' शब्द का ही प्रयोग करना योग्य है एवं, बॉटनी को भी वनस्पति-शास्त्र न कह कर 'उद्भिज्जशास्त्र' ही कहना उचित है।

कर, कफ चन्द्रमा का और वायु, वायु का प्रतिनिधि हो कर निज-निज कर्म द्वारा शरीर को अनुगृहीत करता है[1]।

सूर्य, चन्द्र और वायु का उद्भिज्जसृष्टि पर और प्राणिसृष्टि पर क्या प्रभाव होता है, इसका आधुनिक मत से यथोपलब्ध वर्णन किया जाता है।--

अल्ट्रा-वायोलेट किरण

प्रिज्म नामक काँच[2] विशेष को सूर्य के प्रकाश में रखें तो उसके उस पार समानान्तर, परस्पर सटे हुए अनेक वर्णों की एक पट्टी दिखाई देगी। इस पट्टी को अंग्रेजी में स्पेक्ट्रम[3] कहते हैं। इसमें क्रमशः निम्न सात वर्ण देखे जा सकते हैं---जामुनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारङ्गी, लाल[4]। ये सात वर्ण सूर्य की श्वेत प्रतीत होने वाली किरणें हैं, जो वस्तुतः इन सात किरणों के संयोग से बनी हैं। इन सात वर्णों को संयुक्त किया जाय तो श्वेत वर्ण दृष्टिगोचर होता है, यह बात भौतिक विज्ञान की प्रयोग-शाला में प्रत्यक्ष की जा सकती है। प्रिज्म में से गुजरती हुई

१—इस विषय के प्रमाणों के लिये देखिये—"शरीरक्रिया-विज्ञान" पृष्ठ ३५९, ३६०, ३९२, ४२३ और ४२४।

२—Prism.

३—Spectrum. ४—अंग्रेजी में इनके क्रमशः नाम ये हैं—Violet,—वायोलॅट, Indigo,—इण्डिगो, Blue-ब्लु, Green-ग्रीन, Yellow-यलो, Orange-ऑरेञ्ज, Red—रेड। इन वर्णों के नाम तथा क्रम के सुख-स्मरण के लिये इनके आद्यक्षर क्रमशः ले कर एक शब्द रचा गया है—Vibgyor—विबयोर।

श्वेत किरणें अमुक प्राकृतिक नियमों के कारण संयुक्त न रह कर वियुक्त हो जाती हैं और पृथक् दिखाई देती हैं। बादल आदि के जलबाष्प में से गुजरती हुई किरणें भी इसी प्रकार वियुक्त हो जाती हैं। साधारण मोमबत्ती से ले कर सूर्य पर्यन्त किसी भी पिण्ड से निकलते श्वेत प्रकाश में ये सात किरणें देखी जा सकती हैं। परन्तु, प्रकाश में केवल ये सात किरणें नहीं होतीं। दो और भी किरणें हैं, पर उन्हें हमारी आँखें ग्रहण नहीं कर पातीं। आगे प्रमाणों के प्रकरण में हम देखेंगे कि किरणों में प्रति सेकण्ड अमुक संख्या में कम्पन हो तो ही हम उन्हें देख सकते हैं। उससे न्यून या अधिक संख्या में कम्पन हो तो हम उन्हें देख नहीं पाते। दृश्य किरणों में सब से कम कम्पन वाली किरणें लाल रङ्ग की हैं, तथा सब से अधिक कम्पन वाली जामुनी रङ्ग की। दो अदृश्य किरणों में एक की अदृश्यता का कारण यह है कि उसके कम्पन लाल से कम होते हैं। अंग्रेजी में इसे अन्वर्थक ही 'इन्फ्रा रेड[1]' नाम दिया गया है। दूसरी किरण के कम्पन जामुनी से अधिक होने से वह दृष्टिगोचर नहीं होती। इसे अंग्रेजी में यथार्थ ही 'अल्ट्रा-वायोलेट'[2] नाम दिया गया है। प्राणि-सृष्टि तथा उद्भिज्ज-सृष्टि में होनेवाले विभिन्न परिवर्तन इन अदृश्य किरणों के कारण ही होते हैं। संक्षेप में कहें तो-इन्फ्रारेड किरणों का कर्म उष्णता उत्पन्न करना है। इन्हें इसी कारण अंग्रेजी में 'हीट रेज'[3]

१—Infra-red=लाल से नीचे लाल से न्यून कम्पन वाली।
२—Ultra-violet अर्थ जामुनीके आगेकी। ३—Heat rays

कहते हैं। लाल से जामुनी तक की सात किरणों का कार्य केवल प्रकाशन है। अतः इन्हें अंग्रेजी में 'लाइट-रेज,'[1] कहते हैं। अल्ट्रा-वायोलेट किरणों के प्रभाव से प्राणियों तथा उद्भिज्जों के शरीर में होनेवाले विभिन्न रासायनिक परिवर्तन—अर्थात् नवीन द्रव्य, गुण आदि की उत्पत्ति और अन्यों का नाश अथवा रूपान्तर-होते हैं। अंग्रेजी में इसी कारण इन्हें 'एक्टिनिक-रेज'[2] कहते हैं, जिसका अर्थ रासायनिक परिवर्तन का हेतु होता है[3]।

थोड़े में इस बात की व्याख्या करते हैं—

प्राणियों और उद्भिज्जों में एक भेद है कि उद्भिज्ज अपने पोषण के लिए आहार स्वयं तय्यार करते हैं; प्राणियों में यह शक्ति नहीं है। प्राणी अपने पोषण के लिए उद्भिज्जों को अपना आहार बनाते हैं[4]। उद्भिज्जों में इस विशेषता का कारण यह है कि,

---

१—Light rays. २—Actinic rays. ३—प्राचीन वाङ्मयमें सूर्यके रथके साथ घोड़े बताये गये हैं। नवीन दृष्टिके व्याख्याकार इन सात घोड़ोंका अर्थ सूर्यकी सात किरणें करते हैं। परन्तु शेष दो और अपेक्षया अधिक महत्त्व-पूर्ण किरणोंकी भी उपपत्ति बैठाना आवश्यक है।

४—शाकाहारी मनुष्य या पशु-पक्षी तो स्पष्ट ही उद्भिज्जोंसे अपना आहार प्राप्त करते हैं। मांसाहारी प्राणी भी जिन प्राणियोंके मांससे जीवन-निर्वाह करते हैं वे शाकाहारी ही होते हैं। समुद्रगत मछलियों के विषयमें सहसा इस बातपर श्रद्धा नहीं होती कि उनका भी अन्तिम अवलम्ब उद्भिज्ज ही हैं। परन्तु देखा जाय तो बड़ी-बड़ी व्हेल, कॉड़ आदि मछलियाँ अपनेसे ही छोटी मछलियों (जलचरों) को खाती हैं, वे अपनेसे छोटीको। इस प्रकार जल जन्तु उत्तरोत्तर निर्बल जन्तुओंपर निर्वाह करते हैं। इस परंपरामें जो सबसे छोटे प्राणी होते हैं वे समुद्र के पृष्ठ पर स्थित आल्गी (Algee) नामक एक कोषीय उद्भिज्जको खाकर ही रहते हैं।

उनमें, प्राय: सब में, क्लोरोफिल[1] होता है। यह एक हरा रञ्जक द्रव्य[2] है। घास उद्भिज्जों के पत्ते आदि इसके ही कारण हरे होते हैं। यह कार्बन, उदजन, ओषजन, नाइट्रोजन और मैगनीशियम के योग से बना एक जटिल द्रव्य है।

उद्भिज्जों को अपने पोषण की सामग्री दो स्थानों से प्राप्त होती है—वायुमण्डल से कार्बन-डाई ऑक्साइड,[3] तथा भूमि से मूलों द्वारा विभिन्न खनिज तत्त्व और जल। सूर्य की अल्ट्रा-वायोलेट किरणों की सहायता से क्लोरोफिल इस सामग्री को जोड़-तोड़ कर प्रोटीन[4], शर्करा, पिष्टसार[5] आदि द्रव्यों के रूप में परिणत करता है। इस कार्य में प्रकाश की सहायता अपेक्षित होने से अंग्रेजी में इसे 'फोटोसिन्थेसिस[6]' कहते हैं। कार्बन डाई आक्साइड और जल के जोड़-तोड़ से शर्करा बनती है। इस क्रिया में ओषजन पृथक् होती है, जिसे उद्भिज्ज श्वास क्रिया में बाहर निकालते हैं। इसके विपरीत मनुष्यादि प्राणी श्वास क्रिया में ओषजन ग्रहण करते और कार्बन डाई ऑक्साइड छोड़ते हैं। यों उद्भिज्ज भी ओषजन ग्रहण करते हैं, पर दिवस में–जब कि फोटोसिन्थेसिस की क्रिया जोर पर होती है—वे कार्बन डाइ ऑक्साइड का जिस प्रमाण (मात्रा) में ग्रहण करते हैं वह इतना

१—Chlorophyll एक वेद मन्त्रमें उद्भिज्जों के हरित वर्णका कारण 'अवि' नामक देवता बताया है। २—Carbondi oxide। ३—Pigment पिगमेण्ट। ४—Protein। ५—Carbohydrate. कार्बोहाइड्रेट। ६—Photo Synthesis. फोटो = प्रकाश; सिन्थेसि=जोड़-तोड़।

अधिक होता है कि उसकी तुलना में ओषजन का ग्रहण लक्षित नहीं होता।

मूल द्वारा गृहीत प्रस्फुरक (फॉस्फरस), नाइट्रोजन आदि खनिजों के योग से प्रोटीन बनती है। जीवित कोष[1] प्रोटोप्लाज्म[2] नामक जिस द्रव्य से बना है उसमें मुख्य घटक दो ही हैं—जल और प्रोटीन।

इस वर्णन से विदित होगा कि उद्भिज्जों का जीवन अल्ट्रा वायोलेट किरणों से कितना प्रभावित है। यों तो उद्भिज्जजीवी होने से प्राणी परम्परया भी अल्ट्रा-वायोलेट किरणों द्वारा अनुग्रहीत होते हैं, पर उनके शरीर में होनेवाले जोड़-तोड़ पर इन किरणों का साक्षात् प्रभाव भी होता है। यह प्रभाव अब देखेंगे।

साधारण मोमबत्ती से लेकर सूर्य्य पयन्त सभी प्रकाशमान पिण्डों के प्रकाश में अल्ट्रावायोलेट किरणें होती हैं। केवल, उपादान भेद से उन की इयत्ता (मात्रा) में भिन्नता होती है। ऊँचे प्रदेशों पर, अथवा समुद्र में—अथात् ऐसे स्थलोंपर जो धूल, जलकण और धूएँ से मुक्त होते हैं—जो सूर्यप्रकाश होता है, उस में अल्ट्रावायोलेट किरणें खूब होती हैं। परन्तु, दिवस के भिन्न-भिन्न समय, ऋतु और वातावरण की भिन्नता के कारण इन स्थलों पर इन किरणों की इयत्ता भिन्न-भिन्न होती है। इसी से अल्ट्रावायोलेट द्वारा चिकित्सा के लिए सूर्य का उपयोग बड़ा

१—Cell। २—Protoplasm.

असुविधाजनक होता है। शहरों में धूल और धुए की प्रचुरता के कारण सूर्य की अल्ट्रावायोलेट किरणें इन्हें भेद कर नीचे आ ही नहीं पातीं। अतः चिकित्सा में पारद-वाष्प के प्रदीप का व्यवहार होता है।

चिकित्सा में अल्ट्रावायोलेट किरणों की क्रिया दो प्रकार की होती है—स्थानिक और सर्वाङ्गगत। स्थानिक क्रिया यह होती है कि त्वचा पर रक्तिमा[१] आ जाती है। कुछ समय पीछे त्वचा की बारीक परत उतर जाती है और त्वचा का वर्ण धूसर हो जाता है। अङ्गों में कहीं वेदना हो तो वह शान्त हो जाती है। सर्वाङ्गगत परिणाम मुख्यतः निम्न होते हैं—(१) रक्त में सुधार (कैल्शियम), प्रस्फुरक, अयस् (लोहा) और आयोडीन की इयत्ता में वृद्धि; (२) रक्त में जीवाणुओं, उन के विषों तथा अन्य विषों को मारने वाले द्रव्यों[२] के उत्पादन के सामर्थ्य की वृद्धि; (३) अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का उद्दीपन; (४) त्वचा में विद्यमान कोलेस्टेरौल[३] नामक स्नेह-द्रव्य को जीवनीय डी[४] में परिणत करना; (५) शरीर में लाघव (स्फूर्ति) और स्वस्थता की प्रतीति उत्पन्न करना।

१—Erythema-एरिथिमा। २—Antibodies-एण्टी बॉडीज, इन द्रव्योंके उत्पादन बढ़ाने वाले द्रव्योंको Antigens-एण्टीजन्स कहते हैं। ३—Cholesterol. ४—vitamin D-वाईटेमिन डी। इसकी पर्याप्ति हो तभी शरीर कैल्शियम और प्रस्फुरकका उपयोग कर सकता है। विशेष देखिये—"शरीर क्रिया विज्ञान" पृ० ४२-४३, ५१।

इन कर्मों के कारण अल्ट्रावायोलेट किरणों का व्यवहार सामान्यतः निम्न रोगों में होता है—बालशोष[1], शोष[2] ज्वरान्त-दौर्बल्य, पाण्डु रोग (रक्तक्षय), शस्त्रकर्मसाध्य राजयक्ष्मा, कुष्ठ त्वग्रोग, यथा, त्वचा, का एक प्रकार का क्षय,[3] यौवनपिडका, प्रमेहपिडका[4], विसर्प, पामा, इन्द्रलुप्त आदि। इन कर्मों और साध्य रोगों पर दृष्टिपात करने से अल्ट्रावायोलेट किरणों का महत्त्व समझा जा सकता है। अब दूसरी अदृश्य किरण-इन्फ्रा-रेड का कार्य देखते हैं।

इन्फ्रारेड किरणें अदृश्य होती हैं, परन्तु तापमापक[5] में पारद के आरोह-अवरोह से इनकी उपस्थिति जानी जा सकती है। कारण, इनका कार्य उष्णता उत्पन्न करना है। चिकित्सा में इन के लिए भी सूर्य पर अवलम्बित न रह कर कृत्रिम प्रकाश की सहायता लेनी पड़ती है। ये किरणें उदकधरा[6] त्वचा के नीचे की केशिकाओं, ऊपर की मांसपेशियों तथा मांसधरा और मेदो-धरा कलाओं[7] द्वारा गृहीत होती हैं। परिणामतया, स्थानीय रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होती हैं, और गहराईमें स्थित अङ्गों में रक्त का जमाव और वेदना हो तो शान्त होते हैं। त्वचा की

१—Rikets रिकेट्स। २—marasmus मेरेस्मस।

३—Lupus—ल्यूपस। ४—Carbuncle—कार्बङ्कल।

५—Thermometer—थर्मामीटर। ६—Epidermis—एपीडर्मिस।

७—इन कलाओं के क्रमशः अंग्रेजी नाम—Superficial fascia—सुपर-फिशल फेशिआ, Deep fascia—डीप फेशिआ।

उष्णता में वृद्धि होती है। धातुपाक[1] की क्रिया उद्दीपित होती है, रक्त कणों में कुछ वृद्धि होती है, पर क्षत्र कणों (श्वेत कणों)[2] की संख्या में कुछ ह्रास होता है।

इन कर्मों के कारण इन्फ्रारेड किरणों का उपयोग कण्डरा, स्नायु, नाड़ा और मांस के पाक (शोथ)[3] में नाड़ी गत वेदना,[4] मांसक्षय, आमवात तथा वात रक्त से हुए सन्धिशोथ, व्रण, नखपाक[5], शुष्क फुफ्फुसधरापाक,,[6] मांसवेष्टपाक,[7] उपकुश[8] की प्रारम्भिक अवस्था और क्षत्रकणों की अल्पता।

सूर्य की त्रिविध किरणों के गुण कर्म को देखने से, आयुर्वेद तथा अन्य प्राचीन वाङ्मय में सूर्य की जो महिमा कही है उसका रहस्य समझ में आ सकता है। अपरंच सूर्य की उष्ण किरणों से सृष्टि में उत्ताप हो कर वातावरण में आन्दोलन होने से विभिन्न वायुचक्र (मौनसून की हवाएँ) उत्पन्न होती हैं, एवं मेघों की

१—Metabolism—-मेटाबॉलिज्म ; व्याख्या के लिए देखिये शरीर क्रिया विज्ञान, पृ. १३५। २—Leucocytes—ल्यूकोसाइट्स। क्षत्रकण नाम के लिए देखिये शरीर क्रिया विज्ञान, पृ. १४६। ३—कण्डरा और स्नायु का पाक= Fibrositis—फायब्रोसाइटिस ; नाडी का पाक (सूजन)=Newritis—न्यूराइटिस ; मांसपाक=Myositis—मायोसाइटिस। ४—Newralgia—न्यूरेल्जा। ५—Whitlow—व्हिट्लो ; या Panaris—पैनेरिस। ६—Dry pleurisy —ड्राई प्लुरिसी। ७—मसूड़े फूलना, Gingivitis—जिंजिवाइटिस। ८—Pyorrhoea alveoris—पायोरिआ एल्विओलेरिस ; पायोरिया के लिए उपकुश नाम का कारण जानने के लिए देखिये शरीर क्रिया विज्ञान, पृ. १५७।

उत्पत्ति तथा वहन होता और जगत का अनुग्रह होता है। मेघ आदि के प्रभाव से सूर्य का बल कैसे क्षीण हो जाता है, इसका अर्थ भी अब अवगत हो सकता है। सूर्य की यथार्थ महिमा समझ कर ही प्राचीनों ने सिद्धान्त स्थिर किया था—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ यजुः ७।४२, ऋग० १।१ '५।१-स्थावर और सृष्टि का—अर्थात प्राणि सृष्टि और उद्भिज्ज सृष्टि का सूर्य आत्मा है।

प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः ॥

सूर्य चेतन जगत का प्राणरूप है।

दिन के विभिन्न कालों में अल्ट्रा वायोलेट किरणों की इयत्ता न्यूनाधिक होने से ही सूर्य के प्रभाव में भी कुछ भिन्नता होना सम्भव है। कदाचित् इस भिन्नता को लक्ष्य में रख कर इस बात की अंशतः व्याख्या की जा सकती है कि प्रचीनों ने दिवस के भिन्न-भिन्न कालों में सूर्य के भिन्न-भिन्न नाम नियत किये हैं[1]।

परन्तु, आयुर्वेद ने सूर्य-रश्मियों के रासायनिक प्रभाव का आधुनिकों की अपेक्षया अधिक अनुशीलन किया था। उनके अवलोकनानुसार उद्भिज्ज-सृष्टि में प्रत्येक ऋतु में अमुक-अमुक रस अधिक प्रमाण में उत्पन्न और पुष्ट होता है। वर्तमान उद्भिज्ज-शास्त्र में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। विभिन्न धान्य, इक्षु, फल, मिर्च आदि की फसल किस-किस ऋतु

१—देखिये—निरुक्त, दैवतकाण्ड, १२ वाँ अध्याय, द्वितीय पाद।

में होती है इस बात का निरीक्षण और विवेचन करने से संभवतः आयुर्वेद के रसोत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों की यथार्थता ज्ञात हो सकती है।

रसों के समान ही वीर्य के विषय में भी आयुर्वेद का अभिमत है कि, प्रत्येक उद्भिज्ज का वीर्य अमुक-अमुक ऋतु में अधिकतम पुष्ट होता है। अतः उसका चिकित्सा में उपयोगार्थ ग्रहण अमुक ऋतु में ही करना चाहिये।

आयुर्वेदोक्त उद्भिज्जों की आधुनिक विधियों से रासायनिक परीक्षा करते हुए अथवा रोगियों पर उनका प्रयोग करके उनकी उपयोगिता की जाँच करते हुए इस रहस्य को सदा दृष्टिगत रखना चाहिये। आधुनिक परीक्षाओं में पाया गया है कि, किसी उद्भिज्ज को अमुक ऋतु में बन से लाया जाय तो उसके क्रियाशील अंश[१] की मात्रा अमुक होती है; उससे भिन्न ऋतुओं में लाया जाय तो पर्याप्त न्यूनाधिकता होती है। यह प्रत्यक्ष आयुर्वेद के इस नियम की पुष्टि करता है कि प्रत्येक उद्भिज्ज को अमुक-अमुक ऋतु में ही लाना चाहिये। यह भी विदित हुआ है कि, ऋतु के समान प्रत्येक उद्भिज्ज की अपनी मातृभूमि (वतन) भी होती है। उसमें उसकी और उसके क्रियाशील अंश की अधिकतम पुष्टि होती है। इस बात से भी आयुर्वेद के इस सिद्धान्त का समर्थन होता है कि, भिन्न-भिन्न उद्भिज्ज भिन्न-

१—Active Principle—एक्टिव प्रिंसिपल।

भिन्न देशों में अधिक होती हैं, तथा देश-भेद से उनके गुणों में भी भिन्नता होती है।

सूर्य की शक्ति जिस काल में मेघादि के आवरण के कारण कुण्ठित हुई होती है, उस काल में उसके विरोधी चन्द्रमा की पोषक शक्ति प्रबल होती है ; यह आयुर्वेद का निज सिद्धान्त है। इसकी आधुनिक मत से रासायनिक उपपत्ति बैठाना दुष्कर है। तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् दोष का सञ्चय, प्रकोप या प्रशम होता है, यह भी आयुर्वेद का स्वतन्त्र और मूलभूत सिद्धान्त है। अब तक हमने ऋतुओं के प्रथम विभाग का स्वरूप-वर्णन तथा आधुनिक मत से यथोपलब्ध व्याख्या की। अब अवसर है कि ऋतु-भेद से दोषों की सञ्चय-आदि अवस्थाओं के द्योतक द्वितीय ऋतु विभाग का वर्णन करें।

(ख) दोषों के संचय-प्रकोप-प्रशम और संशोधन को दृष्टि-में रखकर किया गया द्वितीय ऋतु-विभाग—

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षडृतवो भवन्ति दोषोपचय-प्रकोपोपशमनिमित्तं ; ते तु भाद्रपादाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः ; तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाख ज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढ श्रावणौ प्रावृडिति ॥ सु. सू. ६।१०

संशोधनाश्रयं दर्शनं दर्शयन्नाह—इत्यादि। ××× । ननु, प्रावृड्-वर्षयोः को भेदः ? उच्यते, प्रथमः प्रवृष्टेः कालः प्रावृट्, तस्यानुबन्धो वर्षाः। सञ्चयात् प्रकोपो बलवान्, तस्य चिकित्सितं संशोधनमित्यत्र

वर्षादय ऋतव उक्ताः, तथा चरकेऽपि रोगभिषग्जितीये विमाने संशोधन-मधिकृत्य वर्षादयोऽभिहिताः। यद्यपि दोषसञ्चयादिनिमित्तं वर्षादयः कथिताः, तथापि सञ्चयादिषु संशोधनं कार्यमित्यस्य प्राधान्यं; शिशिरा-दयस्तु रसं बलं चाधिकृत्योक्ताः, वर्षादयस्तु संशोधनमधिकृत्य संचयाद्यर्थ-मिति तात्पर्यार्थः। अन्ये त्वन्यथा व्याख्यानयन्ति—गङ्गाया दक्षिणे देशे वर्षाद्यृतुविभागो ज्ञातव्य इति; अयमपि गयदासाचार्येण दूषितः॥—डल्हन

अत्र खलु तावत् षोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवोभवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः, तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः॥ च० वि० ८।१२५

साधारण इति अनतिशीतोष्णवर्षः। प्रावृषं विभजते-प्रावृडित्यादि। प्रथमप्रवृष्टशब्देनाषाढश्रावणावुच्येते। एतच्च द्विमासमृतुभेदमादिं कृत्वा शेषमासद्विकेन वर्षादयो यथाक्रमं ज्ञेयाः। अयं च ऋतुक्रमो न रसोत्प-त्त्यादौ, किंतु शरीरशोधन प्रवृत्तावेवेति दर्शयता 'संशोधनमधिकृत्य' इत्युक्तम्, एवमेव च क्रमं सिद्धौ वक्ष्यति—"प्रावृट् शुक्रनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः। तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति (च० सि० ६।५)।" अस्मिन्नृतु-क्रमे शिशिरो नास्ति। ये तु ब्रुवते—गङ्गाया दक्षिणकूले वर्षा बहु भवति तेन तत्र प्रावृडादिक्रमः, गङ्गोत्तरकूले शीतं बहु भवति तेन तत्र हेमन्तशिशिरौ भवतः; उक्तं हि काश्यपेन यत्—"भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्। तेन प्रवृडवर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ॥ गङ्गाया उत्तरेकूले हिमवदम्बुसंकुले। भूयः शीतमतस्तेषां हेमन्तशिशिरावृतू"

इति। एतच्च न, अत्र 'संशोधनमधिकृत्य' इति वचनात्। यदि देशकृतोऽयं भेदः स्यात् तदा तमेव भेदकं ब्रूयात्; न संशोधनम्। तेन काश्यपोक्तदेश-भेदेन प्रावृडादिक्रमो न तावदिहाभिमतः॥ —चक्रपाणि

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः।
तदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणास्त्रयः॥
प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति॥
एतानृतून्विकल्प्यैवं दद्यात्संशोधनंभिषक्।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु॥

च० सि० ६।४-६

औत्सर्गिकं संशोधनयोग्यं कालं दर्शयन्नाह—अत्युष्णेत्यादि। × × साधारणा इति उष्णवर्षशीतानां साधारणाः; अनुद्भूतोष्णवर्षशीता इति यावत्। शुचिनभौ आषाढ-श्रावणौ। ऊर्जसहौ कार्तिकमार्गशीर्षौ। तपस्यः फाल्गुनः। मधुश्चैत्रः। शोधनं प्रतीति शोधने कर्तव्येऽयं यथोक्तः प्रावृडादिऋतु विभागो भवति; स्वस्थवृत्तौ रसोत्पत्तौ वा तस्याशितीयोक्त एव वर्षाशरद्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्म रूपः ऋतुक्रमो भवति। एतानृतूनिति प्रावृडादीनृतून्। विकल्प्यैवमिति यथोक्तमासविभागेन व्यवस्थाप्य संशोधनं दद्यात्। एतदुक्तसंशोधनाङ्गर्तुक्रमविभागेनैव चरकसंस्कारेऽपि न वेगान्धा-रणीये „माधवप्रथमे मासि" (च० सू० ७।४६) इत्यादिना ग्रन्थेन चैत्रश्रावणाग्रहायणेषु वमनादिसंशोधनमुक्तं; तथा रोगभिषग्जितीये च शिशिरं परित्यज्य प्रावृडादिनैव ऋतुक्रमः संशोधनाङ्गतयोक्तः; तेन रसबलात्पाद-

चिन्तायां स्वस्थवृत्तानुष्ठानेषु च शिशिरादिक्रमो भवति; संशोधन व्यवस्थायां तु प्रावृडादिरिति प्रावृडादिक्रमोऽयं संशोधनानुकूलतयाऽऽचार्येण कल्पितो न पारमार्थिकः। ये तु, प्रावृडादिक्रमं गङ्गाया दक्षिणेकूले, उत्तरेऽपि शिशिरादि क्रमं वदन्ति, तन्मते 'शोधनं प्रति' इति ग्रन्थोऽनुपपन्नः ; तेन, "भूयो-वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्। तेन वर्षाप्रावृडाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ" इत्यादिना ग्रन्थेन यदि नाम देशभेदेनापि ऋतुक्रमः पारमार्थि-कोऽभिधीयते, तथापि नासावाचार्यस्येहाभिमतः, प्रपञ्चितश्चायमर्थः सूत्र-स्थान एव × × × ॥ —चक्रपाणि

"द्वितीय ऋतु-विभाग वास्तविक नहीं, काल्पनिक है। वर्ष में काल आदि के प्रभाव से क्रमशः एक-एक दोष का प्रथप अपने स्थान में सञ्चय, पश्चात् प्रकोप और तदनन्तर प्रशमन हुआ करता है। प्रकोपावस्था में दोष शरीर में प्रसृत हो कर निज रोग उत्पन्न न करें, इस हेतु तत्-तत् उपायों से उनका संशोधन कर देना चाहिये[1]। द्वितीय ऋतु-विभाग इसी सञ्चय, प्रकोप, प्रशमन और प्रकोप-काल में संशोधन के काल का निर्देश करने के लिये किया गया है।

१—स्मरण रहे, दोष का प्रकोप अधिक हो तभी संशोधन (वात के लिये बस्ति द्रय, पित्त के लिये विरेचन और कफ के लिये वमन) का उपयोग करना चाहिये। दोष अल्प हो तो दीपन पाचन आदि संशमन उपायों का अवलम्बन करना चाहिये। सामान्यतः, संशमन की अपेक्षया संशोधन का ही महत्त्व विशेष है। कारण, संशमन से दोष शरीर में ही रहता है और अनुकूल परिस्थिति आने पर उसके प्रकोप की अशङ्का बनी रहती है ; परन्तु संशोधन से उसका मूलच्छेद हो जाने से उसके प्रकोप का अवकाश ही नहीं—

"इस विभाग में क्रमशः निम्न ऋतु होती हैं—प्रावृड्, वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म। इस ऋतु-क्रम में शरद नहीं है तथा प्रावृट् विशेष है। चौमासे के प्रारम्भिक दो मासों को प्रावृट् तथा अन्तिम दो मासों को वर्षा कहते हैं।

"प्रत्येक ऋतु में निम्न प्रकार से दो-दो मास होते हैं—आषाढ-श्रावण में प्रावृट्, भाद्रपद-आश्विन में वर्षा, कार्तिक-मार्गशीर्ष में शरद्, पौष-माघ में हेमन्त, फाल्गुन-चैत्र में वसन्त और वैशाख-ज्येष्ठ में ग्रीष्म ऋतु होती है[1]।"

स्वस्थ-वृत्त के ग्रन्थों में किस ऋतु में किस दोष का सञ्चय रहता। देखिये—"दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥ दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति। रोगाणां प्रसवानां च गतानामागति ध्रुवा"—च० सू० १६।२०-२१॥ यह चिकित्सा-कर्म में सिद्धि चाहने वालों को सदा स्मरण रखना चाहिये। अपने-अपने संशोधन द्वारा तत्-तत् दोष के मूलोच्छेद की महिमा देखिये—शरीर क्रिया विज्ञान पृष्ठ ४१७, ४४८, ५६८।

१—टीकाकारों ने ऋतु-विभागों के सम्बन्ध में किन्ही का यह मत दिया है यह भेद देश-भेद से है। अर्थात् गङ्गा के दक्षिण की ओर जो (भारतीय) प्रदेश हैं उनमें वर्षा अधिक होती है अतः उनके लिये प्रावृट्-वाला ऋतु-विभाग बनाना पड़ा है; जब कि गङ्गा के उत्तर की ओर शीत अधिक पड़ता है अतः वहाँ के प्रदेशों के लिये शिशिर-वाले ऋतु-विभाग की कल्पना की गयी है। चक्रपाणि ने अपनी टीका में इस मत का सोपपत्तिक (युक्तिसहित) खण्डन किया है। डल्हन ने भी अपना स्पष्ट मत इसके विरुद्ध दे कर कहा है कि गयदास ने भी इसका बुरी तरह खण्डन किया है। दोनों पक्षों के निदर्शक टीकाकारों के वचन हमने ऊपर दिये हैं।

प्रकोप या प्रशमन होता है और क्यों इस बात का विस्तार से विवेचन किया गया है तथा तदनुसार ऋतुचर्या का भी उपदेश किया गया है। यहाँ संक्षेप में केवल दोषों के चयादि की ऋतुओं का निर्देश किया जाता है—पित्त का वर्षा में सञ्चय, शरद् में प्रकोप तथा हेमन्त में शान्ति होती है ; कफ का हेमन्त में सञ्चय वसन्त में प्रकोप तथा ग्रीष्म में शान्ति होती है एवं, वात का ग्रीष्म में सञ्चय, प्रावृट् में प्रकोप तथा शरद् में शान्ति होती है।

आतुरावस्थारूप काल

काल के इस भेद के विषय में जो कुछ कहना था वह ऊपर 'काल के दो भेद' इस शीर्षक के अन्तर्गत कहा जा चुका है। अब अगले द्रव्य 'दिशा' के विषय में किंचित् निर्देश करते हैं।

दिशा

दिशा का लक्षण दार्शनिकों ने यह बताया है कि "जिस द्रव्य के कारण 'प्राची' आदि शब्दों का व्यवहार होता है उसे 'दिशा' कहते हैं। यह एक, विभु (व्यापक) तथा नित्य होती है।" दिशा के विषय में आयुर्वेद के स्वतन्त्र मत हैं। यथा, जैसा कि ऊपर देख आये हैं उत्तर या दक्षिण दिशा में अयन (गति) के भेद से सूर्य और चन्द्र की शक्ति में भेद होता है और उसका स्थावर-जङ्गमों पर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार दिशा-भेद से वायु के गुणों में भी भिन्नता आती है[१]।

१—विभिन्न दिशाओं से आने वाली वायुओं के विभिन्न गुणों के लिये देखिये—सु॰ सू॰ २०।२३-२९।

नौवाँ अध्याय

अथातो गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय विज्ञानीयमध्यायं व्याख्या स्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय

आयुर्वेद के व्यवहार-क्षेत्र में गुणों का स्थान महत्त्वपूर्ण है, यह पहले कह आये हैं । शरीर के स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की परीक्षा उसके मूलभूत दोष, धातु और मल के गुणों को देख कर ही की जाती है । जिन आहार द्रव्यों से दोषादि का साम्य स्थिर रहता है उनका तथा दोषादि का वैषम्य होने पर इन में समता लाने के उद्देश्य से जिन औषध-द्रव्यों का आश्रय लिया जाता है उनका विचार भी गुणों तथा तदाश्रित कर्मों के रूप में ही किया जाता है । गुणों के इस महत्त्व के प्रति एक वार फिर वाचकों का ध्यान आकृष्ट कर के इन का प्रसंगोपात्त वर्णन किया जाता है ।

गुणका लक्षण

समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ।।

च० सु० १।५१.

××× निर्गतश्चेष्टाया निश्चेष्टः, चेष्टानिर्गतया चेष्टाशून्यत्वं तथा चेष्टाव्यतिरिक्तत्वं चोच्यते, तेन चेष्टारूपात् कर्मणो व्यावृत्तिः, तथा क्रियाधारत्व-

योगेभ्यो मूर्तद्रव्येभ्यो व्यावृत्तिः सिद्धा; गुणस्य कारणमित्यनेन चाकारणेभ्यः सामान्यविशेषसमवायेभ्यो व्यावृत्तिः सिद्धा। ××× ॥

—चक्रपाणि

"जो धर्म द्रव्यों में समवाय संबन्ध से रहता हो, चेष्टारहित हो, स्वयं भी चेष्टा (क्रिया, कर्म) रूप न हो और किसी गुण की उत्पत्ति में कारणभूत हो, उसे गुण कहते हैं।"

द्रव्यों में दो प्रकार के धर्म रहा करते हैं—गुण और कर्म। दार्शनिकों ने 'सिद्ध' अर्थात् द्रव्य में सदा विद्यमान धर्म को गुण कहा है तथा 'साध्य' अर्थात् जो समय-समय पर आवश्यकतानुसार प्रादुर्भूत हुआ करे उसे 'कर्म' या 'क्रिया' कहा है। कर्म से गुण का भेद बताने के लिए लक्षण में कहा है कि क्रिया से भिन्न धर्म को गुण कहते हैं।

गुणों के भेद

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः॥

च० सू० १।४९

अनेन त्रिविधा अपि वैशेषिकाः सामान्या आत्मगुणाश्चोद्दिष्टाः। तत्रार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। एते च वैशेषिकाः; यत आकाशस्यैव शब्दः प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्शः प्राधान्येन, एवमग्न्यादिषु रूपादयः। अन्यगुणानां चान्यत्र दर्शनं भूतान्तरानुप्रवेशात्। गुर्वादयस्तु गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमंदतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरस्थूलसूक्ष्मसान्द्रद्रवा विंशतिः। एते च सामान्यगुणाः, पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्। एते च

यज्जःपुरुषीये प्राय आयुर्वेदोपयुक्तत्वात्परादिभ्यः पृथक् पठिताः। बुद्धिर्ज्ञानम्; अनेन च स्मृतिचेतनाधृत्यहंकारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्। प्रयत्नोऽन्ते येषां निर्देशे ते प्रयत्नान्ताः ; एतेन चेच्छाद्वेषसुखदुःख प्रयत्नानां ग्रहणम्। वचनं हि—इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः" (च० शा० १।७२।) इह चेतनादीनां बुद्धिग्रहणेनैव ग्रहणं ; शारीरे तु चेतनादीनामपि पृथगात्मगमकत्वेन पृथक् पाठः परादयो यथा—"परापरत्वे × ×" (च० सू० २६। २९-३५) इति। एते सामान्यगुणा अपि नात्युपयुक्तत्वात् तथा बुद्धिप्राधान्याच्चान्ते प्रोक्ताः॥

—चक्रपाणि

"गुण इकतालीस हैं। इन के सामान्यतः तीन विभाग किये गये हैं— वैशेषिक, सामान्य और आत्मगुण। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय (अर्थ) अर्थात्—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच को वैशेषिक गुण कहा गया है ; क्योंकि ये प्रत्येक महाभूत के अपने-अपने विशेष गुण हैं। महाभूतों में अन्य गुण अन्य महाभूतों के संयोगवश आते हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव—इन बीस तथा पर-अपर, युक्ति (योजना), संख्या, संयोग-विभाग, पृथक्त्व, परिमाण (मान) संस्कार और अभ्यास इन दस गुणों को सामान्य कहते हैं। इन्हें सामान्य कहने का कारण यह है कि ये पृथ्वी आदि पाँचों भूतों में समान रूप से विद्यमान होते हैं। इन में गुरु-लघु आदि परस्पर विरोधी बीस गुणों का आयुर्वेद में विशेष उपयोग होता है।

बुद्धि (ज्ञान) जिसके अन्तर्गत स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि आत्मा के गुणों का भी समावेश है, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख और प्रयत्न इन छः को आत्मा के विशेष गुण होने के कारण आत्म-गुण कहते हैं।" इन के विषय में यत्किंचित् जानकारी क्रमशः दी जाती है।

अर्थ या विषय

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥

च० शा० १।२७

अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥

च० शा० १।३१

पाञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥

च० सू० ८।३१

शब्दादि के सम्बन्ध में पहले भी कह आये हैं कि ये महाभूतों के पृथक्-पृथक् विशेष गुण हैं। हमारे शरीर में जिस ज्ञानेन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है, वह उस भूत के गुण को ही ग्रहण करती है। इन विषयों को अर्थ, ज्ञेय और गोचर भी कहते हैं।

इन पाँचों गुणों में रस गुण का आयुर्वेद में विशेष स्थान है। द्रव्यों की परीक्षा मुख्यतः उनके रसज्ञान से ही होती है। इसी कारण द्रव्यगुण शास्त्र के ग्रन्थों में रसों का कर्म विस्तार से बताया-

जाता है। यद्यपि द्रव्य की परीक्षा में रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव और विचित्रप्रत्ययारब्धत्व का भी विचार किया जाता है, तथापि प्रायः द्रव्यों के गुण, वीर्यादि रस के अनुरूप ही होते हैं। अतः रस-निर्देश से गुणादि का ज्ञान स्वयं हो जाता है, यह सिद्धान्त है—

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः।
तयोरम्लं यदुष्णं च यद् द्रव्यं कटुकं तयोः॥
तेषां रसोपदेशेन कर्तव्यो गुणसंग्रहः।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते॥
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेत् रसतो भिषक्॥

च० सू० २६।४५।४७[1]

ऐसे द्रव्य बहुत नहीं हैं, जिन का गुण, वीर्यादि रस से विपरीत हो, अतः जिन के गुणादि का भी निर्देश रस के साथ करना आवश्यक हो[2]। रसों के इस महत्त्व के कारण उन का द्रव्य गुण शास्त्र में गुणों से पृथक् उल्लेख है। विपाक रस का ही एक भेद है। आहार-औषध द्रव्यों के पच जाने पर उन का जो रस

१—यह विषय द्रव्यगुण शास्त्र का होने से इन श्लोकों का चक्रपाणि दत्त की टीका तथा अर्थ यहाँ नहीं दिये हैं।

२—ऐसे द्रव्यों के उदाहरण चरक में ही उक्त श्लोकों से आगे द्रष्टव्य है।

होता है, उसे विपाक कहते हैं। यह प्रायः मूल रस के तुल्य होता है और कभी उस से भिन्न भी होता है।

रस छः हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। मधुर रस कफ तथा प्रायः सब धातुओं की वृद्धि और वात की शान्ति करनेवाला है। अम्ल रस कफ, पित्त और रक्त की वृद्धि तथा वात का शमन करता है। लवण रस भी कफ, रक्त, और पित्त का वर्धक तथा वात का शामक है। कटु रस सब धातुओं एवं कफ को क्षीण करता तथा वात और पित्त की वृद्धि करता है। तिक्त और कषाय रस वात को बढ़ाते तथा सब धातुओं और कफ पित्त को क्षीण करते हैं। आधुनिक क्रियाशारीर में कषाय और कटु रस को छोड़ कर शेष चार ही रस माने हैं।

रसों के विषय में इतना प्रारम्भिक ज्ञान ही पर्याप्त है। विस्तार द्रव्यगुणशास्त्र के ग्रन्थों में देखा जा सकता है। रोग-परीक्षा में मूत्रादि का मधुर रस, उदरादि में विभिन्न प्रकार के शब्द तथा त्वचा आदि के विभिन्न स्पर्श, मलादि में विविध प्राकृत-विकृत गंध तथा रूप देख कर रोग-निर्णय किया जाता है। इस विषय का विस्तार निदान के ग्रन्थों में देखना चाहिये। गंध-गुण के दो भेद हैं—सुगंध और दुर्गंध। जो आह्लादजनक सूक्ष्म, रुचिकारक और मृदु हो उसे सुगंध तथा इसके विरोधी और लालास्राव तथा अरुचि (या वमन) उत्पन्न करनेवाले गन्ध को दुर्गन्ध कहते हैं[1]।

१—देखिये—"सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः। दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद् हृल्लासारुचिकारकः॥ सु० सू० ४६।५२१—सुखानुबन्धी सुखोत्पादक इत्यर्थः। सूक्ष्मोऽवगाहकः। हृल्लासारुचिकारक इति पुनररुचि-ग्रहणं द्विविधारुचिप्रापणार्थं, तेनाहारं न कांक्षति क्रियमाणाच्च विरसी भवति। हृल्लासः थूत्करणं, छर्दिरित्यन्ये —डह्लन

गुरु आदि वीस गुण

गुरु आदि वीस गुणों का निर्देश ऊपर किया है। गुरु आदि शब्द वैसे द्रव्यों के विशेषण-रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु गुणों के प्रसंग में इन्हें भाववाचक समझना चाहिये—अर्थात् गुरु शब्द से गुरुता, लघु से लघुता, रूक्ष से रूक्षता, स्निग्ध से स्निग्धता, आदि का ग्रहण करना चाहिये। चक्रपाणि ने कहा भी है—

रूक्षादयो भावप्रधानाः, तेन रूक्षत्वादयो गुणा मन्तव्याः ॥

च० सू० १२।४ पर

द्रव्यों में विद्यमान ये गुण शब्द, स्पर्शादि के समान प्रत्यक्ष नहीं हैं, किन्तु शरीर पर उनकी क्रिया देख कर उनके अस्तित्व का अनुमान होता है—

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ॥

सु० सू० ४६।५१४

इसका आशय यह है कि सामान्य व्यवहार में जिन द्रव्यों को गुरु (भारी, वजनदार), लघु (हलका), स्निग्ध (चिकना-चुपड़ा) आदि कहा जाता है, आयुर्वेद में द्रव्य गुण शास्त्र के प्रसङ्ग में उनको गुरु, लघु आदि नहीं माना गया है, किन्तु सेवन के पश्चात् शरीर में जाकर ये गौरव, लाघव आदि गुणों को उत्पन्न करते हैं, अतः इनमें गुरु, लघु आदि गुणों का अनुमान किया गया है।

गुरु-लघु आदि गुण द्रव्यों में कभी स्वभाव से होते हैं, यथा माष (उड़द) में जो गुरुता है वह स्वभाव सिद्ध है। ऐसे द्रव्यों को प्रकृति गुरु कहते हैं। ये गुण कभी संस्कारवश होते हैं— अर्थात् उन्हें सेवन करने योग्य बनाने के लिये जो पाकादि प्रक्रियाएँ की जाती हैं उनके कारण उत्पन्न होते अथवा घटते-बढ़ते हैं। यथा खूब पकाने से दूध गुरु हो जाता है ; खील के रूप में चावल हलका और वमनहर हो जाता है। कभी ये गुण मात्रा की न्यूनाधिकता से भी होते हैं। लघु वस्तु भी अधिक ली जाय, तो गुरु होती है, गुरु वस्तु भी मात्रावत् ली जाय तो लघु ही सिद्ध होती है। शेष गुणों के भेद भी इसी प्रकार मानने चाहिये[1]। इन गुणों का परिचय क्रमशः देते हैं—

गुरु-लघु

सादोपलेप बलकृद् गुरुस्तर्पण बृंहणः।
लघुस्तद्विपरीतः स्यल्लेखनो रोपणस्तथा॥

सु० सू० ४६।५१८

सादोऽङ्गग्लानिः, उपलेपो मलवृद्धिः, बलं श्लेष्मा। तर्पणः तृप्तिजनकः बृंहणो देहवृद्धिकरः। लघुस्तद्विपरीत इति असादानुलेपादिकृत् कफहरश्चेत्यर्थः। लेखनः पत्तलीकरणः॥ —डह्लन

लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्र पाकि च।
गुरु वातहरं पुष्टि श्लेष्मकृच्चिरपाकि च॥

भावप्रकाश-पूर्वखण्ड

"गुरु और लघु परस्पर-विरोधी गुण हैं, जिस गुण के कारण

१—इस विषय के प्रमाण शास्त्र में देखने चाहिये।

शरीर की पुष्टि हो, कफ तथा बल की वृद्धि और वात का क्षय हो, तृप्ति का अनुभव हो, द्रव्य देर में हजम हो, शरीर में सुस्ती-सी अनुभव हो, द्रव्यों में विद्यमान वह गुण गुरु कहाता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण शरीर पतला हो, मलों तथा कफ का ह्रास हो, अङ्गों में लाघव (स्फूर्ति, हलकापन) अनुभव हो, द्रव्य शीघ्र हजम हो जाय एवं व्रणादि का रोपण हो, द्रव्यों में स्थित उस गुण को लघु कहते हैं। लघु द्रव्य उत्तम पथ्य होते हैं।"

जिन आहार-द्रव्यों में प्रोटीन और स्नेहों का आधिक्य हो उन्हें गुरु कहना चाहिये तथा जिन में कार्बोहाइड्रेट विशेष हो वे लघु होते हैं। जीवनीय-"बी" युक्त द्रव्य सरलता से पच जाते हैं तथा शरीर में पुष्टि और वातिक रोगों का नाश करते हैं। इसके विपरीत जिनमें स्वभाव से ही 'बी' न हो या पचाने की क्रिया से न्यून या नष्ट हो गया हो वे दुष्पच तथा वात रोगजनक होते हैं।

गुरु द्रव्यों में पृथिवी तथा जल तत्त्व अधिक होते हैं और लघु द्रव्यों में आकाश, वायु और अग्नि की अधिकता होती है।

शीत-उष्ण

ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेद दाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः॥

सु० सू० ४६।५१५

पाचनो व्रणादीनाम्॥ —डल्हन

"जिस गुण के कारण द्रव्य का स्पर्श और सेवन विशेषतः

उष्णता से पीड़ित पुरुष को सुखदायी हो, जो सस्तम्भन हो— अर्थात् वमन, अतिसार, बहते हुए रक्त आदि को जो अटकावे, किंवा शरीर में संचार करने वाले द्रव्य पदार्थों की गति को मन्द करे; जो मूर्च्छा, पिपासा, स्वेद और दाह को शान्ति करे, द्रव्यमें स्थित उस गुण को शीत कहते हैं। उष्ण गुण शीत के विपरीत कष्टप्रद, स्वेद, मूर्च्छा, तृषा और दाह का उत्पादक; वमनादि को उत्पन्न करने या बढ़ाने वाला और विशेष करके पाचन अर्थात खाये हुए अन्नपान को रस रूप में एवं रस को रक्तादि रूप में पचाने की क्रिया को बढ़ाने वाला तथा व्रणों को पकाने वाला हो— उसे उष्ण कहते हैं।" शीत द्रव्यों में जल महाभूत की अधिकता होती है तथा उष्णों में अग्नि महाभूत की।

शीत द्रव्यों को लोक-भाषा में ठण्ढा या बादी करने वाला तथा उष्ण द्रव्यों को गरम कहते हैं, ये द्रव्य प्राय: औषध-रूप होते हैं। जो द्रव्य किसी अवयव के साक्षात् सम्पर्क में आ कर किंवा मस्तिष्क के रक्ताभिसरण के केन्द्रों को उत्तेजित कर रक्ताभिसरण के वेग, शक्ति (दबाव, जिसे ब्लड-प्रेशर कहते हैं) तथा रक्त की स्थानीय मात्रा में वृद्धि करें, उन्हें उष्ण कहा जा सकता है। रक्त का वेग, दबाव (प्रेशर) तथा प्रमाण जिस अङ्ग में विशेष होगा, उस अङ्ग की स्वाभाविक क्रिया बढ़ जायगी। यथा, पाचन सम्बन्धी अवयवों में रक्त की वृद्धि से पाचन अच्छा होता है, स्वेद ग्रन्थियों में रक्त की वृद्धि से स्वेद होता है, वृषण ग्रन्थियों में रक्त की वृद्धि से शुक्रोत्पत्ति और कामेच्छा विशेष होती है,

त्वचा में रक्त-वृद्धि से प्रत्यावर्तित क्रिया द्वारा[1] अन्तर्गत अङ्ग की शोथ और वेदना कम होती है। रक्त के वेग आदि की वृद्धि के

१—(Reflex action—रिफ्लेक्सएक्शन।) नाड़ी संस्थान (Nervous system—नर्वस सिस्टम) द्वारा होनेवाली क्रियाओं के दो प्रकार हैं। एक प्रकार में प्रकाश, शब्द, शीत, उष्ण, वेदना आदि की संज्ञाएँ संज्ञा वह स्रोतों (Sensory nerves—सेन्सरी नर्व्स) या Afferent nerves—एफरेण्ट नर्व्स) द्वारा मस्तिष्क आदि में स्थित अपने-अपने केन्द्रों में पहुँचती हैं। वहाँ से इनके वेग प्रतिसंधाता (संयोजक) सूत्रों द्वारा संज्ञा के अनुरूप चेष्टाओं के केन्द्रों में पहुँचते हैं। ये केन्द्र अपने-अपने अवयवों को तत् तत् चेष्टा करने की आज्ञा करते हैं। यद्यपि यह सब प्रक्रिया सेकण्ड से भी बहुत कम समय में हो जाता है, तथापि हमारे नित्य के जीवन में सामान्यतः ऐसे ही प्रसंग आते हैं, जब कि इतना भी काल व्यतीत होना कार्य साधक नहीं होता। अतः इन अवसरों पर प्रकृति ने निम्न व्यवस्था की है। संज्ञाओं के जो वेग मस्तिष्क की ओर प्रधावित होते रहते हैं, वे अपने समय पर मस्तिष्क में पहुँचते अवश्य हैं, उपयुक्त केन्द्र द्वारा प्राप्त होनेवाले आदेश के अनुसार होनेवाली चेष्टा भी करते हैं, परन्तु यह चेष्टा अपने मस्तिष्क-गत केन्द्रों के आदेश से नहीं होती। संज्ञा के वेग बहुधा सुषुम्णा में होकर मस्तिष्क की ओर जाते हैं। जो नाड़ीसूत्र इन वेगों का वहन करते हैं उनका सम्बन्ध प्रतिसंधाता सूत्रों द्वारा सुषुम्णा में स्थित उन नाड़ीसूत्रों के साथ होता है जो मस्तिष्क आदि उच्चतर केन्द्रों से चेष्टाओं के वेगों का वहन करते हैं। संज्ञावह सूत्रों की संज्ञा का वेग मस्तिष्क में पहुचने के पूर्व प्रतिसंधाता सूत्रों द्वारा इन चेष्टावह स्रोतों (Motor nerves—मोटर नर्व्स) या (Efferent nerves—इफरेण्ट नर्व्स) में पहुचता है। वे स्वयं (जानो अपनी जिम्मेदारी पर) अपने से संबद्ध योग्य अवयवों को योग्य आदेश देकर तत्कालोचित चेष्टा-

कारण शरीर का ऊष्मा भी बढ़ता है। उष्ण के विरोधी अर्थात रक्त की मात्रा, शक्ति और वेग को न्यून करने वाले द्रव्य शीत होते हैं। ये शरीर की पाचन क्रिया और ऊष्मा को भी घटाते हैं। इन कारणों से शरीर में अपक्वता के निदर्शक कफ का

करवाते हैं। इतने समय में संज्ञा का वेग और उसके साथ ही कालानुरूप चेष्टा का वेग तथा उसका ज्ञान मस्तिष्क के केन्द्रों में भी पहुँच जाता है।

आँख, कान, आदि इन्द्रियों की संज्ञाएँ, जो सुषुम्णा काण्ड द्वारा नहीं, किन्तु अन्य ही मार्ग से मस्तिष्क-गत अपने केन्द्रों तक पहँचती हैं, उनका भी वेग प्रतिसंधाता सूत्रों द्वारा सुषुम्णा-काण्ड में स्थित विभिन्न चेष्टावह सूत्रों से होता है। कई वार इन संज्ञाओं के वेग भी मस्तिष्क में पहुँचने के पूर्व ही सुषुम्णा काण्ड के चेष्टा वह सूत्रों तक पहचते और उनके उत्तेजन से कालानु-रूप चेष्टा कराते हैं। इन पिछली प्रकार की क्रियाओं को प्रति संक्रमित या प्रत्या-वर्तित क्रिया (Reffex actionरिफ्लेक्स एक्शन) कहते हैं। हृदय की गतियों में भेद, श्वासोच्छ्वास, पाचन संस्थान तथा रक्तानुधावन संस्थान को क्रियाएँ आदि अनेक जीवनोपयोगी क्रियाएं इसी प्रकार से संबन्ध रखती हैं। अनेक क्रियाएँ-यथा साइकल चलना, प्रार्थनामंत्रों का उच्चारण आदि जो प्रथम अभ्यास साध्य होने के कारण मस्तिष्क से प्राप्त होनेवाले आदेशों द्वारा होती हैं, वे भी पीछे से अभ्यास होनेपर आपसे आप होने लगती हैं, और तब प्रत्यावर्तित क्रिया की श्रेणी में आती हैं। इन उभय प्रकार की क्रियाओं की उपमा हम एक व्यवस्थित राज्य-तन्त्र से दे सकते हैं। बहुधा राज्य के कोने-कोने से विभिन्न वृत्तान्त राज्य की केन्द्रिय संस्थाओं से पहुँचते हैं, तथा वहां से तदनुरूप कार्य (चेष्टा) करने के आदेश स्थानीय अधिकारियों को मिलते हैं। परन्तु कई बार आवश्यक और शीघ्र (आतिपातिक] कार्य आ पड़ने पर पटवारी आदि स्थानीय अधिकारी स्वयं ही तत्कालानुरूप कार्य कर देते हैं और पश्चात् उसका समाचार उच्च अधिकारियों को देते हैं। प्रत्यावर्तित क्रियाओं में यही बात होती है।

आधिक्य और तज्जन्य रोगों का प्रादुर्भाव होता है। ऐसी स्थिति में शरीर में रोगजनक जीवाणुओं का प्रसार और रोगोत्पत्ति भी सुलभ हो जाते हैं।

साक्षात् सम्पर्क में आ कर प्रत्यावर्तित क्रिया द्वारा अथवा मस्तिष्क में स्थित केन्द्रों को प्रभावित करके शीत द्रव्य रक्त-वाहिनियों को संकुचित करते हैं, अथवा रक्त के स्कन्दन (जमने की क्रिया) को बढ़ा देते हैं, अतः ये रक्तस्तम्भक होते हैं। कई द्रव्य, जिन्हें उष्ण कहना चाहिये, केशिकाओं की दीवाल बनाने वाले कोषों के संयोजक लिसिथिन[1] नामक द्रव्य को नष्ट कर देते हैं। परिणामतया, कोष एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, उनके मध्य अन्तर बढ़ जाता है। इन छिद्रों में से रक्त बाहर स्रुत होता है। इस प्रकार त्वचा पर छोटी-छोटी रक्त फुंसियाँ बन जाती हैं और श्लेष्मकलाओं से रक्त का स्राव होता है। कभी-कभी उष्णताजन्य रक्त के वेग के कारण केशिकाएँ विस्फारित हो कर फट जाने से स्राव होता है। कई द्रव्य रक्त के स्कन्दन में बाधा पहुंचाते हैं, अतः स्राव को बन्द नहीं होने देते।

कई द्रव्य, यथा प्रोटीन, शरीर में ऊष्मा की उत्पत्ति की क्रिया को अपने प्रभाव से बढ़ाते हैं।

चिकित्सा-कार्य में उल्लिखित रहस्यों को सदा लक्ष्य में रखना चाहिये।

१—Lecithin.

स्निग्ध-रूक्ष

स्नेहमार्दवकृत् स्निग्ध बलवर्णकरस्तथा ।
रूक्षस्तद्विपरीतःस्याद् विशेषात्स्तम्भनःखरः ॥

सु० सू० ४६।५१६

तद्विपरीतो रौक्ष्यकाठिन्यकर इत्यर्थः । स्तम्भनोऽतिसारादीनाम् ॥

—डह्लन

स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम् ।
रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम् ॥

भावप्रकाश, पूर्वखण्ड

"जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में स्निग्धता, मृदुता, बल और कान्ति की वृद्धि करे, वृष्यता लावे, वात की शान्ति और कफ की पुष्टि करे, उसे स्निग्ध कहते हैं। इसके विपरीत रूक्ष द्रव्य शरीर में रूक्षता, कठिनता आदि उत्पन्न करने वाले, अत्यन्त वातकारी और कफहर हैं।" स्निग्ध द्रव्यों में जल महाभूत अधिक होता है तथा रूक्ष द्रव्यों में पृथिवी और वायु अधिक होते हैं।

स्निग्ध द्रव्यों में स्नेहों की अधिकता होती है ; जब कि रूक्ष द्रव्यों में प्रोटीन और स्नेह दोनों की अल्पता एवं सेल्युलोज़ की अधिकता होती है।

प्रधान गुण

सब गुणों में गुरु-लघु, शीत-उष्ण तथा स्निग्ध-रूक्ष ये छः

गुण ही प्रधान हैं। इन में भी शीत-उष्ण इन दो अथवा शीत-उष्ण और गुरु-लघु इन चार का व्यवहार शास्त्र और लोक में विशेष करके होता है। जैसे महाभूत पाँच होने पर भी कभी-कभी उन्हें अग्नि और सोम (जल) इन दो के ही अन्तर्गत किया जाता है। वैसे पञ्चमहाभूतोत्पन्न गुण अनेक होने पर भी उन सब का समावेश अग्नि और सोम से उत्पन्न दो, चार या छः गुणों में ही किया जाता है।

मन्द-तीक्ष्ण (मन्द-आशु[1])

मन्दो यात्राकरः स्मृतः
व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥
विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ।
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ॥

सु० सू० ४६।५२२-२३

× × अखिलमिति अपक्व एवाखिलं देहं व्याप्नोति, पश्चान्मद्यविषवत् पाकं याति। × × विकसन् प्रसर्पन्। एवमिति अपक्व एव सकलं देहं व्याप्य। धातुबन्धान् विमोक्षयेत् धातुशैथिल्यं करोतीत्यर्थः। × × × ॥

—डह्लन

"जिस गुण के कारण द्रव्य अपनी सब क्रियाएँ अल्पता, शिथिलता और चिरकाल से करता है उसे मन्द कहते हैं। (इस के विपरीत) जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में उसी प्रकार

१—इस प्रकरण में मैंने गुणों के युग्म चरक के अनुसार तथा उन के

सत्वर फैल जाय जैसे पानी में तैल और अपनी क्रिया शीघ्र करे उसे आशु या आशुकारी (चरक के शब्दों में तीक्ष्ण) कहते हैं।"

आशु के ही दो भेद व्यवायी और विकासी हैं। इन के लक्षण निम्नोक्त हैं।

"जिस गुण के कारण द्रव्य पाक के पूर्व ही शरीर में प्रसृत हो जाय और पश्चात् पाक को प्राप्त हो, उसे व्यवायी कहते हैं। जिस गुण के कारण द्रव्य व्यवायी द्रव्य के समान अपकावस्था में ही शरीर में प्रथम व्याप्त हो और धातुओं को शिथिल (बन्धन-च्युत) करे उसे विकासी कहते हैं।"

लक्षण सुश्रुत और भावप्रकाश के अनुसार दिये हैं। सुश्रुत और भावमिश्रने मन्द का जो अर्थ दिया है वह यथार्थ ही है। परन्तु दोनों ने मन्द का विरोधी गुण आशु (या आशुकारी) दिया है। इस से सिद्ध है कि मन्द गुण विरोधी जिस गुण को चरक तीक्ष्ण नाम देता है वह सुश्रुत और भाव मिश्रका आशु गुण ही है। सुश्रुतने भी तीक्ष्ण गुण का उल्लेख किया है, पर वह पृथक् गुण है यह लक्षणों से स्पष्ट है। लोक में तीक्ष्ण शब्द सुश्रुतोक्त अर्थ में ही प्रचलित भी है। सुश्रुत ने तीक्ष्ण का विरोधी गुण 'मृदु' लिखा है। चरक में भी मृदु गुण आया है, पर सुश्रुतोक्त अर्थ में नहीं। चरक ने इसे कठिन—विरोधी गुण के रूप में लिखा है। गुणों का वर्णन मूल ग्रन्थों में पढ़ते हुए संहिताओं का यह शाब्दिक भेद स्मरण रखना चाहिये। इस के सिवाय, सुश्रुत ने मन्द विरोधी गुण 'वि.ासी, व्यवायी और आशुकारी' ये तीन दिये हैं। इन सब को आशुकारी का ही भेद मान लें तो—सुश्रुत ने गुणों की संख्या अनेक बार बीस लिख कर भी जो बाईस गुणों के नाम और लक्षण दिये हैं, उस का भी समाधान हो जाता है।

तीक्ष्ण का लक्षण सुश्रुतने निम्न दिया है

दाह पाक करस्तीक्ष्णः स्रावणो, मृदुरन्यथा ।।

सु० सू० ४६।५१८

तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत् ।।

भावप्रकाश, पूर्वखण्ड

"जिस गुण के कारण द्रव्य (सर्वाङ्ग अथवा एकांग में) दाह, पाक अथवा (व्रण, मलमार्गादिसे तत्-तत् द्रव द्रव्य का) स्राव उत्पन्न करे उसे तीक्ष्ण कहते हैं। इस गुण वाले द्रव्य प्रायः पित्त-कर, कफवातहर और लेखन[1] होते हैं।" तीक्ष्ण द्रव्य अग्निभूत की अधिकता वाले होते हैं। तीक्ष्ण के विपरीत दाह, पाक और स्राव को रोकने वाले द्रव्य मृदु कहाते हैं।" मृदु द्रव्य आकाश और जल की अधिकता वाले होते हैं[2]।

१—लेखन शब्द कायचिकित्सा और शल्यतन्त्र में दो, भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। कायचिकित्सा में 'लेखन' का अर्थ है ऐसे द्रव्य जो शरीर के रसादि धातुओं और मलों को विशेष कर मेद और कफ को सुखा कर बाहर निकाल देता है, परिणामतया शरीर को पतला करता है; उसे लेखन कहते हैं। देखिये—"धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्। लेखनं तद् यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ।। (शार्ङ्गधर, प्र० ख०, अ० ४)। लेखनं पत्तलीकरणम् ; लेखनं कफमेदसोः—क्रमशः सु० सू० ४६।५१९ (सु० सू० ४०।५ भी) तथा सु० सू० ४१।६ पर डल्हन। शल्यतन्त्र में उन द्रव्यों को लेखन कहते हैं जिन के द्वारा घर्षण करने से ऊँचे उठे हुए व्रण आदि खुरच दिये जायें।

२—चरक ने कठिन गुण के विरोधी गुण के रूप में मृदुगुण दिया है। उस का पुनः निर्देश आगे करेंगे।

तीक्ष्ण द्रव्यों में विभिन्न उग्रक्षार या अम्ल होते हैं, जो धातु-पाक की क्रिया को उद्दीपित कर के दाह, पाक आदि उत्पन्न करते हैं। धातुपाक की क्रिया बढ़ जाने से उष्णता में वृद्धि होती है। यह उष्णता नाड़ियों के प्रतानों (अन्तिम शाखाओं) के संपर्क में आती है तो दाह का अनुभव होता है। क्षार द्रव्यों के कारण कफ, मूत्र आदि के स्राव विशेष प्रमाण में होते हैं। चिकित्सा-कर्म में आवश्यक होने से इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है।

क्षार द्रव्यों का स्वभाव है कि ये जिस स्रोत में विद्यमान हों उस के आसपास की केशिकाओं में स्थित रक्त से जल का आकर्षण करते हैं। अंग्रेजी में इस क्रिया को 'ऑस्मोसिस'[1] कहते हैं। इसी विशिष्टता के कारण केवल स्थान भेद से क्षारों की भिन्न-भिन्न क्रिया होती है। यथा, क्षार-द्रव्य शुद्ध रूप में अथवा वनस्पतियों के अङ्ग-रूप में सेवन किये जा कर पक्वाशय में पहुँचते हैं तो वहाँ प्रभूत मात्रा में जल का आकर्षण करते हैं। अधिक मात्रा में जल की विद्यमानता का प्रभाव यह होता है कि, पक्वाशय इसे गुदमार्ग से बाहर निकालने का प्रयास करता है। इस प्रकार ये क्षारीय द्रव्य जलीय विरेचक द्रव्यों के रूप में क्रिया करते हैं।

शरीर में संचार करते हुए ये क्षार द्रव्य वृक्कों के मूत्र क्षरण करने (छानने) वाले स्रोतों में पहुँचते हैं तो वहाँ जल का विशेष

१—Osmosis.

आकर्षण करते हैं---दूसरे शब्दों में मूत्र का प्रमाण बढ़ा देते हैं। एवं मूत्रल द्रव्यों की क्रिया जल के आकर्षण का ही स्थानीय प्रकार है।

श्वासमार्ग में ये क्षार पहुँचते हैं तो वहाँ जल की मात्रा में बृद्धि कर देते हैं। जल की इस बृद्धिगत मात्रा को शरीर कास के रूप में निकालने का प्रयास करता है। इस कास द्वारा संचित कफ बाहर निकल जाता है। एवं ये क्षार द्रव्य कफहर औषध का कार्य करते हैं।

यही क्षार द्रव्य स्वेदग्रन्थियों में पहुंचते हैं तो उनमें जल की मात्रा बढ़ा देते हैं। इस अधिक जल को ये ग्रन्थियाँ स्वेद के रूप में बाहर निकाल देती हैं। यह स्वेद भी जलाकर्षण का ही परिणाम-विशेष है।

शुक्रजनक अवयवों में जल का आकर्षण होने का परिणाम यह होता है कि शुक्राशय में पूर्व सञ्चित पुंबीज इस जल के दबाव के कारण बाहर निकल आते हैं। यह स्थिति स्वप्रदोष आदि में हाती है।

व्रणों में भी क्षार द्रव्यों के सेवन से इसी प्रकार स्राव होता है। क्षारों की क्रिया से रक्तपित्त अर्थात् मुख, गुदा आदि से रक्त स्राव का अन्य भी कारण है और वह यह कि ये द्रव्य केशिकाओं की दीवालों के कोषों को खा जाते हैं, जिससे उनमें से रक्त का स्राव होता है।

तीक्ष्ण द्रव्यों की क्रिया का स्वरूप

तीक्ष्ण द्रव्य दाह, पाक और स्राव कराते हैं, यह सुश्रुतोक्त

लक्षण ऊपर देख आये हैं। तीक्ष्ण द्रव्यों की यह क्रिया आभ्यन्तर और बाह्य दोनों उपयोगों में होती है। ज्ञातव्य होने से इनके बाह्य उपयोग (लेपादि) होनेवाली क्रिया की आधुनिक मत से व्याख्या की जाती है।

अग्निस्वेद (सेक), उपनाह (पुलटिस) आदि अनेक विध स्वेदन आयुर्वेद, एलोपैथी आदि सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। अल्ट्रा-वायालेट, एक्स-रे आदि विभिन्न किरणों द्वारा सेक देने की पद्धति[1] अब और प्रचलित हो गयी है।

स्वेदों में अग्नि के प्रभाव से त्वचा और उसके नीचे के प्रदेश में स्थित केशिकाएँ विकसित होती हैं—फैलती हैं। उनके वकास के तारतम्य (न्यूनाधिकता) के अनुसार विभिन्न परिणाम होते हैं। कई औषधों का बाह्य प्रयोग भी त्वचा या श्लेष्म-कला पर स्वेदन के समान ही क्रिया किया करता है। कई द्रव्य मुख आदि द्वारा आभ्यन्तर सेवन किया जाने पर जब अपने-अपने प्रकृतिनियत मार्गों द्वारा बाहर निकलते हैं तो उन मार्गों से सम्बद्ध अङ्गों को क्षुभित करते हैं। इस प्रकार उनकी क्रिया वृक्क, त्वचा, श्वासप्रणाली आदि अवयवों पर होती है। परन्तु, तीक्ष्ण द्रव्यों का बाह्य उपयोग ही विशेष होता है।

तीक्ष्ण द्रव्यों के बाह्य उपयोग का एक अन्य भी प्रभाव होता है और वह यह कि, प्रतिसंक्रमित क्रिया[2] से ये अन्तर्वर्ती अङ्गों

१—Diathermy—डायाथर्मी। २—देखिये ऊपर।

में विद्यमान वेदना को दूर करते हैं। इन द्रव्यों को अंग्रेजी में 'काउण्टर इरिटेण्ट'[1] कहते हैं।

प्रभाव-भेद से तीक्ष्ण द्रव्यों के निम्न भेद हैं—

(क) दाहक[2]-इन द्रव्यों के उपयोगसे त्वचा लाल हो जाती है, केशिकाएँ विकसित होती हैं, वेदना मन्द होती अथवा दूर होती हैं तथा पाकजन्य विकारी द्रव्य शोषित होते हैं। तीक्ष्ण द्रव्यों का औषधार्थ उपयोग यह अवस्था उत्पन्न करने में ही प्रायः होता है। 'काउण्टर-इरिटेण्ट' द्रव्य इसी श्रेणी के हैं।

(ख) स्फोट-जनक[3]—द्रव्य अधिक तीक्ष्ण (क्षोभक) हो, किंवा उसकी क्रिया अधिक कालतक हो तो विकसित केशिकाओं से रस का स्राव होता है जो उदकधरा[4] के नीचे छाले के[5] रूप में सञ्चित होता है।

(ग) पूयजनक[6]—दौर्भाग्यवश द्रव्य और भी तीक्ष्ण, उष्ण हो या उसका संसर्ग सुचिरकाल तक हो, विशेषकर त्वचा की ग्रन्थियों से, तो छालों में पूय उत्पन्न होती है। पूययुक्त छालों को अंग्रेजी में 'पस्टयूल्स'[7] कहते हैं।

(घ) विघातक[8]—कर्म और भी तीक्ष्ण हो तो द्रव्य के संसर्ग में आये भाग का कोष-पुञ्ज[9] नष्ट हो जाता है। विभिन्न

१—Counter-irritant। २—Rubefacient रूबेफेशण्ट (शब्दार्थ–रक्तिमा-जनक)। ३—Vesicent—विसीकेण्ट। ४—Epidermis एपिडर्मिस, या cuticle—क्यूटिकल। ५—Blister—ब्लिस्टर। ६—Pustulant पस्ट्युलेण्ट। ७—Pustules. ८—Escharotic—एस्कैरोटिक, या Caustic—कास्टिक। ९—Tissue—टिश्यु।

तेजाब, दाहक सोडा, पोटाश, तुत्थ, सिल्वर नाइट्रेट आदि द्रव्य इस वर्ग के हैं।

काउण्टर-इरिटेण्ट

इन द्रव्यों का त्वचा पर उपयोग करने से अन्तर्वर्ती अवयवों की वेदना दूर होती है। संधि, पेशी या नाड़ी के पाक (शोथ) अथवा फुफ्फुसधरा[1] आदि में द्रव भरने की दशा में समीपवर्ती त्वचा में इनका लेप किया जाता है। परिणाम में, उस स्थान पर गर्मी और कुछ वेदना-सी होती है, ऊपर की केशिकाएँ विकसित होती हैं ; उस स्थान पर रक्त का संवहन उत्तम होता है, क्षत्र कण (श्वेत कण) प्रभूत मात्रा में वहाँ आते हैं, जोड़-तोड़ का कार्य वेग से होने लगता है ; परिणामतया वेदना भी प्रायः मन्द होती है। क्रिया की तीक्ष्णता के अनुसार दाह, स्फोट या पूय तीन में से कोई भी अवस्था हो सकती है। (आयुर्वेद में भी अनेक रोगों में तप्त धातु आदि से दाह (दाग) देने की पद्धति वर्णित है। कई स्थानों पर लोकों में यह प्रचलित भी है)। परन्तु इसमें विशेषता यह है कि, यह क्रिया कभी-कभी रोग के स्थान से बहुत दूर भी होती है ; यथा, विसूचिका में पार्ष्णि—एडी—का दाह। विभिन्न रोगों में पशुओं को भी दागा जाता है। अस्तु।

'काउण्टर-इरिटेण्ट' द्रव्यों की क्रिया का बहुसंमत कारण यह है कि त्वचा में स्थित संज्ञावह नाडी सूत्रों के प्रतान जिस नाडी-

१—Plura—प्लुरा।

द्वारा केन्द्र (मस्तिष्क) की ओर गति करते हैं, उसी नाडी द्वारा स्थानीय केशिकाओं को विकसित करनेवाले सूत्र नीचे उतरते हैं। परिणामतया, संज्ञावह नाडीसूत्र दाह की जिस संज्ञा को ऊपर ले जा रहे होते हैं उसे केशिका-विकासक सूत्र मध्य में ही ग्रहण कर उसका अपने ढङ्ग से अनुवाद कर लेते तथा केशिकाओं को विकसित कर देते हैं। इस विषय में अन्य भी कई वाद हैं।

उल्लिखित प्रक्रिया पेशी आदि ऊर्ध्ववर्ती अङ्गों में होती है। आमाशय, अन्त्र आदि अङ्गों में संज्ञावह नाड़ी सूत्र नहीं होते। उनमें 'काण्टर-इरिटेण्ट' द्रव्यों की क्रिया का प्रकार कुछ भिन्न होता है। इनमें स्वतन्त्र नाड़ी-सूत्र[1] व्याप्त होते हैं। ये नाडी-सूत्र सुषुम्णा-काण्ड के विभिन्न प्रदेशों[2] तक जाते हैं और वहीं समाप्त होते हैं। इन प्रदेशों में वे नाड़ी-सूत्र भी होते हैं जो आमाशय, अन्त्र-आदि गहराई में स्थित अङ्गों के ऊपर की त्वचा पेशी आदि की संज्ञा को केन्द्र (मस्तिष्क) की ओर ले जाते हैं, तथा मस्तिष्क द्वारा आदिष्ट चेष्टाओं के वेगों को त्वचा, पेशी आदि में पहुंचाते हैं। इन विभिन्न नाड़ी-सूत्रों की एक स्थान पर स्थिति का परिणाम यह होता है कि आमाशय अदि गहराई में स्थित अङ्गों में जब वेदनोत्पादक विक्रिया होती है तो इसकी सूचना स्वतन्त्र नाडी-सूत्रों द्वारा, सुषुम्णा-काण्ड में अपने समाप्ति-स्थल में स्थित उन संज्ञावह तथा चेष्टावह सूत्रों को मिलती है,

१—Autonomic—ऑटोनोमिक नर्व्स।
२—Segments—सेगमेण्ट्स।

जो विकारग्रस्त अङ्गों के ऊपर स्थित त्वचा, केशिका, पेशी आदि में व्याप्त होते हैं। नाडी-सूत्रों के इस परस्पर-सम्बन्ध के कारण आमाशय आदि में विद्यमान विकार से उत्पन्न वेदना का अनुभव ऊपर की त्वचा में होता है, एवं वहाँ की मांसपेशियाँ भी संकुचित होती हैं।

आमाशय आदि के विकार-ग्रस्त होने पर उक्त प्रकार से प्रतिसंक्रमित वेदना और क्रिया होती है। इन अङ्गों में विकार होने पर जब ऊपर की त्वचा पर 'काउण्टर-इरिटेण्ट' द्रव्य का व्यवहार किया जाता है तो तज्जन्य साक्षात् वेदना अत्यल्प होने पर भी प्रतिसंक्रमित वेदना का अनुभव लुप्त हो जाता है। साथ ही विकार को नष्ट करने के लिए रुग्ण अङ्ग में पोषक और रक्षक द्रव्यों की मात्रा तथा मरम्मत का कार्य भी किसी अलक्षित प्रकार से बढ़ जाता है।

सर्वाङ्ग में भी उपकारी परिणाम होते हैं। अपने केन्द्रों के उद्दीपित होने से हृदय की गति और श्वासोच्छ्वास के दर में वृद्धि होती है। अन्तरङ्गों की धमनियों का सङ्कोच होता है, जिससे रक्त के दबाव[१] में वृद्धि होती है, धातुपाक[२] प्रगुणित होता है, धातुओं का दहन (ओषजन के साथ मिल कर रासायनिक क्रिया द्वारा निज-निज कर्म करना[३]) अधिक प्रमाण में होता है

१—Blood-pressure—ब्लडप्रेशर।

२—Metabolism—मेटाबॉलिज्म।

३—Oxidation—ऑक्सिडेशन।

तथा नाइट्रोजन-युक्त मल विशेष मात्रा में बाहर निकलते हैं, त्वचा का ऊष्मा बढ़ता और आन्तरिक ऊष्मा घटता है, क्षत्र-कणों (श्वेत कणों[1]) की संख्या में वृद्धि होती है। सर्वाङ्ग के चैतन्य पर भी विशिष्ट प्रभाव होता है। इसी कारण मूर्च्छित या सम्मोहित[2] पुरुष की त्वचा को सहसा उत्तेजित करके उसे जगाया जा सकता है। विष आदि से उत्पन्न मूर्च्छा आदि में विभिन्न तीक्ष्ण नस्य, अञ्जन, दाह, सुँघाने की औषध, मुख पर ज़ोर से पानी के छींटे देना इत्यादि के प्रयोग से इसी प्रकार लुप्त चेतना पुनः स्थापित की जाती है। इसी प्रकार इन उपायों का उपयोग अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) से उत्पन्न मूर्च्छा में या बच्चों के आक्षेप रोग में पेशियों को शिथिल करने के लिए होता है। अपतन्त्रक और आक्षेप में सिर पर ठण्ढे पानी की धारा छोड़ना आशु फलदायी होता है।

मन्दता और आशुताके सामान्य कारण

द्रव्यों की मन्दता (चिरकारिता) और आशुकारिता के विषय में आधुनिकों का भी मन्तव्य है कि कई द्रव्य स्वभाव से ही मन्द होते हैं। उन्हें सिरा द्वारा[3] दिया जाय तो भी उनकी क्रिया शनैः होती है, यथा फिरंग रोग में आर्सिनोबेंज़ोल[4] नामक द्रव्यों की। तथापि द्रव्यों की मन्दता या आशुता के हेतुभूत

१—Leucocytes—ल्यूकोसाइट्स।
२—Narcotised—नार्कोटाइज्ड।
३—Intravenous—इण्ट्रावीनस।
४—Arsenobenzols।

कुछ स्थिर नियम हैं। सामान्यतः द्रव्य की मन्दता या आशुता इस बात पर अवलम्बित है कि उस के स्फटिक[१] बन सकते हैं या नहीं ? कारण, जिन द्रव्यों के स्फटिक बन सकते हैं वे जल आदि द्रव द्रव्यों में विलेय (घुलने वाले) होने से महास्रोत में से शीघ्र गुजर जाते हैं, रक्त में संचार करते हुए केशिकाओं से भी शीघ्र स्रुत होकर कोषों तक पहुँच सकते हैं ; कोष भी इन्हें शीघ्र ग्रहण कर सकते हैं। परिणामतया उन की क्रिया भी शीघ्र होना संभवहोता है।

अन्य कई द्रव्य हैं, जो वास्तव में घुलते नहीं, किन्तु द्रव-द्रव्य में उन के सूक्ष्म कण लटकते रहते हैं। ये कण यदि ०·१ माइक्रन[२] या उस से बड़े होंगे तो धीमे-धीमे नीचे बैठ जायेंगे। परन्तु यदि वे इस से छोटे और ०·००१ माइक्रन तक होंगे तो अपनी लघुता के कारण नीचे न बैठेंगे। इस प्रकार के द्रव्यों को कोलॉयड[३] कहते हैं। ये द्रव्य शरीर में जा कर धीमे-धीमे और सूक्ष्म—'आयन' रूप[४] हो जाते हैं। इन के आयन-रूप होने की

१—Crystals—क्रिस्टल्स।

२—Micron—एकमीटर का दस लाखवाँ भाग। मीटर (Meter)= ३९·३७ इञ्च। माइक्रन को 'म्यू' भी कहते हैं। इस का संकेताक्षर 'U' है।

३—Colloid।

४—विलेय द्रव्य जब शुष्क-अवस्था में होते हैं तो विद्युत् की दृष्टि से उदासीन (Nuutral— न्यूट्रल) होते हैं। परन्तु जब ये द्रव द्रव्य में विलीन हो जाते हैं तो दो सूक्ष्म भागों में विभक्त हो जाते हैं। इन में एक पर धन विद्युत् (Positive—पॉज़िटिव) का आवेश होता है और दूसरे पर ऋण विद्युत् (Negative—नेगेटिव) का ? इन विद्युदाविष्ट सूक्ष्म कणों को 'आयन' (Ion) कहते हैं। आयनों की बलवत्ता पर द्रव्यों की शक्ति अवलम्बित होती है।

क्रिया धीमे-धीमे होती है, अतः इन की क्रिया भी धीमे-धीमे होती है[1]।

कई रासायनिक द्रव्य, यथा कार्बनेट या लैक्टेट, स्वभाव से ही कम घुलते हैं, और शरीर में जा कर धीमे-धीमे रासायनिक क्रिया करते हैं, जिस से उन की औषधीय क्रिया विलम्ब से होती है। इस के विपरीत ग्लूकोनेट जैसे द्रव्य शीघ्र घुल जाते हैं और शीघ्र अपनी क्रिया करते हैं। एवं, समास (यौगिक) द्रव्य के स्वरूप पर भी उस की आशुता या मन्दता आश्रित है।

द्रव्य के कल्प के प्रकार पर भी उसकी मन्दता या आशुता आश्रित है। यह प्रसिद्ध है कि वटी से चूर्ण, चूर्ण से कल्क, कल्क से स्वरस या क्वाथ और उस की भी अपेक्षया आसवारिष्ट या टिंक्चर महास्रोत में शीघ्र आचूषित होते हैं अतः उन की क्रिया भी शीघ्र होती है।

कई द्रव्यों की प्रसरणशीलता[2] बहुत होती है। वे शीघ्र ही बहुत से स्थान में व्याप्त होने का सामर्थ्य रखते हैं, अतः उन की क्रिया भी सुतरां शीघ्र होती है। सोमल ऐसा ही द्रव्य है। कई द्रव्य मुख या आमाशय में ही शोषित कर लिये जाते हैं। ऐसे

१—आयुर्वेद में पिष्टि, भस्म आदि बनाते समय "मर्दनं गुणवर्धनम्" सूत्र पर बहुत भार दिया जाता है। उस का अर्थ यही है कि मर्दन (पेषण) या चूर्णीकरण (Trituration—ट्राइट्युरेशन) से औषध द्रव्य के कण सूक्ष्मतर हो जाते हैं।

२—Penetration—पेनीट्रेशन।

द्रव्यों की क्रिया भी उतनी ही शीघ्र होती है। यथा आहिफेन आमाशय में ही शोषित होने से वैसा आशुकारी होता है।

आमाशय की अवस्था पर भी द्रव्य की क्रिया एवं आशुता अवलम्बित है। भोजन खाने के पश्चात् औषध उतना शीघ्र गुण नहीं करता, जितना खाली पेट। खाली पेट लिया गया औषध तत्काल अन्त्रों में और वहाँ से शरीर में पहुँच जाते हैं[1]।

कब्ज की दशा में लोह दिया जाय तो उस का शोषण नहीं होता। अत: लोह एलुआ, त्रिफला आदि रेचक औषधों के साथ ही दिया जाता है।

द्रव्यों की आशुता या मन्दता में उन के सेवन का प्रकार भी एक कारण है। गुदमार्ग से लिये गये औषधकी अपेक्षया मुख-

---

१—"वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं, हन्यात् तदामयमसंशयमाशु चैव।
तद् बालवृद्धतरुणीमृदुभिश्च पीतं ग्लानिं परां नयति चाशु बलक्षयं च
सुश्रुत

अर्थात्, औषध यदि खाली पेट (अन्नहीन) लिया जाय तो वह अधिक वीर्यशाली होता है, रोग को 'शीघ्र' और निःसंशय नष्ट करता है। परन्तु इस विशेषता (तीव्रता) के कारण ही औषध द्रव्य बच्चों, वृद्धों, तरुण स्त्रियों और सुकुमारों को खाली पेट (निरन्न) न देना चाहिये। ये लोग खाली पेट औषध लेंगे तो अति ग्लानि और बलक्षय होगा।" भोजन किये बिना औषध और उस के काल को 'अभक्त' (भक्त=भोजन) कहते हैं। औषध-सेवन के अभक्त आदि दस प्रकार या काल हैं। इन का विवरण जानने के लिए देखिये—सु० उ० अ० ६४; अ० सं० सू० अ० २३; तथा वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य कृत **द्रव्य गुण विज्ञान** उत्तरार्ध, प्रथम खण्ड।

मार्ग से लिया गया औषध शीघ्र शोषित हो जाता है, अतः शीघ्र कार्य करता है। मुख मार्ग की अपेक्षया त्वचा या मांस द्वारा दिया और उस की भी अपेक्षया सिरा में ही दिया औषध शीघ्र गुणकारी होता है, परन्तु उस की क्रिया उतनी ही शीघ्र लुप्त भी हो जाती है।

औषधों की मन्दता और आशुकारिता अथवा वीर्यवत्ता के विषय में आयुर्वेद की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि— औषध सेवन के पूर्व शरीर को लंघनादि द्वारा निराम (आमरहित) कर देना चाहिये। निराम शरीर में ही औषध अपनी क्रिया निश्चित और शीघ्र करते हैं। इस विषय में योगशतककार वररुचि का यह पद्य वैद्यमात्र को कण्ठस्थ कर लेना चाहिये—

निरामदेहस्य हि भेषजानि भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि[1] ॥

स्थिर-सर

स्थिरो वातमलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः ॥

भा० पू० ख०

सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः ॥ सु० सू० अ० ४६।५२२

अनुलोमनो वातमल प्रवर्तनः ॥ —डल्हन

१—आम का आयुर्वेद संमत अर्थ तथा आधुनिक मत से उसकी व्याख्या जानने के लिए देखिये "शरीर क्रिया विज्ञान" पृ० ३७८-३७९। लङ्घन का भी अर्थ केवल अनशन नहीं है। इसका व्यापक अर्थ जाननेके लिए देखिये "शरीर क्रिया विज्ञान" पृ० ४४८, ४४९,

"जिस गुण के कारण आहार-द्रव्य वात और मल का स्तम्भन करें—उनको निम्न मार्ग से निकलने से रोकें वे उसे स्थिर कहते हैं। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य वात और मल की प्रवृत्ति (अधोमार्ग से गमन) करावें उसे सर[1] (चल) कहते हैं।"

मल-प्रवर्तक द्रव्यों की क्रिया का स्वरूप

मल-प्रवर्तक अर्थात् स्रंसक, रेचक, भेदक (प्रमाथी) द्रव्यों की क्रिया का स्वरूप आधुनिक मतानुसार जानना उपयोगी है। मलप्रवर्तक कई द्रव्य निःसार होने से आचूषित नहीं होते, अतः वे अन्त्रस्थ द्रव्य की मात्रा में वृद्धि कर देते हैं। इन द्रव्यों का दबाव अन्त्रोंपर पड़ता है, जिस से उनकी अपकर्षणी गति[2] उद्दीप्त होती है और मल-द्रव्य अधिक तीव्रगति से गुद मार्ग की दिशा में प्रवाहित होता है। ऐसे द्रव्यों में शाक-भाजी, चोकर आदि द्रव्य हैं, जिन के अन्दर विद्यमान रेशे निःसार होने से उल्लिखिति क्रिया करते हैं। ये रेशे जिस द्रव्य के बने हैं, उसे अंग्रेजी में 'सेल्युलोज़[3]' कहते हैं। प्रसिद्ध स्रंसक औषध, 'लिक्विड पैराफीन' भी इसी भाँति क्रिया करता है।

१—अष्टाङ्ग संग्रह तथा अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकारों ने स्थिर के विरोधी गुण को 'चल' नाम दिया है।

२—अपकर्षणी गति का अर्थ तथा इसके उद्दीपक कारण जानने के लिए देखिये "शरीर क्रिया विज्ञान" पृ० ७९, ३००-३०२।

३—cellulose

अनेक क्षार-द्रव्य स्वभावतः शीघ्र आचूषित नहीं होते। अन्त्रों में तथा अन्त्रों के चारों ओर स्थित रस और रक्त में क्षार द्रव्य और जल समान मात्रा में रहें इस उद्देश्य से जल की विपुल मात्रा चारों ओर से खिचकर अन्त्र में आती है। इसका दबाव अन्त्रों पर पड़ने से भी अपकर्षणी गति उद्बुद्ध होती है और मल की प्रवृत्ति होती है। मैगसल्फ आदि जलीय रेचक द्रव्य इसी कोटि के हैं।

कई द्रव्य आमाशय और अन्त्र की श्लेष्मकला के क्षोभक होते हैं। इन्हें कला अपने अन्दर धारण ही नहीं कर सकती। परिणाम तया इनके कारण भी अपकर्षणी गति उद्दीपित होती और मल-प्रवर्तन होता है। एरण्डतैल, गन्धक, रसपुष्प (कैलोमल) आदि विरेचक द्रव्य इसी कक्षा में हैं।

कई द्रव्य अन्त्रों के नियामक नाड़ी-केन्द्रों को उद्दीप्त करके अन्त्रों की गति को बढ़ाकर मल-प्रवर्तन करते हैं।

मल-प्रवर्तक द्रव्य कुछ-कुछ वात-प्रवर्तन भी करते हैं। परन्तु कई द्रव्य विशेषतः वात-प्रवर्तक[1] ही होते हैं, यथा हिंगु, सौवर्चल, कपूर आदि। इनकी क्रिया भी मल-प्रवर्तक द्रव्यों के समान अपकर्षणी गति की वृद्धि के कारण ही होती है। अजीर्ण के कारण अन्त्र में वात की वृद्धि से आध्मान होता है। इस वृद्धिंगत वायु को निकालने के लिए अन्त्रों का प्रबल आकुञ्चन

१—carminative—कार्मिनेटिव।

(संकोच) होता है, जिससे शूल[१] हाता है। वात-प्रवर्तक द्रव्य वायु की प्रवृत्ति करके इसे शान्त करते हैं। तीव्र विरेचन द्रव्यों के द्वारा भी कभी-कभी प्रवल आकुञ्चन होकर शूल होता है, जिसकी शान्ति वात-प्रवर्तन द्रव्यों से होती है। कटुकी, सनाय आदि शूल जनक (ऐंठा करने वाले) रेचक द्रव्यों के साथ सोंठ आदि वात-प्रवर्तक द्रव्यों की योजना का कारण इस व्याख्या से समझा जा सकता है।

स्थिर अथवा वात-मलस्तम्भक द्रव्यों की क्रिया सर द्रव्यों से सर्वथा विपरीत होती है। ये अतिसार में वृद्धिगत अपकर्षणी गति को नियन्त्रित करते हैं। ये द्रव्य अपनी क्रिया अपकर्षणी गतिको साक्षात् मन्द करके करते हैं। अथवा महास्रोतस् में होने-वाले पित्तों और कफों के स्राव को क्षीण करने के द्वारा परम्परा से अपकर्षणी गति को मन्द करके करते हैं। अहिफेन, सुधा[२] तथा चपल[३] के कल्प अपकर्षणी गति को साक्षात् मन्द करते हैं। कषायाम्ल[४] और मायाम्ल[५] युक्त खैर, बबूल आदि रूक्ष द्रव्य, लोह आदि अन्त्रों के स्रावों को क्षीण करते हैं[६]।

१—colic—कॉलिक।

२—Calcium—कैल्शियम।

३—Bismuth—विस्मथ।

४—Tannic acid—टैनिक ऍसिड।

५—Gallic acid—गैलिक ऍसिड।

६—अंग्रेजीमें स्रावों को क्षीण करने वाले इन द्रव्यो को Intestinal astringent इन्टेस्टाइनल एस्ट्रिंजेंट कहते हैं।

मृदु-कठिन[1]

यस्य द्रव्यस्य श्लथने कर्मणि शक्तिः स मृदुः ; दृढ़ने कठिनः ॥
अ० हृ० सू० १।१८ पर —हेमाद्रि

"जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर के एकाङ्ग या सर्वाङ्ग को (बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा) शिथिल करे उसे मृदु कहते हैं। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य एकाङ्ग या सर्वाङ्ग को (बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा) दृढ़ करे उसे कठिन कहते हैं।" (मृदु द्रव्यों में आकाश और जल के गुणों की अधिकता होती है तथा कठिनों में पृथिवी के गुणों की।)

मृदु द्रव्य नवीन मत से

आयुर्वेद में जिन द्रव्यों को मृदु माना गया है उनके विषय में यह नहीं कहा गया है कि वे बाह्य (स्थानीय) प्रयोग से ही त्वचा या श्लेष्म कला को मृदु बनाते हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि वे आभ्यन्तर प्रयोग से—अर्थात् खाये जाकर शरीर का अङ्ग बन जाने पर भी अवयवों को मृदु बनाते हैं। इसी प्रकार, उनका लेपादि के रूप में बाह्य उपयोग करने पर भी वे

१—चरक तथा दोनों वाग्भटों मृदु और कठिन परस्पर विरोधी गुण कहे हैं। सुश्रुत ने तीक्ष्ण का क्षार-स्वभावी लक्षण बताकर मृदु को उसका विरोधी लिखा है। हम यहाँ गुणों का निर्देश चरकानुसार कर रहे हैं। चरक ने तो कण्ठरव से गुणों का लक्षण नहीं दिया है, अतः तदनुयायी अष्टाङ्ग हृदय टीकाकार हेमाद्रि का दिया लक्षण देकर अन्त में सुश्रुतोक्त मृदु का लक्षण लिख दिया है।

त्वचा या श्लेष्मकला को मृदु बनाते हैं। परन्तु डाक्टरी निघ-ण्टुओं में जिन द्रव्यों को यह क्रिया बतायी गयी है उनमें कई का आभ्यन्तर प्रयोग करने पर अन्य कर्म भी होते हैं' परन्तु मृदुता उत्पन्न करने का कार्य बाह्य प्रयोग में ही होता है। इन द्रव्यों को 'इमोलिएण्ट[1]' कहते हैं। इनके अन्तर्गत विभिन्न स्नेह-द्रव्य हैं, जो त्वचा को मृदु करते हैं। तथा विकारी द्रव्यों से उस की रक्षा करते हैं। क्षत (व्रणयुक्त) त्वचा या कला पर ये एक लेप-सा बना देते हैं। क्षत त्वचा के अन्तर्गत विद्यमान अनावृत नाड़ी सूत्रों पर हुए इन के लेप के कारण संज्ञा, चेष्टा या प्रति-संक्रमित क्रिया के वेग मन्द पड़ जाते हैं। ये वेग मन्द हो जाने से ये द्रव्य वेदना को शान्त करते हैं। इस शामक[2] क्रिया के कारण त्वचा, मुख आदि के पाकों या व्रणों पर इनका उपयोग किया जाता है। अपने लेपक (अभिष्यन्दी) स्वभाव के कारण ही ये आवरक[3] का कार्य भी करते हैं—अर्थात् इन को व्रण पर लगाया जाय तो रोगजनक जीवाणुओं को व्रण के संसर्ग में आने से रोकते हैं। इस हेतु इन का उपयोग अकेले किंवा अन्य औषधों के साथ होता है।

बाह्य उपयोग में आने वाले औषधों का इनके साथ उपयोग

१—Emollient ; From L. emallire-soften. यह शब्द एक लैटिन शब्द से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ मृदु करना है।

२—Soothing—सूथिंग।

३—Protective—प्रोटेक्टिव।

करने का एक कारण है। जल या अन्य द्रव द्रव्य बाह्य त्वचा[1] द्वारा गृहीत (आत्मसात्-आचूषित-शोषित) नहीं होते। केवल स्वेद और मेद की ग्रन्थियों के द्वारा ही त्वचा औषध को ग्रहण कर सकती है। इन ग्रन्थियों के छिद्र (मुख) 'सी बम'[2] नामक स्नेह-द्रव्य से पूरित होते हैं। अतः स्नेह अथवा स्नेह द्रव्यों में विलेय (घुलने वाले) द्रव्य ही इनमें प्रविष्ट हो सकते हैं। ग्रन्थियों के स्रोतों[3] को बनाने वाले कोष इन द्रव्यों को आत्मसात् कर लेते हैं। इसी कारण त्वचा द्वारा जिन द्रव्यों की क्रिया कराना अभीष्ट होता है उन्हें विभिन्न स्नेहों में मिला कर-मलहम बना कर-उपयोग में लाते हैं।

स्नेह-द्रव्य त्वचा द्वारा ग्रहण किये जा कर शरीर में पहुंचने पर आहार का कार्य भी सिद्ध करते हैं।

बांदाम, तिल, बिनौला आदि के तेल, शूकर आदि की वसा, साबुन, मोम, पैराफीन (वेज़लीन भी पैराफीन का ही एक भेद है[4]), ग्लिसरीन—ये सब 'इमोलिएण्ट' द्रव्य हैं। इन द्रव्यों का

१—Stratum corneum—स्ट्रेटम कॉर्निअम।

२—Sebum.। यह मेद-ग्रन्थियों का स्राव है, जो त्वचा को चिकना रखता है।

३— Ducts—डक्ट्स।

४—वेज़लीन सुलभ और उसका व्यवहार सरल होने से वैद्यजन भी मरहम बनाने में इसका पुष्कल उपयोग करने लगे हैं। परन्तु, स्मरण रहे त्वचा द्वारा इसका ग्रहण (शोषण) अत्यल्प होता है। अतः, इसके द्वारा ऐसे द्रव्योंका मरहम न बनाना चाहिए जिनका त्वचा द्वारा ग्रहण अभीष्ट हो।

आभ्यन्तर प्रयोग भी होता है। मुख द्वारा ग्रहण करने पर इनका महास्रोत की कला पर शामक प्रभाव होता है, तथा तदन्तर्गत क्षोभ[1] दूर होता है। आमाशय या ग्रहणी में व्रण हो तो उस पर इनका वैसा ही शामक और आवरक कर्म होता है, जैसा त्वचा या श्लेष्म-कला में हुए व्रण पर व्यवहार करने से होता है। ये आमाशय के अम्ल रस के स्राव को घटाते हैं[2]। अधिक मात्रा में लेने से ये रेचक होते हैं। कई द्रव्यों का अकेले या अन्य द्रव्यों के साथ बस्ति, गुदवर्ति या फलवर्ति के रूप में उपयोग होता है।

मृदु-विरोधी कठिन द्रव्यों का उल्लेख डाक्टरी निघण्टु में पृथक् नहीं पाया जाता। हाँ, कषाय द्रव्यों की परिभाषा में कहा गया है कि वे कोषपुञ्जों को संकुचित करके तथा प्रोटीन को जमा करके उन्हें कठिन बनाते हैं। इनका वर्णन आगे विशद द्रव्यों के प्रसङ्ग में होगा[3]।

१—Irritation—इरिटेशन।

२—आयुर्वेद मत से इन मृदु द्रव्यों को शीत और उष्ण भेद से विभक्त करना चाहिए। घृत आदि शीत स्नेह विशेष शामक होते हैं। उधर, तिल आदि के उष्ण तैल अपनी उष्णता के कारण क्षोभजनक होते हैं। आयुर्वेद मत से उष्ण द्रव्य पित्त के उत्तेजक होने से उष्ण स्नेह आमाशय या ग्रहणी के पाक और व्रण में हितकारी नहीं हो सकते, उलटे उसे बढ़ाते हैं।

३—भावप्रकाश में मृदु का विरोधी गुण कठिन के स्थान पर कर्कश दिया है। सुश्रुत ने कर्कश को श्लक्ष्ण का विरोधी गुण कहा है, जिसे चरक ने खर कहा है। यह नाममात्र की भिन्नता है।

पिच्छिल-विशद

पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः ।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः ॥

सु० सू० ४६।५१७

जीवनः प्राणधारणः । संधानो भग्नस्य । विपरीतोऽस्मादिति असंधानोऽजीवनोऽश्लेपी च । क्लेदाचूषण आर्द्रीभावविनाशकरः ॥ —डह्लन

पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः ।
क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः ॥

भावप्रकाश, पूर्वखण्ड

यस्य द्रव्यस्य लेपने कर्मणि शक्तिः स पिच्छिलः ॥

अ० हृ० सू० १।१८ पर —हेमाद्रि

"जिस गुण के कारण द्रव्य प्राणों को धारण करने वाला[1],

१—प्राण—प्राण शब्द आयुर्वेद में विशेष अर्थ रखता है । "अग्नि अर्थात् पाँच प्रकार के पित्तों एवं सर्वधातुओं में स्थित ऊष्मा की मूलभूत शक्ति, जो वाणी की अधिष्ठात्री देवता भी है ; सोम—अर्थात् कफ, रस, शुक्र आदि जलभूत प्रधान शारीर द्रव्यों और रसनेन्द्रिय की मूलभूत शक्ति, जो मन की अधिष्ठात्री देवता भी है ; वायु—अर्थात् प्राण-अपान आदि पाँच ; सत्त्व-रज-तम ; पाँच ज्ञानेन्द्रिय और शुभाशुभ कर्मों से बद्ध कर्मपुरुष—इन बारह को प्राण कहते हैं । इन्हें प्राण इसलिए कहते हैं कि ये अपने-अपने प्राकृत कर्मों द्वारा जीवन या आयु को स्थिर रखते हैं ।

देखिये—अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः—सु० शा० ४।३ × × अग्निरत्र पाचक भ्राजकालोचकरञ्जकसाधकानां

बल्य, भग्न अस्थि को जोड़ने वाला, कफवर्धक, गुरु और तन्तुमान् (जिसके तार उठे, अथवा जिसके सेवन से शरीर में तार बँधें— जैसा कि रक्त के स्कन्दन में—जमने में होता है) हो, उसे पिच्छिल कहते हैं। इन द्रव्यों में (त्वचा, श्लेष्मकला आदि पर) लेप करने का स्वभाव होता है।" पिच्छिल द्रव्य जलभूत की प्रधानतावाले होते हैं।

"विशद गुण पिच्छिल से विपरीत कर्म करने वाला होता है। इसके कारण द्रव्य क्लेद (त्वचा, व्रण, शरीरावयव आदि में स्थित द्रवांश) का शोषण तथा व्रण का रोपण करनेवाला होता है।" विशद द्रव्यों में पृथ्वी तथा वायु के गुणों की अधिकता होती है।

पाञ्चभौतिकानां सर्वधात्वनुगानां चोष्मणां शक्तिरूपतयाऽवस्थितो वाचोऽधिदैवत्वमापन्नो बोद्धव्यः। श्लेष्मरसशुक्रादीनां तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य च शक्तिरूपतयाऽवस्थितो मनसोऽधिदैवत्वमापन्नः सोम इति। वायुः पञ्चात्मकः प्राणादिभेदेन। × × भूतात्मा शुभाशुभकर्मभिः परिगृहीतः कर्मपुरुषः। एते चाग्नीषोमादयः प्राणयन्ति जीवयन्तीति प्राणाः तत्राग्निस्तावदाहारपाकादिकर्मणा प्राणयति, सोमश्च सौम्यधातोरोजःप्रभृतेः पोषणेन, वायुश्च दोषधातुमलादीनां संचारेणोच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां च, सत्त्वं रजस्तमश्च मनोरूपतया परिणतं भूतात्मनः शरीरान्तरग्रहण मोक्षणे हेतुरिति तदपि प्राणयन्ति, पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि रूपादिग्रहणकर्मणा प्राणयन्ति, एवं भूतात्मा कर्मपुरुषोऽप्यशेषस्यैव कर्मराशेश्चेतनाहेतुरिति प्राणयति।" —डह्लन

अग्नि आदि के प्राणधारक कर्म टीकाकार ने दिये हैं। ये कर्म प्रसिद्ध होने से तथा टीकाकार के एतद्विषयक शब्द स्पष्ट होने से अर्थ में मैंने ये कर्म नहीं बताये हैं।

पिच्छिल द्रव्यों की एक विशेषता यह है कि वे त्वचा या श्लेष्म-कला पर लेप-सा कर लेते हैं, एक मात्र यह कर्म करनेवाले द्रव्यों को 'अभिष्यन्दी' यह विशेष नाम दिया गया है। अभिष्यन्दी द्रव्यों का शास्त्रसंमत अर्थ निम्न है।

अभिष्यन्दी-अनभिष्यन्दी

पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः।
धत्ते यद् गौरवं तत् स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥

शारङ्गधर-प्रथमखण्ड, अ० ४

×× गौरवाद् गुरु-गुणयोगात् गुरुपाकस्वभावाद्वा॥ —आढमल्ल

हृदयस्थान्ननिर्यास वाहिस्रोतोमुखानि यत्।
भुक्तं लिम्पति पैच्छिल्यादभिष्यन्दि तदुच्यते॥
वैशद्यात् कफहन्तृत्वात् तान्येव विवृणोति यत्।
तदुक्तमनभिष्यन्दि द्रव्यं द्रव्यविशारदैः॥

सु० सू० ४६।१२५ पर डह्लन-धृत तन्त्रान्तर-वचन

अभिष्यन्दि दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम्॥

सु० सू० ४६।५१ पर —डह्लन

"जो द्रव्य अपनी पिच्छिलता (चिपचिपापन, लेस, तन्तुमत्ता) एवं गुरुता (बृंहण स्वभाव अथवा गुरु पाक) के कारण अन्नरस को अन्त्रों से हृदय में ले जाने वाले स्रोतों के छिद्रों को लिप्त तथा अवरुद्ध कर के शरीर में गौरव उत्पन्न करें और शरीर के अन्तर्गत दोष, धातु और मलका वहन करने वाले स्रोतों में क्लेद (आर्द्रता)

उपस्थिति करें उन्हें अभिष्यन्दी कहते हैं; यथा ताजा दही। इसके विपरीत जो द्रव्य अपनी विशदता और कफनाशक स्वभाव के कारण इन्हीं स्रोतों के मुखों को खोल दें, उन्हें अनभिष्यन्दी कहते हैं।

अभिष्यन्दी द्रव्यों की क्रिया—नवीन मत से

अभिष्यन्दी द्रव्यों की तुलना आधुनिकों के 'डिमल्सेंट'[1] द्रव्यों से की जा सकती है। ये द्रव्य श्लेष्म-कला पर अपनी पिच्छिलता के कारण एक लेप[2] सा कर देते हैं। इस से विकारी द्रव्य कला के संपर्क में नहीं आ पाते, अतः उसे क्षुभित नहीं करते और पाक (शोथ[3]) को बढ़ने से रोकते हैं। नाड़ी-सूत्रों के अन्तिम प्रतानों पर इन के लेप के कारण संज्ञा, चेष्टा और प्रतिसंक्रमित क्रिया के वेग मन्द हो जाते हैं और कला पर शामक (क्षोभ-वेदनाहर) प्रभाव होता है। अतः मुख, गल, आमाशय तथा अन्त्रों के पाकों तथा क्षोभक विषों में इन का उपयोग होता है। इन के लेप के कारण पक्व द्रव्यों का शोषण कम होता है, अतः आँतों में स्थित द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होती है। इस द्रव्य का दबाव अन्त्र की कला पर पड़ता है, जिससे उनकी

१—Demulcent, From L. De, mulcere, to soothe. यह शब्द एक लेटिन धातु से बना है, जिसका अर्थ आह्लादन (शमन) है।

२—Viscid and cohesive colloidal coating—चिपचिपा और चिपकने वाला अविलेय आवरण।

३—Inflammation—इन्फ्लेमेशन।

अनुलोमनी गति[1] में वृद्धि होती तथा मलोत्सर्ग होता है और मल बन्ध हो तो दूर होता है। बबूल की गोंद, कतीरा, ट्रैगेकैन्थ[2] नामक गोंद, मधुयष्टी, तिल, मैदा, और ईसबगोल 'डिमल्सेण्ट' द्रव्यों के उदाहरण हैं। पिच्छिलता के कारण इनका उपयोग बटिका बनाने में भी होता है। प्रवाहिका में इनका उपयोग प्रसिद्ध है।

आयुर्वेद-मत से अभिष्यन्दी द्रव्य अन्त्रों के सिवाय शरीरान्तर्गत अन्य स्रोतों पर भी लेपन क्रिया करते हैं। इनके इस कार्य की नव्य मत से व्याख्या दुर्घट है[3]।

पिच्छिल द्रव्य जल महाभूत की प्रधानतावाले होते हैं अतः स्निग्ध और गुरु द्रव्यों के सदृश प्राणधारण, बल्य और कफवर्धक होते हैं। गूगल, सरेस, हीराबोल आदि पिच्छिल द्रव्यों के या अन्य द्रव्यों के योग से जो लेप बनते हैं वे भग्न-अस्थि के संधान में उपयोगी होते हैं।

विशद द्रव्यों की व्याख्या

पिच्छिल के विरोधी गुण को विशद कहते हैं। इसकी विशेषता क्लेद अथवा आर्द्रता को नष्ट करके व्रणों का रोपण

१—Peristalsis—पेरिस्टाल्सिस। २—Tragacanth।

३·—शार्ङ्गधर ने अभिष्यन्दी द्रव्यों के लक्षण में रस वह सिराओं का अवरोध ये शब्द दिये हैं। इन सिराओं का अर्थ यदि महास्रोत में स्थित अन्न रस को ग्रहण करनेवाले स्रोत (केशिकाएँ) तथा रसवह अङ्कुर—villi—लें तो आधुनिक मत से पूरा मेल बैठता है। परन्तु सर्वशरीर में रस (Plasma—प्लाज़्मा तथा Lymph) पहुँचानेवाले स्रोत धमनी, केशिका, सिरा, रसायनी, लें तो नव्य मत से समाधान कठिन है।

करना है। इनकी तुलना डाक्टरी निघण्टु के 'एस्ट्रिंजेंट'[१] द्रव्यों से की जा सकती है। ये द्रव्य कोशपुंजों[२] के ऊपरी स्तर को सिकोड़ते हैं, तथा उनके अन्दर स्थित प्रोटीन को जमा कर[३] उन्हें सुखाते और कठिन बनाते हैं। इस प्रकार ये द्रव्य आयुर्वेद-मत से कठिन भी कहे जा सकते हैं।

'एस्ट्रिजेण्ट' द्रव्यों के तीन वर्ग बनाये गये हैं--(१) स्थावर या प्राणिजन्य 'एस्ट्रिजेण्ट'। इनमें 'कषायाम्ल'[४] होता है, और उसी के कारण इनकी क्रिया होती है। माजूफल, बबूल, खैर, काकड़ासींग, बिल, हरड़, बहेड़ा, आमला आदि कषाय रस द्रव्यों में 'कषायाम्ल' होता है। कई द्रव्यों में कषायाम्ल के अतिरिक्त अन्य भी क्रियाशील तत्त्व होते हैं। (२) निरिन्द्रिय अथवा खनिज 'एस्ट्रिजेण्ट'। इनके अतिरिक्त कैल्शियस, सीसक, यशद, रजत ताम्र, अयस, एलुमीनियम और विस्मथ के योगों तथा तेजाबों का समावेश है। (३) सान्द्र-मद्य।

कषायाम्ल-युक्त द्रव्यों का मुख, गल, योनि, मूत्रप्रसेक और गुदा के पाकों में कुल्ले, बटी आदि के रूप में पुष्कल उपयोग होता है। स्वयं कषायाम्ल के कल्पों का अग्निदग्ध में प्रायः लेप किया जाता है।

१—Astringent ; L. Stringere. यह शब्द एक लैटिन शब्द से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ बाँधना अथवा निकट लाना है।

२—Tissues—टिश्यूज़।

३—Coagulation of Protin—को एग्युलेशन ऑफ़ प्रोटीन।

४—Tannic acid—टैनिक एसिड।

इससे जमी हुई प्रोटीन का आवरण-सा हो जाता है, जिसके नीचे व्रण का रोपण होता रहता है। जमी हुई प्रोटीन छोटी-छोटी केशिकाओं के मुख को अवरुद्ध कर देती है, जिससे ये द्रव्य रक्तस्तम्भक भी होते हैं। स्रावी ग्रन्थियों के स्राव भी इन द्रव्यों के कारण अल्प हो जाते हैं, जिससे क्लेद कम होता है। मुख द्वारा लिये जाने पर आमाशय और दोनों अन्त्रों की कला की प्रोटीन को भी यह जमा देती है। इसके आवरण का प्रभाव यह होता है कि ग्रन्थियों के स्राव और अपकर्षणी गति मन्द हो जाती है, जिससे अन्त्रों को अन्नपानगत जल के शोषण का प्रचुर अवकाश मिलता है। इस प्रकार ये द्रव्य मल के विबन्ध का कार्य करते हैं। वैद्यक में मल के बन्धन का कार्य स्थिर द्रव्यों का बताया है।

निरिन्द्रि एस्ट्रिजेण्ट द्रव्यों की क्रिया भी इसी प्रकार होती है।

एस्ट्रिंजेण्ट द्रव्यों की क्रिया से जमी हुई प्रोटीन के आवरण के कारण व्रणों पर बाहर के पूयजनक जीवाणुओं का आक्रमण नहीं हो पाता, अतः व्रण सरलता से भर आता है। क्लेद के नष्ट होने से जीवाणुओं की क्रिया ; यों भी मन्द होती है ; कारण, क्लेद जीवाणुओं की अभिवृद्धि के लिये अत्यन्त अनुकूल होता है।

श्लक्ष्ण-खर (श्लक्ष्ण-कर्कश)

श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा ॥

सु० सू० ४६।५२१

यस्य द्रव्यस्य रोपणे शक्तिः स श्लक्ष्णः। लेखने खरः॥

अ० हृ० सू० ११।१८ पर—**हेमाद्रि**

श्लक्ष्णः स्नेहं विनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कणः॥

भावप्रकाश, पूर्वखण्ड

"श्लक्ष्ण गुण पिच्छिल के समान ही कर्म करनेवाला है। भेद केवल यह है कि पिच्छिल द्रव्य स्निग्ध होता है और श्लक्ष्ण द्रव्य (पॉलिश किये हुए मणि, काष्ठ आदि के समान) स्नेह-रहित और कठिन होता हुआ भी चिकना होता है। (अर्थात् आभ्यन्तर या बाह्य सेवन करने पर अवयवों में चिक्कणता—मसृणता—उत्पन्न करता है)। श्लक्ष्ण द्रव्य रोपण होता है। खर या कर्कश द्रव्य विशद के समान ही होता है। यह अपने खरत्व गुण के कारण व्रण आदि के उभरे हुए भाग के लेखन (छीलने) का कार्य करता है।"

तीक्ष्ण या कषाय (एस्ट्रिंजेण्ट) द्रव्य जब व्रण के सम्पर्क में आते हैं तो उसकी प्रोटीन को पृथक् करके जमा देते हैं। इस प्रकार प्रोटीन का नया यौगिक (समास) बनता है जो अपने मूल अवयव से जुदा हो जाता है, इस प्रकार व्रण, नेत्राभिष्यन्द आदि में उभरे हुए भाग की ऊपर की स्तर च्युत हो जाने से लेखन-क्रिया होती है।

सूक्ष्म-स्थूल

सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतः स्वनुसरः स्मृतः॥

सु० सू० ४६।५२४

स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ।
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु,विशेद् यत् सूक्ष्ममुच्यते ॥

भावप्रकाश, पूर्वखण्ड

यस्य द्रव्यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः संवरणे स्थूलः ॥

अ० हृ० सू० अ० १।१८ पर—हेमाद्रि

"जिस गुण के कारण द्रव्य सूक्ष्म (बारीक) स्रोतों में भी प्रविष्ट हो जाता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। इन द्रव्यों में स्रोतों के विवरण को विस्तृत करने का सामर्थ्य होता है। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य स्रोतों को अवरुद्ध करे (और द्रव्य को उनमें प्रविष्ट हो कर अपना कर्म करने से रोके) उसे स्थूल कहते हैं।

द्रव्यों का पारगमन

प्राचीन संहिताओं में स्रोत शब्द अन्न, मल, मूत्र, रस, रक्त आदि का वहन करने वाली प्रणालिओंके लिये प्रयुक्त हुआ है। केशिकाएँ[1], मूत्र निर्माण करने वाली प्रणालिकाएँ[2] तथा विभिन्न अन्तःस्राव उत्पन्न करने वाली नलिकाएँ सूक्ष्म स्रोतों के उदाहरण हैं। स्रोत शब्द से इस प्रकरण में स्रोतों को बनाने वाले कोषों[3] का भी ग्रहण करना चाहिये। स्रोतों तथा उनके कोषों में द्रव्य के प्रवेश के कुछ प्राकृतिक नियम हैं। इनमें मुख्य नियम है

१—Capillaries—केपीलरीज़।

२—Renal tubules—रीनल ट्यु ब्युल्स।

३—Cells—सेल्स।

प्रीति अथवा पसंदगी[1]। स्वास्थावस्था में मूत्र निर्माण करनेवाले कोष रक्त से अमुक ही द्रव्यों का ग्रहण करते हैं; अन्त्रों के रस को ग्रहण करनेवाले स्रोत अमुक ही द्रव्यों का शोषण (ग्रहण) करते हैं; फुप्फुस के वातवह स्रोत[2] अमुक ही द्रव्यों को ग्रहण करते हैं। ये तथा अन्य अवयवों के कोष और स्रोत अपने अभीष्ट द्रव्य को ही ग्रहण करते हैं—अपने अन्दर प्रविष्ट होने देते हैं, अन्य को नहीं। इसी बात पर उनके विभिन्न कर्म—मूत्र निर्माण, रक्त शुद्धि आदि—आश्रित हैं।

विभिन्न कोषों में द्रव्य के प्रवेश के लिये यह आवश्यक है कि पदार्थ पूर्णतया द्राव्य[3] हो अथवा उसके अति सूक्ष्म कण द्रव्य वस्तु में अवलम्बित (अधर लटकते हुए) हों। उभय द्रव्यों का निर्देश पहले कर आये हैं। प्रथम प्रकार के द्रव्य स्फटिकमय[4] तथा दूसरे कोलॉयड[5] कहाते हैं। दोनों प्रकार के घोलों के कोषों के आर-पार जाने की क्रिया के दो भेद हैं। (१) द्रव्य और उसमें घुला हुआ पदार्थ दोनों पूर्णतया आर-पार चले जायँ। इसे निर्गलन (छनना[6]) कहते हैं। (२) घोल पूर्णतया दूसरी ओर (कोषों के भीतर अथवा स्रोतों के आर-पार) नहीं जा सकता। इसके भी दो उपभेद हैं। (क) डायालिसिस[7]

१—Affinity—एफिनिटी; या Selectivity—सिलेक्टिविटी।
२—Air-cells—एअर सेल्स; या Alveoli—एलविओ लाई।
३—Soluble—सोल्युबल। ४—Crystalloid—क्रिस्टलॉयड।
५—Colloid—कोलॉयड। ६—Filtration—फिल्ट्रेशन।
७—Dialysis.

इस घोल में स्थित कोई घनपदार्थ आर-पार जाने का सामर्थ्य रखता है। (ख) केवल जल दूसरी ओर जा सकता है। इस क्रिया को ऑज़्मोसिस[1] कहते हैं। इसका विवरण ऊपर कर आये हैं। इसमें वस्तु स्थिति यह होती है कि दूसरी ओर यथा कोष के बाहर स्थित पदार्थ की अन्तःप्रवेश की शक्ति न्यून हो तो, अन्दर-बाहर द्रव्यों का प्रमाण सम रहे इस दृष्टिसे जल आसपास से खिंच कर बाहर जाता है।

स्रोतों में द्रव्य का प्रवाह ठीक रहे इसके लिये पर्याप्त द्रवत्व (जल की अपेक्षित मात्रा) आवश्यक है। महास्रोतस् में अन्न और मल का प्रवाह, रस-रक्तवह स्रोतों में रस-रक्त का प्रवाह, मूत्र का निर्माण और वहन द्रवत्व की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है।

त्वचा में जल और अन्य द्रवों अथवा उनमें घुले हुए द्रव्यों का प्रवेश सम्भव नहीं। त्वचा में केवल मेद और स्वेद की ग्रन्थियों द्वारा ही द्रव्यों का प्रवेश सम्भव है। वे द्रव्य भी स्नेह जातीय होने चाहिये। इसी कारण घृत, तैल आदि में लेप बनाये जाते हैं।

कोषों द्वारा द्रव्यों के ग्रहण और स्रोतों में प्रवाह का नियामक एक अन्य कारण द्रव्य की पिच्छिलता[2] है। जल सुगमता से कोषों के आर-पार और स्रोतों में फिर सकता है। दूध आदि पिच्छिल पदार्थ इस प्रकार शीघ्र संचार नहीं कर

१—Osmosis.

२—Viscosity—विस्कोसिटी।

सकते। कारण, ऐसे पदार्थों के पिच्छिल कण एक-दूसरे को आगे जाने से रोकते हैं। रक्त कणों की पिच्छिलता जल की अपेक्षया पांच गुणा होती है। ब्लड-प्रेशर की वृद्धि[1] में एक कारण रक्त कणों की और उनके कारण रक्त की पिच्छिलता है। इसमें होता है यह कि रक्त पर पीछे की ओर से तो दबाव पड़ता रहता है पर अपनी पिच्छिलता और रक्तवाहिनी के विस्तार की अल्पता के कारण वह उतना आगे नहीं बढ़ सकता। वृक्कों के कई रोगों में भी यह दशा होती है।

सान्द्र-द्रव (शुष्क द्रव)

द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः ॥

सु० सू० ४६।५२०

प्रक्लेदन आर्द्रभावकरः। बन्धकारक उपचयकारक इत्यर्थः ॥

—डल्हन

द्रवः प्रक्लेदनो व्यापी शुष्कः स्याद् बन्धकारकः ॥

डल्हननिर्दिष्ट पाठन्तर

शुष्को गुणः बन्धकारकः, शुष्कस्य शोषणत्वेनावयवपृथक्त्वमित्यर्थः ॥

—डल्हन

द्रवः क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतकः ॥

—भावप्रकाश, पूर्वखण्ड

१—Hyper-piesis—हाइपर-पायेसिस ; या High blood-pressure—हाई ब्लड प्रेशर।

"जिस गुण के कारण द्रव्य शरीर में आर्द्रता उत्पन्न करे और सर्वत्र व्याप्त होने की प्रवृत्ति रखे उसे द्रव कहते हैं। इसके विपरीत जिस गुण के कारण द्रव्य अवयवों में शुष्कता अर्थात् आर्द्रता को दूर करके अवयवों की पृथक्ता उत्पन्न करे, उसे शुष्क या सान्द्र कहते हैं। सान्द्र द्रव्य स्थूल (स्रोतों में प्रवेश की न्यून शक्ति वाला) तथा शरीर का पोषक होता है[1]।"

जिन द्रव्यों में सामान्यतः जल की अधिकता हो वे द्रव होते हैं। जल की अधिकता के कारण द्रव्य स्थूल तथा सूक्ष्म स्रोतों में सुगमता से प्रविष्ट हो सकते तथा संचार कर सकते हैं, इस विषय का विवरण ऊपर कर आये हैं। इस वर्ग में उन द्रव्यों की भी गणना कर लेनी चाहिये जो प्रत्यक्षतः शुष्क होते हैं, परन्तु ऑज़्मोसिस द्वारा अपने आसपास के अवयवों से स्रोत में जल का आकर्षण करते हैं। ऑज़्मोसिस का वर्णन भी ऊपर किया गया है।

वीर्य

वीर्य-गुणों के ही एक प्रकार का नाम है। अतः उनका संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है।

१—सुश्रुत की उपलब्ध प्रति में द्रव का विपरीत गुण सान्द्र कहा है। परन्तु डह्लन-निर्दिष्ट पाठान्तर में तथा भावप्रकाश में द्रव का विपरीत गुण शुष्क कहा है। मैं समझता हूं, मूलोक्त 'बन्धकारकः' का अर्थ स्रोतोविबन्ध-कारक अर्थात् स्रोतों का अवरोध करने वाला यह है। स्थूल विशेषण से तथा द्रववैपरीत्य से यही अर्थ सूचित है। टीकाकार के अर्थ ऊपर दिये हैं।

गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथाः गुणाः ।
परसामर्थ्य हीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः ॥

अ० सं० सू० अ० १७

पूर्वोक्ता गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा वीर्यशब्दवाच्याः ; यदा तूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वादिविशिष्टा द्वादश गुणास्ते स्वभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः, ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्त इति ॥

—इन्दु

"गुरु-लघु आदि जिन बीस गुणों का उल्लेख ऊपर किया है उनमें प्रथम आठ अर्थात्—गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मृदु-तीक्ष्ण—जब विशेष क्रिया-शक्ति से युक्त होते हैं तो इन्हें वीर्य यह विशेष संज्ञा दी जाती है। ये आठ गुण साधारण क्रिया-शक्ति वाले होते हैं तो इन्हें गुण यह सामान्य नाम ही दिया जाता है। गुरु-लघु आदि से भिन्न स्थिर-सर आदि शेष बारह गुणों को सर्वदैव गुण कहा जाता है।"

कई आचार्य इन आठ वीर्यों का अन्तर्भाव शीत-उष्ण इन दो वीर्यों में ही करते हैं।

तीन विपाकों अथवा निष्ठापाकों का निर्देश उनके विभिन्न रसों के नामानुसार होता है। इन तीन विपाकों का पुनः वर्गीकरण गुरुविपाक और लघुविपाक इन दो वर्गों के रूप में किया जाता है। जिस विपाक में गुरु द्रव्यों के सदृश गुण-कर्म होते

हैं उसे गुरु तथा जिसमें लघु द्रव्यों के समान गुण-कर्म होते हैं उसे लघु कहते हैं। इन विषयों का विस्तार द्रव्यगुणविज्ञान के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

पर आदि सामान्य गुण

चिकित्सा शास्त्र में जिन गुरु-लघु आदि गुणों का विशेष व्यवहार होता है उनका उल्लेख हुआ। अब थोड़े में पर आदि दस गुणों का भी परिचय प्राप्त कर लें। "चिकित्सा के लिये इनका भी ज्ञान आवश्यक है।"

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाज्ञेयाः परादयः।
सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान्प्रचक्ष्महे ॥
देशकालवयोमान पाकवीर्यरसादिषु।
परापरत्वे, युक्तिश्च योजना या तु युज्यते ॥
संख्या स्याद् गणितं, योगः सह संयोग उच्यते।
द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैक कर्मजोऽनित्य एव च ॥
विभागस्तु विभक्तिः स्याद् वियोगो भागशो ग्रहः।
पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ॥

परिमाणं पुनर्मानं, संस्कारः करणं मतम् ।
भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सतत क्रिया ॥
इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः ।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते ॥

च० सू० २६।२९-३५

× × × आदिग्रहणात् प्रकृतिबलादीनां ग्रहणम् × × × युक्तिश्चेत्यादौ योजना दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना । × × × करणं गुणान्तराधायकत्वं संस्करणमित्यर्थः, यद् वक्ष्यति—"संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते (च० वि० १।२६)। × × × —चक्रपाणि

परत्व-अपरत्व

"परत्व का अर्थ है श्रेष्ठत्व और अपरत्व का अर्थ है निकृष्टत्व (ये दोनों गुण परस्पर सापेक्ष हैं)। इन दोनों का व्यवहार देश, काल, वय, परिमाण, विपाक, वीर्य, रस, प्रकृति, बल आदि के उत्कृष्टत्व-निकृष्टत्व के निर्देश के लिये होता है। यथा, मरु देश (स्वास्थ्य आदि के लिये श्रेष्ठ होने से) पर है, अनूप अपर, (आरोग्य, बल आदि का वर्धक होने से) विसर्गकाल पर है, आदान अपर ; तरुण वय पर है, बाल्य और वृद्ध अपर ; विपाक, वीर्य और रस जो जिसके लिये अनुकूल हों वे उसके लिये पर हैं, शेष अपर।"

युक्ति (योजना)

"दोष, (देश, प्रकृति, काल, बल) आदि को लक्ष्य में रखकर

औषध (और आहार-विहार) का यथायोग्य निर्णय और निर्देश किया जाता है उसे युक्ति या योजना कहते हैं[१] ।"

संख्या

"एक, दो, तीन, आदि शब्दों से जिस गुण (विशिष्टता) का बोध होता है, उसे संख्या कहते हैं ।"

संयोग

"दो या अधिक द्रव्यों के परस्पर योग को संयोग कहते हैं ।" प्रकृति अथवा रोग-विशेष की उत्पत्ति में दो दोषों के संयोग को शास्त्र में संसर्ग यह विशेष नाम दिया गया है। तीन दोषों के संयोग को संनिपात कहते हैं ।

विभाग

"जिस गुण के कारण दो या अधिक द्रव्यों के विषय में यह बुद्धि हो कि वे संयुक्त नहीं हैं, उसे विभाग कहते हैं ।"

पृथक्त्व

"जिस गुण के कारण दो या अधिक द्रव्यों के विषय में यह प्रतीति हो कि वे एक दूसरे से भिन्न और पृथक् हैं उसे पृथक्त्व कहते हैं[२] ।"

१—प्रश्न आदि के द्वारा रोगी के संबन्ध में ज्ञातव्य बातों को मालूम करके उन्हें लिपिबद्ध करने को Case-taking—केस-टेकिंग—और तदनुसार योजना को Prescription—प्रिस्क्रिप्शन—कहते हैं ।

२—संयोगऔर पृथक्त्व के मूलोक्त भेद अनावश्यक होने से नहीं दिये हैं ।

परिमाण

"जिस गुण को माप और तोल के विभिन्न साधनों से जाना जाता है उसे परिमाण कहते हैं।" प्राचीन-अर्वाचीन विभिन्न मान 'द्रव्यगुणविज्ञान' में देखने चाहिये।

संस्कार —

"औषध या आहार तय्यार करने में धोना, कूटना, भावना देना इत्यादि प्रक्रियाओं के द्वारा जो द्रव्य में अन्य गुण की उत्पत्ति होती है, उसे करण या संस्कार कहते हैं[1]। संस्कार-वश द्रव्यों में जो नवीन गुणों की उत्पत्ति होती है उसे ही ध्यान में रखकर गुरु आदि गुणों और वीर्यों के दो भेद किये जाते हैं— सहज (स्वाभाविक) और कृत्रिम (प्रयत्नोत्पादित)। देखिये—

एतच्च वीर्यं सहजं कृत्रिमं च ज्ञेयम्—च० सू० २६।६६—**चक्रपाणि**

तत्राद्यं माषाणां गौरवं मुद्गानां लाघवमित्यादि, कृत्रिमं तु लाजादीनां लघुत्वमित्यर्थः। —**शिवदास सेन**

अभ्यास

"पदार्थोंका बार-बार सेवन करना अभ्यास कहाता है।"

१—संस्कार और संयोग के विषय में विशेष जानने के लिए देखिये चरक-वचन—करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते : गुणास्तोयाग्निसंनिकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते। संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः। स विशेषमारभते, यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते ; तद्यथा—मधुसर्पिषोर्मधुमत्स्यपयसां च संयोगः॥ च० वि० १।२६-२७

इस प्रकार गुणों के निरूपण के प्रकरण में हमने गुरु आदि बीस तथा परादि दस गुणों का लक्षण दिया। इच्छा-द्वेष आदि अध्यात्म-गुणों के विषय में विशेष वक्तव्य नहीं है। यों बुद्धि आदि के संबन्ध में आयुर्वेद-मत से ज्ञातव्य कुछ बातों का उल्लेख ऊपर आ गया है[1]। अब अवसर है कि पदार्थ-विज्ञान के अगले प्रतिपाद्य पदार्थ कर्म का विचार करें।

कर्म

कर्मका लक्षण—

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते ॥ च० सू० १।४९

× × आदिशब्दः प्रकार वाची। तेन संस्कार-गुरुत्वादिजन्यकृत्स्न-क्रियावरोधः। यद्यपि चेष्टितं प्राणिव्यापार उच्यते, तथापीह सामान्येन क्रिया विवक्षिता × × × ॥ —चक्रपाणि

द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति ॥ च० सू० ८।१३

यस्य (द्रव्यस्य) कर्मपञ्चविधमुक्तं वमनादि ॥ च० सू० २६।१०

१—आहार में सभी गुण समता से वर्तमान हों तभी शरीरगत दोष धातु और मलों के गुण और स्वयं दोषादि सम रहते हैं। देखिये—

यथा स्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥

च० चि० १५।१४

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥

सु० सू० ४६।५२६

एतच्च प्राधान्यादुच्यते, तेन बृंहणाद्यपि बोध्यम् ॥ —चक्रपाणि

प्रसारणकुञ्चन विनमनोन्नमनतिर्यग्गामनानीति पञ्चचेष्टाः ॥

सु० नि० ११८ पर—गयदास तथा डल्हन

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् ।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म, कर्म नान्यदपेक्षते ॥

च० सू० ११५२

"आयुर्वेद में कर्म दो प्रकार का माना गया है—एक प्राणि-व्यापार किंवा पाँच प्रकार की चेष्टा ; दूसरा द्रव्य-व्यापार अर्थात् द्रव्यों के वमन, विरेचन, बृंहण, लङ्घन, वाजीकरणादि विभिन्न कर्म।

"यह कर्म (चेतन और अचेतन) द्रव्य में रहता है, तथा संयोग और विभाग का कारण है। 'कर्त्तव्य' अर्थात् करने योग्य जो वस्तु उसका करना यही कर्म कहाता है।

'चेष्टा के पाँच भेद निम्न हैं—प्रसारण, आकुञ्चन, विनमन, उन्नमन तिर्यग्गमन[1] ।"

जिस क्रिया द्वारा हाथ आदि अवयवों का शरीर से दूरस्थ

[1]—दर्शन ग्रन्थों में पठित अपक्षेपण आयुर्वेद का विनमन है, तथा उत्क्षेपण उन्नमन है। उत्क्षेपणादि चार कर्मों के अतिरिक्त जितना भी कर्म है, उसे दर्शन में 'गमन' कहा है। आयुर्वेद में गमन का पृथक् उल्लेख नहीं है। पाँचवाँ कर्म 'तिर्यग्गमन' बताया है। प्राकृत, विकृत चेष्टाएँ बताने के लिए इन संज्ञाओं का वैद्यक में भूरिशः उपयोग होता है।

प्रदेश के साथ संयोग हो उसे प्रसारण कहते हैं। आधुनिकों के 'एक्स्टेन्शन'[1] तथा 'एब्डक्शन'[2] प्रसारण के अन्तर्गत हैं।

जिस क्रिया द्वारा शरीर के निकटवर्ती जो प्रदेश, उनके साथ शरीरावयव का जो संयोग हो उसे आकुञ्चन कहते हैं। नवीनों के 'फ्लेक्शन'[3] और 'एडक्शन'[4] का आकुञ्चन में अन्तर्भाव है।

जिस चेष्टा द्वारा शरीर या शरीरावयव का शरीर के नीचे स्थितप्रदेश के साथ संयोग हो उसे विनमन कहते हैं।

जिस चेष्टा के फलस्वरूप शरीर या शरीरावयव का शरीर के ऊपर की ओर स्थित प्रदेश से संयोग हो उसे उन्नमन कहते हैं।

जिस चेष्टा के कारण शरीरान्तर्गत रस-रक्तादि का पार्श्व में गमन हो उसे तिर्यग्गमन कहते हैं।

द्रव्याश्रित कर्मों का विस्तार द्रव्य गुणशास्त्र तथा चिकित्सा के ग्रन्थों में देखना चाहिये। गुणों के समान द्रव्यगत कर्मों की भी आधुनिक मत से व्याख्या आवश्यक है। विस्तार तथा विषयान्तर के भय से इस विषय का निरूपण न करते हुए अब हम अगले पदार्थों अर्थात् सामान्य और विशेष का वर्णन करेंगे।

१—Extension

२—Abduction

३—Flexion

४—Adduction

सामान्य और विशेष

Important

सामान्य और विशेष का लक्षण

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।
तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ।।

च० सू० १।४५

× × एकत्वकरमिति एकत्वबुद्धिकरं, सामान्यं यदनेकासु भिन्न देश कालासु गवादिव्यक्तिषु 'अयं गौरयं गौः' इत्यादि प्रकारा एकाकारा बुद्धिस्तत् सामान्यम् । × × यत्रापि च 'अयं पाचकोऽयं पाचकः' इति, तथा 'अयं शुक्लोऽयं शुक्लः' इत्यादौ क्रियागुणादि सामान्यादेकरूपा बुद्धिस्तत्रापि सामान्यमेक क्रिया गुणादि गतमेकरूपाध्यवसाये हेतुः । × × विशेषलक्षणं पृथक्त्वकृदिति व्यावृत्तबुद्धिकृत्, तेन यद् गोव्यक्त्यन्तरापेक्षयैक बुद्धिकर्तृ तया गोत्वं सामान्यं, तदेव गोत्वमश्वाद्यपेक्षया व्यावृत्तबुद्धिकर्तृत्वादश्वादीन् प्रति विशेष इत्युक्तं भवति । तेन मांसत्वं मांसं प्रति मांसान्तरापेक्षया समान-त्वाद् वृद्धिकारणं भवति, तदेव तु मांसत्वं वातं प्रति विशेषरूपतया ह्रासहेतुर्भवति । × × × विशेषस्तु विपर्यय इति अतुल्यार्थता हि विशेष-त्वं, तेन गोगजयोरतुल्य गोत्वगजत्वरूपार्थयोः पृथग्बुद्धियुक्तैवेति दर्शितं भवति । × × × ।।

—चक्रपाणि

"समान जातीय अनेक द्रव्यों के विषय में, उनके अनेक होते हुए भी, 'वे एक हैं' ऐसी प्रतीति जिस पदार्थ के कारण होती है, उसे सामान्य कहते हैं । जैसे, अनेक गौओं में स्थित 'गोत्व',

अनेक पाचकों में स्थित 'पाचकत्व' और अनेक शुक्लों में स्थित 'शुक्लत्व' सामान्य है, क्यों कि इन के कारण ही उनका क्रमशः गौ, पाचक और शुक्ल इस एक-एक वर्ग में समावेश किया जा सकता है।

"इसके विपरीत, जिस पदार्थ के कारण अनेक पदार्थों के विषय में यह बुद्धि हो कि वे परस्पर भिन्न हैं उसे विशेष कहते हैं; यथा, गौ और हस्ती के सम्बन्ध में परस्पर भिन्नता की प्रतीति उनमें स्थित 'गोत्व' और 'गजत्व' के कारण होती है। इन्हें 'विशेष' कहते हैं।

"ये सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में होते हैं। जैसे, उक्त उदाहरणों में अनेक गौ द्रव्यों में गोत्व, अनेक पाचकों में पचन क्रिया में स्थित सामान्य (समानता, तुल्यता) तथा अनेक शुक्लों में शुक्लगुणत्व सामान्य है।"

द्रव्यादिगत सामान्य के उदाहरण हम ने चक्रपाणि की टीका से उद्धृत किये हैं। चक्रपाणि ने दर्शनोक्त उदाहरण ही रखे हैं। ये उदाहरण आयुर्वेदीय सिद्धान्त को उतना स्वच्छ नहीं करते। आयुर्वेद का मन्तव्य है कि बाहर के मांस और पुरुष-शरीर गत मांस 'समान' है, दोनों में परस्पर 'सामान्य' है। एवं बाहर के रक्त, अस्थि आदि में तथा शरीरगत रक्त, अस्थि आदि में क्रमशः परस्पर सामान्य है। सामान्ययुक्त (समान) बाह्य द्रव्य से सामान्य युक्त शरीर द्रव्य की सर्वोत्तम पुष्टि (वृद्धि) होती है; यथा, मांस से मांस की, रक्त से रक्त की इत्यादि। यह हुआ

द्रव्यगत सामान्य का उदाहरण। अब गुणगत तथा कर्मगत सामान्यों का उदाहरण लीजिए।

माष (उर्द) आदि बाह्य द्रव्यों में स्थित गुरुगुण तथा मांस आदि विभिन्न शारीर धातुओं में स्थित गुरुगुण में परस्पर सामान्य है। बाह्य द्रव्यगत गुरुगुण शरीरावयवगत गुरुगुण को वृद्धि करता है। इसी प्रकार लघु, स्निग्ध-रूक्ष आदि अन्य गुणों के सामान्य के उदाहरण भी समझने चाहिये। तत्तत् दोष, धातु आदि के प्रकोपक कर्म में तथा प्रकुपित होनेवाले दोषादि में परस्पर सामान्य होता है।

जिस द्रव्य, गुण या कर्म में जिस दोष, धातु आदि का सामान्य न हो, प्रत्युत जो उसका विरुद्ध होने से उस दोष आदि को क्षीण करे उसमें तथा उस दोष आदि में परस्पर 'विशेष' होता है ; जैसे, घृत और पित्त में ; तैल तथा वात में ; मधु तथा कफ में।

निम्नोक्त वचन में वात के गुण बताकर उसके समान द्रव्य, गुण या कर्म से वात की वृद्धि (प्रकोप) तथा उसके विरुद्ध (विशेषयुक्त) द्रव्य, गुण या कर्म से वात के प्रशमन का उत्तम स्पष्टीकरण किया गया है।

अत्रोवाच कुशः सांकृत्यायनः—रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदाः षडिमे वातगुणा भवन्ति। तच्छ्रुत्वा वाक्यं कुमारशिरा भरद्वाज उवाच एवमेतद्यथा भगवानाह, एत एव वातगुणा भवन्ति, स त्वेवंगुणैरेवंप्रभावैश्च कर्मभिरभ्यस्यमानैर्वायुः प्रकोपमापद्यते, समान गुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणमिति।

तच्छ्रुत्वा वाक्यं काङ्कायनो बाह्लीक भिषगुवाच—एवमेतद्यथा भगवानाह, एतान्येव वात प्रकोपणानि भवन्ति, अतो विपरीतानि वातस्य प्रशमनानि भवन्ति, प्रकोपणविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणमिति ॥ च० सू० १२।४।६

रूक्षादयो भावप्रधानाः, तेन रूक्षत्वादयो गुणा मन्तव्याः। दारुणत्वं चलत्वं, चलत्वात्, एवं दीर्घञ्जीवितीयोक्तं चलत्वमुक्तं भवति ; यदि वा दारुणत्वं शोषणत्वात् काठिन्यं करोतीति। × × एवं प्रभावैरिति प्रभावाद्रौत्यादि कारकैर्धावन जागरणादिभिः ; प्रभावाभिधानं च कर्मणां निर्गुणत्वात्। अभ्यस्यमानैरिति असकृत्प्रयुक्तैः ॥ —चक्रपाणि

"वायु में निम्न छः गुण होते हैं—रूक्ष, लघु, शीत, दारुण (चल या कठिन), खर तथा विशद। जिन द्रव्यों में ये गुण होते हैं, जो गुण इन गुणों के तुल्य होते हैं तथा जो श्रम, जागरणादि कर्म अपने प्रभाव से इन गुणों के सदृश होते हैं उनका निरन्तर सेवन (अभ्यास) वात की वृद्धि (प्रकोप) करता है ; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि समानगुणों का निरन्तर सेवन धातुओं (दोषों, धातुओं, मलों और उपधातुओं) की वृद्धि करनेवाला होता है। इसके विपरीत जिन द्रव्यों, गुणों या कर्मों के निरन्तर सेवन से वात के इन गुणों का क्रमशः क्षय (ह्रास) होता है वे वात की शान्ति करते हैं ; कारण, यह नियम है कि प्रकोप-विरोधी द्रव्य, गुण और कर्म धातुओं का शमन (क्षय) करते हैं।"

इस विषय के और भी स्पष्टीकरण के लिए चरक का निम्न वचन बहुत ही उपयुक्त है, जिसमें कहा गया है कि किस प्रकार

निरन्तर सेवन से घृत पित्त को, मधु कफ को और तैल वात को शान्त करता है—

तैलसर्पिर्मधूनि वातपित्तश्लेष्म प्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति। तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद् वातं जयति सततमभ्यस्यमानं; वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति, विरुद्धगुणसंनिपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते, तस्मात् तैलं वातं जयति, सततमभ्यस्यमानम्। सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च; पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च। मधु च श्लेष्माणं जयति, रौक्ष्यात् तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च; श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च। यच्चान्यदपि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात् तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम्॥ च० वि० १।१३।१७

सततमभ्यस्यमानमिति अविच्छेदेनोपयुज्यमानम्। विरुद्धगुण इति तैलगुणेभ्यो विपरीतगुणः। विरुद्धगुण संनिपात इति विरुद्धगुणयोर्मेलके। × × सततमभ्यस्यमानमिति सततोपयोगेन हि तैलं वातादधिकं भवति, तेन वातं जयतीत्यर्थः। सर्पिः खल्वेवमेवेति सर्पिरपि सततमभ्यस्यमानमिति। अमधुरमिति रौक्ष्यलाघवाद्युष्ण्यत्वादिना मधुर विपरीतं कटुरसमित्यर्थः। × ×

—चक्रपाणि

"तैल में स्नेह, उष्णता और गुरुता ये गुण होते हैं। वात में तैल के विरुद्ध रूक्षता, शैत्य और लघुता ये (प्रधान) गुण होते हैं। तैल के निरन्तर सेवन का परिणाम यह होता है कि शरीर में वात विरोधी गुणों की क्रमशः अधिकता हो जाती है, जिससे स्वभावतः अल्पशक्ति हो जाने से वात की शान्ति होती है। इसी

प्रकार घृत के निरन्तर सेवन से पित्त की शान्ति होती है। पित्त अमधुर (कटु और अम्ल), उष्ण और तीक्ष्ण है ; घृत, मधुर, शीत और मन्द है। घृत के निरन्तर सेवन से पित्त के गुण क्रमशः न्यून होने से वह शान्त होता है। इसी प्रकार निरन्तर सेवन से मधु (शहद) कफ को शान्त करता है। मधु रूक्ष, तीक्ष्ण और कषाय है, जब कि कफ स्निग्ध, मन्द और मधुर है। मधु के निरन्तर सेवन से कफ के गुण शरीर में उत्तरोत्तर न्यून होने से वह क्षीण होता है। इस प्रकार केवल तैलादि नहीं, जो भी द्रव्य गुणों की दृष्टि से वातादि के विपरीत हो उसके अभ्यास (निरन्तर सेवन) से[1] वातादि की शान्ति होती है[2]।"

सामान्य से धातुओं की वृद्धि और विशेष से ह्रास का नियम

सामान्य और विशेष का आयुर्वेद में बड़ा महत्त्व है। इसका विशेष विवरण संहिताकारों के शब्दों में ही देखिये—

१—पर-अपर आदि गुणों के ज्ञान से चिकित्सा में सहायता होती है, यह ऊपर कह आये हैं। इन गुणों में एक 'अभ्यास' भी है। इसका ज्ञान चिकित्सा में कितना उपकारी है, यह इस प्रकरण से विदित होगा। वातादि की आमूल शान्ति के लिए निरन्तर ही दीर्घकाल तक औषध का सेवन आवश्यक है, यह सिद्धान्त यहाँ कहा है।

२—इस प्रसंग में विद्यार्थियों को जानना चाहिये कि तैल, घृत और मधु वात, पित्त और कफ के सर्वोत्तम शामक हैं। एवं कर्मों में बस्ति, विरेचन और वमन क्रमशः सर्वोपरि माने गये हैं। विशेष विवरण 'शरीर क्रिया विज्ञान' में देखिये।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥

च० सू० १।४४

× × भवन्ति सत्तामनुभवन्तीति भावा द्रव्यगुणकर्माणि । × × एतच्च सामान्यं सामान्यवतो मांसद्रव्यादेर्वृद्धिकारणस्य लक्षणत्वेन वृद्धिकारणमित्युक्तम् । यतो न सामान्यं मांसत्वादिजातिरूपं वृद्धौ कारणं भवति × × सामान्यस्य च वृद्धिकारणत्वं ह्यसति विरोधिकारणे बोद्धव्यं, तेनामलकादिगतानामम्लत्वादीनां पित्तगताम्लत्वाद्यवर्धकत्वमामलकगत-शिशिरप्रभाव विरोधित्वादुपपन्नम् । एवमन्यत्रापि त्रिदोषहरद्रव्ये बोद्धव्यम् । इह च सामान्यस्य वृद्धिकारणत्वमित्युच्यते, न तु सामान्यमेव वृद्धिकारणमित्युच्यते, तेनाससमानादपि घृतान्मेधाया वह्नेश्च वृद्धिः प्रभावा-देवोपपन्ना, यदुक्तं,—'घृतमग्निमेधे करोति',—इति ; तथा चिन्तया वात-वृद्धिः, तथा संकल्पाद् वृष्यपादयुगलेपाच्च शुक्रवृद्धिरित्यादि प्रभावादुपपन्नम् × × × अथ वैशेषिकोक्तानामन्त्यविशेषाणामिह शास्त्रे चिकित्सायामनुपयु-क्तत्वात तद्विशेषधर्मव्यावर्तकत्वयोगात् सामान्यविशेषानेव ह्रासकारणत्वेनाह—ह्रासहेतुरित्यादि । अत्रापि सर्वदा सर्वभावानामित्यादि योजनीयम् । × × सामान्यमेव गवेधुकत्वं मांसादीन् प्रति विशेषः । × × अत्रापि ह्रासहेतुत्वं ह्रासहेतुद्रव्यादिलक्षणत्वेन सामान्यवज्ज्ञेयं ; तथा ह्रासहेतुत्वमसति विरोधके सामान्योक्तन्यायेन ज्ञेयं ; तेन मन्दक निकुचादीनां वातादिवि-रुद्धानामपि स्निग्धत्वादीनां वाताद्यशमकत्वं द्रव्यस्यापथ्यत्वप्रभावादेव ज्ञेयम् । विशेषश्चेह विरुद्धविशेषोऽभिप्रेतः ; तेनोत्तरत्र विरुद्धविशेषमेव ह्रासहेतुतया तत्र तत्रोपदेक्ष्यति ; यथा—'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतै-

विपर्ययः' (अ० हृ० सू० १।१४)—इति, तथा 'विपरीत गुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः (च० सू० १।६२) इत्यादि, तथा 'विपरीत गुणैर्द्रव्यै मरुतः संप्रशाम्यति' (च० सू० १।५९)—इत्यादि, तथा जतूकर्णेऽप्युक्तं, —'समानैः सर्वभावनां वृद्धिर्हानिर्विपर्ययात्' इति × × × प्रवृत्तिः प्रवर्तनं शरीरेणाभिसंबन्ध इति यावत्। × × × —चक्रपाणि

समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम् ॥ च० सू० १२।५

प्रकोपणविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणम् ॥ च० सू० १२।६

गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां द्रव्याणां सामान्य विशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ, यथोक्तं—गुरुभिरभ्यस्य मानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम्, एवमेवेतरेषाम् ॥ च० सू० ३०।२७

× × × एवमेवेतरेषामिति लघुभिरभ्यस्यमानैर्लघूनामुपचयोभवति, अपचयो गुरूणामित्यादि द्रष्टव्यम् ॥ —चक्रपाणि

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः। × × × तेषु (शारीरधातुषु) ये गुरवस्ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्चह्रसन्ति; लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते, गुरवश्च ह्रसन्ति। एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद्वृद्धिः, विपर्ययाद्ध्रासः। तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण। यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसान्निध्यं स्यात् संनिहितानांवाऽप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात् स च धातुरभिवर्धयितव्यः

स्यात्, तस्य ये सामानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात् × × ×। कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम्। एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं कार्यौ। × ×॥ च० शा० ६।९-११

× × × समाना एव परं गुणा यस्य तत्समानगुणं, यथामांसं मांसस्य समानगुणभूयिष्ठं यदल्पसमानगुणं; यथा—शुक्रस्य क्षीरम्। क्षीरस्यातिद्रवत्वाच्छुक्रेऽल्पसमानगुणम्। अभ्यस्यसमानैरित्यनेन सकृदुपयोगाद् वृद्धिं ह्रासं च निषेधयति। विपरीता एव परं गुणा यस्य तद्विपरीतगुणम्। अल्पसमानगुणं तु विपरीतगुणभूयिष्ठम्। × × × सामान्ययोगादिति समानैकरूपार्थयोगात्। तच्च सामान्यं सर्वथा समानगुणजातिरूपं भवति; यथा—पोष्यपोषकयोर्मांसयोः। क्वचिच्च विजातीयेऽपि गुणा एव पोष्यपोषकवृत्तयो भवन्ति; यथा—क्षीरशुक्रयोः। तत्रात्यर्थवृद्धिकर्तृत्वेन प्रथमं जातिरूपमेव सामान्यं सर्वगुणसामान्ययुक्तमुदाहरति—तस्मादित्यादि। भूयस्तरमन्येभ्य इत्यनेन मांसेन समानगुणभूयिष्ठतया रक्तादिवृद्धिरपि क्रियते, भूयसी तु सर्वथा सामान्ययोगान्मांसस्य वृद्धिः क्रियत इति दर्शयति। लोहितं लोहितेनेत्येवमादौ 'भूयस्तरमन्येभ्यः' इत्यनुवर्तनीयम्। गर्भस्त्वामगर्भेणेत्यत्र आमगर्भेणाण्डादिरूपेण समुदितानां मांसादीनां सम्यगनिष्पन्नानां च वृद्धिरुच्यते। संप्रति समानगुणभूयिष्ठेन विजातीयेन वृद्धिमाह—यत्रेत्यादि। एवंलक्षणेनेति तुल्यजातिरूपेण। अन्यस्माद्वा कारणादित्यभक्ष्यामगर्भशुक्रादिभक्षण जन्याधर्मोत्पत्तेः। तत्रत्यनेन असंनिहितान् घृणया कारणान्तरेण च. संनिहितानप्यसेव्यान् प्रत्यवमृशति। अन्यप्रकृतीनामिति विजातीयानाम्। × × × विहारमपि वृद्धिकरमाह-कर्मेत्याति। कर्मशब्दे-

नेहास्याचिन्तादयोऽपि गृह्यन्ते । कर्म तु प्रायः प्रभावादेव वृद्धिकरं भवतीति कृत्वाऽत्र समानगुणतापरिग्रहो न कृतः × × × ॥ —चक्रपाणि

तत्र (दोषधातुक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः ॥

सु० सू० १५।१०

× × स्वयोनिवर्धनमपि सामानेन द्रव्येण समानगुणेन समानगुणभूयिष्ठेन वा । समानेन द्रव्येण यथा—रक्तं रक्तेन वर्धते, मांसं मांसेन, मेदो मेदसा, अस्थि तरुणसंज्ञकेनास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण; समानगुणेन यथा—रक्तक्षये तैजसद्रव्योपयोगः, तेजोगुणभूयिष्ठद्रव्योपयोगो वेत्यादि । द्रव्यग्रहणमुपलक्षणं, तेन कर्मापि यद्यस्य धातोरभिवृद्धिकरं तत्क्षये तत् सेव्यम् × × × ॥ —डल्हन

"शरीरगत समस्त द्रव्यों (मांस, रक्तादि अवयवों), गुणों और कर्मों की वृद्धि सर्वदा द्रव्य, गुण या कर्म में स्थित सामान्य से होती है एवं, उनके विरोधी विशेष से उनका ह्रास (क्षय) होता है । सामान्य और विशेष का यह परिणाम उनका शरीर के साथ चिरकाल तक निरन्तर सम्बन्ध होने पर तथा विरोधी कारण उपस्थित न होने पर होता है ।

"सामान्य के अभ्यास से शारीर धातुओं (दोष, धातु, उपधातु और मल) की वृद्धि के इस नियम के कारण ही—आहार रूप में निरन्तर सेवन किये गये मांस से अन्य धातुओं की अपेक्षया मांस की सर्वाधिक पुष्टि होती है । इसी प्रकार रक्त से रक्त की, मेद से मेद की, वसा (मांसगत स्नेह) से वसा की, तरुण अस्थि से अस्थि की, मज्जा से मज्जा की, शुक्र से

शुक्र की तथा आम (जिसके पूर्ण मास न हुए हों ऐसे) गर्भ से गर्भ की सर्वोपरि पुष्टि होती है। यदि किसी कारण इन द्रव्यों का सेवन सम्भव न हो तो ऐसे द्रव्य का सेवन करना चाहिये, जिसके गुण उस धातु के अधिकाधिक तुल्य हों जिसकी वृद्धि करना अभीष्ट है[१]।"

"इसके विपरीत विरुद्ध गुण वाले अथवा जिसमें विरुद्ध गुण अधिकाधिक हों ऐसे द्रव्य के निरन्तर सेवन से धातु का ह्रास होता है।

"द्रव्य और गुण के समान धातुविशेष की वृद्धि के लिये उसके तुल्य गुण उत्पन्न करने वाले कर्म (विश्राम, व्यायाम

१—मूल में इस प्रकरण के आगे ऐसे द्रव्यों के उदाहरण दिये हैं जो तत्तत् धातु के समान गुण वाले होने से उसकी अभिवृद्धि करते हैं। जिज्ञासुओं को यह प्रकरण मूल में; किंवा 'शरीरक्रिया विज्ञान' आदि में देखना चाहिये।

चरक (शा० ६।९-११) ने इसी प्रकरण में सामान्ययुक्त द्रव्य दो प्रकार के कहे हैं—समानगुण और समानगुणभूयिष्ठ। चक्रपाणि 'समानगुण' का अर्थ समान द्रव्य अर्थात् मांस की वृद्धि के लिये मांस, रक्त के लिये रक्त इत्यादि करता है। समानगुणभूयिष्ठ शब्द का अर्थ उसने ऐसा असमान द्रव्य वताया है जिसके गुण पोषणीय धातु से अधिकाधिक मिलते हों। परन्तु सु० सू० १५।१० की टीका में डह्लन ने सामान्ययुक्त द्रव्यों के तीन भेद किये हैं—समान, समानगुण और समानगुणभूयिष्ठ। इसमें समानगुण का अर्थ है समान द्रव्य से लगभग तुल्य गुणों वाला द्रव्य तथा समानगुणभूयिष्ठ का अर्थ है ऐसा द्रव्य जिसके गुण पूर्णतया तो नहीं, पर पर्याप्त अंश में समान धातु से मिलते हों।

आदि) का निरन्तर सेवन करना चाहिये तथा ह्रास और साम्य के लिये विरोधी गुण उत्पन्न करने वाले कर्म का निरन्तर सेवन करना चाहिये।"

अस्तु, पदार्थों का क्रमशः वर्णन करते हुए अब तक हमने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष का स्वरूप देखा। अब अवसर है कि अन्तिम पदार्थ समवाय का परिचय प्राप्त करें।

समवाय

समवाय का लक्षण

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः॥

च० सू० १।५०

× × × अपृथग्भावोऽयुतसिद्धिः, सहैवावस्थानमिति यावत्। यथा, अवयवावयविनोः, गुणगुणिनोः, कर्मकर्मवतोः, सामान्यसामान्यवतोः ; न ह्यवयवादीन् विरहय्यावयव्यादय उपलभ्यन्ते। भूम्यादीनां भूमिप्रकाराणाम् भूमिश्च भूयसामाधेयानामाधारा, तेनाधारत्वोदाहरणार्थमुक्ता। × × एतेन भूम्यादीनामित्याधाराणाम् ; गुणैरित्याधेयैः ; आधेयो ह्याधारापेक्षयाऽप्रधानम्, अप्रधाने च गुणशब्दः। तेनाधाराणामाधेयैर्योऽपृथग्भावः स समवाय इति। × ×.× स नित्य इति समवायोऽविनाशी। सत्यपि समवायिनां द्रव्याणां नाशे समवायो न विनश्यति। अत्र हेतुमाह—यत्र हीत्यादि। यत्र द्रव्यं नियतं नित्यं, यथा आकाशं, न तत्र नित्य आकाशेऽनियतोऽविनाशी गुणः,

'कश्चित्' इति शेषः। एवं मन्यते—नित्ये व्योम्नि परिमाणमपि तावन्नित्यं, तथा द्रव्यत्वमप्याकाशगतं नित्यं ; तथा नित्ययो तद्गुणयोः समवायलक्षणः सम्बन्धोऽपि नित्य एव। एवं तत्र समवायस्य नित्यत्वे सिद्धे एकरूपत्वात् समवायस्यान्यत्रापि नित्यत्वमेव। न चाश्रयद्रव्यनाशे समवायनाशः ; यथा गोव्यक्ति विनाशेऽपि गोत्वस्य सामान्यस्य न विनाशः × × ×॥

—चक्रपाणि

'अवयवी (अवयवयुक्त होने से द्रव्य) तथा उसके अवयवों में, गुणी (गुणयुक्त द्रव्य) तथा उसके गुणों में, कर्मवान् (कर्मयुक्त द्रव्य) तथा उसके कर्मों में ; सामान्ययुक्त द्रव्य, गुण, कर्म और तदाश्रित सामान्य में जो परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध है, उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं।

"समवाय नित्य (अविनाशी) है। कारण, आकाशादि नित्य द्रव्यों के गुण भी नित्य होते हैं, अतः आकाशादि द्रव्य और तद्गत गुणों का समवाय भी नित्य होना चाहिये। समवाय सम्बन्ध सर्वत्र एक रूप होता है। आकाशादि में वह नित्य है, अतः अन्यत्र भी नित्य ही होना चाहिये। आश्रय द्रव्य अनित्य होने के कारण नष्ट हो जाय तो भी समवाय का नाश नहीं होता। यथा, गौ का अवसान होने पर भी गोत्व रूप सामान्य तो बना ही रहता है।"

दसवाँ अध्याय

अथातः प्रमाण विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

प्रमाण

पदार्थों के विषय में आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का निरूपण हुआ। अब थोड़े में हम उन साधनों या प्रमाणों का अवलोकन करेंगे जिनके द्वारा ये सिद्धान्त जाने गये और जाने जाते हैं। आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम में आरम्भ में ही इस विषय के बतलाने का आवश्यकता इसलिए है कि इन साधनों के द्वारा ही हम विभिन्न शारीर-अवयवों एवं उनपर क्रिया करनेवाले आहारौषध द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, इन्ही के द्वारा हम शरीर को रुग्ण करनेवाले कारणों, रुग्णावस्था में प्रकट होनेवाले विभिन्न लक्षणों तथा उनकी चिकित्सा का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन साधनों का महत्त्व इससे स्पष्ट सिद्ध है। दर्शनग्रन्थों में इनका अतीव विस्तार है, परन्तु हम आयुर्वेदीय संहिताओं में संकलित किया गया उपयुक्तांश ही प्रस्तुत करेंगे।

प्रमाणों की संख्या तथा नाम

द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परिक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन॥ च० वि० ८।८३

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति ; तद्यथा-आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ॥ च० वि० ४।३

रोगाणां विशेषो यथावत्त्यमाणो विज्ञायते येन तद्रोगविशेषविज्ञानम्, उपदेशप्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणत्रयम् । अत्र तु युक्तेरनुमानान्तर्गतत्वादेव न पृथक्करणम् । एतच्च प्रमाणत्रयं क्वचिद्रोगे मिलितं, क्वचित्द्वयं क्वचिदेकं परीक्षायां वर्तते । येन, नान्तरे वह्निमान्द्यादौ प्रत्यक्षमवश्यं व्याप्रियते ॥

—चक्रपाणि

द्विविधिमेव खलु सर्वं सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा-आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं, युक्तिश्चेति ॥ च० सू० ११।१७

× × सर्वमिति यत्किंचित्प्रमाणप्रतीयमानं, तत्द्विविधम् । तद्द्वैविध्यमाह-सच्चासच्च ; सदिति विधिविषयप्रमाणगम्यं भावरूपम्, असदिति निषेधविषयप्रमाणगम्यमभावरूपम् । परीक्ष्यते । परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा प्रमाणानि ॥ —चक्रपाणि

अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलंब्धिकारणं, तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति ॥ च० वि० ८।३३

हेतुश्चाविनाभाव लिङ्ग वचनं यद्यपि, तथापीह लिङ्ग प्रग्राहकाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्येव यथोक्त हेतुमूलत्वेन हेतुशब्देनाहेति बोद्धव्यम् । ×× उपलब्धिकारणमिति व्यापकस्य साध्यस्योपलब्धिकारणम् ॥ —चक्रपाणि

तस्याङ्गवरमाद्यंप्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुद्धमानमुपधारय ॥

सु० सू० १।१६

"बाह्य अथवा शरीरगत पदार्थों तथा रोगों का ज्ञान जिन साधनों से होता है उन्हें प्रमाण कहा जाता है । ये प्रमाण तीन

हैं—आप्तोपदेश (शब्द, ऐतिह्य) प्रत्यक्ष और अनुमान। कहीं-कहीं युक्ति तथा उपमान को भी पृथक् प्रमाण माना जाता है, परन्तु वे अनुमान के ही अन्तर्गत हैं। रोग परीक्षा में कभी तीनों प्रमाणों का, कभी दो का और कभी तीनों-चारों में किसी एक का उपयोग होता है।" इनके लक्षण क्रमशः निम्नलिखित हैं।

आप्तोपदेश का लक्षण

तत्राप्तोपदेशो नामाप्तवचनम्, आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवंगुणयोगाद् यद् वचनं तत् प्रमाणम्। अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्त दुष्टादुष्ट वचनमिति ॥ च० वि० ४।४

× × × वितर्कः कथंताऽनिश्चितज्ञानमिति यावत्, स्मृतिः स्मारणज्ञानं, विभाग एकदेशः ; एतद्विपर्ययानिश्चयेनानुभवेन च कात्स्न्येन च ये भावान् जानते तेऽवितर्कस्मृतिविभागविदः। × × × अथ सम्यग्ज्ञानवन्तोऽपि रागादिवशादन्यथा व्याहरन्तीत्याह-निष्प्रीत्युपतापदर्शिन इति। × × एवं भूतं चाप्तत्वं कस्यचिद्ब्रह्मादेः सर्वत्रैव भवति तत्रैवोपदेशः प्रमाणमिति ज्ञेयम्। × × ॥ —चक्रपाणि

अथैतिह्यम्-ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः ॥ च० वि० ८।४१

अलौकिकाप्तोपदेश ऐतिह्यपदेनोच्यत इत्याह-वेदादिरिति ॥

—चक्रपाणि

× × × आप्तोपदेशशब्दस्तु द्विविधः-परमाप्त ब्रह्मादि प्रणीतः ; तथा लौकिकाप्तप्रणीतश्च ; ऐतिह्यशब्देन परमाप्तप्रणीतोऽवरुद्धः, लौकिकाप्त-प्रणीतश्च शब्दैकदेशरूपः सत्यप्रकार विहितो ज्ञेयः। × × × ॥

च० वि० ८।३८ पर —चक्रपाणि

आप्तास्तावत्—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञान बलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥

च० सू० ११।१८-१९

××× अमलमिति यथार्थग्राहित्वेन, अव्याहतमिति क्वचिदपि विषयेऽकुण्ठित शक्तित्वेन। आप्ती रजस्तमोरूपदोषक्षयः, तद्युक्ता आप्ताः; शासति जगत्कृत्स्नं कार्याकार्य प्रवृत्तनिवृत्त्युपदेशेनेति शिष्टाः; बोद्धव्यं विशेषेण बुद्धमेतैरिति विबुद्धाः। ××× असत्यं मिथ्याज्ञानाद्वाऽभिधीयते, सम्यग्ज्ञाने सत्यपि रागद्वेषाभ्यां वाऽभिधीयते, तच्च त्रितयमपि मिथ्याज्ञान रागद्वेषरूपं रजस्तमोनिर्मुक्ते सत्त्वगुणोद्रेकादमल विज्ञाने न संभवतीत्यर्थः। एतच्चाप्तलक्षणं सहजाप्त ब्रह्माद्यभिप्रायेण, लौकिकानां तु पुरुषाणामाप्तत्वं प्रतिविषय सम्यग्ज्ञानसंभवेन तद्विषयरागद्वेषासंभवेन च बोद्धव्यम्।

—चक्रपाणि

तत्राप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाप्तागमः॥

च० सू० ११।२७

××× यश्चान्योऽपीत्यनेन ग्रन्थेन वेदार्थाविपरीतत्वादिभिर्हेतुभिः परिच्छेदनीयप्रामाण्यायुर्वेदस्मृतिशास्त्रादीनि दर्शयति। शास्त्ररूपो वादः शास्त्रवादः॥

—चक्रपाणि

आगमो वेदः, आप्तानां शास्त्रं वां, तथाहि—"सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च। आगमः शास्त्रमाप्ताना माप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः।" इति॥ सु० सू० १।१६ पर—डल्हन

"आप्त पुरुषों के वाक्य को आप्तोपदेश या शब्द कहते हैं। सत्त्वगुण के उद्रेक से जो रज और तम से रहित हो गये हैं, अत एव जिन का ज्ञान अनुभव से पूत, अकुण्ठित, निश्चित और संपूर्ण है, राग-द्वेषशून्य होने से जिन के ज्ञान में किसी प्रकार के मिथ्यात्व की संभावना नहीं है, जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही अपने अनुभव को वाणी द्वारा प्रकाशित करते हैं, उन्हें आप्त कहा जाता है। ये आप्त दो प्रकार के हैं—परमेश्वर, जिसे सर्व विषयों का संपूर्ण ज्ञान है, तथा लौकिक, जिसे अमुक विषय का यथार्थ ज्ञान है और जो उसे जनता के हितार्थ कहता है। परमेश्वर के वचन को वेद, आगम या ऐतिह्य कहते हैं।"

आप्तोपदेश का प्राथम्य

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत् तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च, त्रिविधा वा सहोपदेशेन॥ च० वि० ४।५

× × ज्ञानसमुदायः प्रमाणसंघातः × × ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं प्रमाणम्। × × × आगमेन ये व्याधीनां हेत्वादि विशेषाः प्रतिपादितास्तान् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभ्यमानो व्याधिं निश्चिनोति; अनुपदेशवांस्तानुपलभमानोऽपि

हेत्वादिविशेषानशिक्षितरत्नपरीक्षो यथा रत्नानां विशेषं पश्यन्नपि नावधारयति रत्नविशेषं, तथा नावधारयति व्याधिविशेषमिति भावः। ज्ञानवतामित्याप्तोपदेशवताम्। त्रिविधा वेत्यनेन व्याधिपरीक्षासमये ह्याप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते ग्रहणीमार्दवस्वप्नदर्शनादिप्रतिपत्तौ तथा दुरधिगमस्थानसंश्रयादिप्रतिपत्तौ तथा कोष्ठमृदुदारुणत्वादिपरीक्षायां चातुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियत इति दर्शयति॥ —चक्रपाणि

"आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीनों प्रमाणों में प्रथम आप्तोपदेश होता है। अध्यापक प्रथम रोगों के निदान, लक्षण आदि का उपदेश करते हैं उसके पश्चात् ही विद्यार्थी उनको प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से स्वयं जानता है। प्रथम आप्तोपदेश न हो तो जैसे जिसने रत्नों की परीक्षा सीखी नहीं है उसके सामने विभिन्न रत्न रख दिये जायँ तो उनमें भिन्नता को वह देखता तो है पर उन्हें पहचान नहीं सकता; इसी प्रकार गुरुमुख से जिसने निदानादि को जाना नहीं है वह रोगों के कारण, लक्षणादि को देखता हुआ भी रोगादि का निर्णय नहीं कर सकता है।" इस आप्तोपदेश के अतिरिक्त, जैसा कि आगे प्रकरणानुसार कहा जायगा, रोगी अथवा उसके स्वजन भी आप्त ही हैं। प्रश्न-परीक्षा में उनका जो उत्तर होगा वह भी आप्तोपदेश ही है। इस आप्तोपदेश का भी प्रत्यक्ष और अनुमान की अपेक्षया कितना महत्त्व है यह विज्ञ चिकित्सकों को सुविदित ही है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

प्रत्यक्षं तु खलु तद् यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते॥

च० वि० ४।४

स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चेत्यनेन यदात्मनेन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्यवधानेन गृह्यते रूपादि तत् प्रत्यक्षमिति बाह्यं प्रत्यक्षं गृह्णाति; मनसा चेत्यनेन—च मनसाऽव्यवधानेन यदुपलभ्यते सुखादि, तच्च मानसं प्रत्यक्षं गृह्णाति ॥

—चक्रपाणि

अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते; तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः ॥

च० वि० ८।३९

आत्मनेति मनसा, तेन मानसप्रत्यक्षं सुखाद्यवरुध्यते। इन्द्रियै श्चेत्यनेन बाह्यं प्रत्यक्षं गृह्यते। स्वयमुपलभ्यत इति साक्षादुपलभ्यते; अनेन चेन्द्रियव्यापारे सत्यपि यदनुमानविज्ञानं तदसाक्षात्कारित्वान्न प्रत्यक्षमिति दर्शयति ॥ —चक्रपाणि

आत्मेन्द्रियनोऽर्थानां संन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते।

च० सू० ११।२०

संनिकर्षादिति संबन्धात्। स च सम्बधः—संयोगः, समवायः। संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्य-भावलक्षणो बोद्धव्यः। व्यक्ता इत्यनेन व्यभिचारिणीमयथार्थबुद्धिं संशयं च निराकरोति। तदात्वे तत्क्षणम्; अनेन च प्रत्यक्षज्ञानानन्तरोत्पन्नानुमान-ज्ञानं स्मरणं च परम्परयाऽऽत्मेन्द्रियमनोऽर्थसंनिकर्षजं व्यवच्छिनत्ति; आत्मा-दिचतुष्टयसंनिकर्षाभिधानं च प्रत्यक्षकारणाभिधानपरं; तेन 'इन्द्रियार्थसंनिक-र्षात् प्रवर्तते या' इत्येतावदेव लक्षणं बोद्धव्यम्; एतेन सुखादिविषयमपि

प्रत्यक्षं गृहीतं भवति, तत्र हि चतुष्टयसंनिकर्षो नास्ति, आत्मसंनिकर्षस्तु प्रमाणज्ञानसाधारणत्वेनैव लक्षणानुपयुक्तः। इह च प्रत्यक्षफलरूपाऽपि बुद्धिः प्रत्यक्षशब्देनाभिधीयते, तथैव लोकव्यवहारात्; परमार्थतस्तु यतो भवतीन्द्रियादेरीदृशी बुद्धिस्तत्प्रत्यक्षम् ॥ —चक्रपाणि

प्रत्यक्षमिति यत्किंचिदेवार्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तदेव प्रत्यक्षं, तथाहि "मनोऽक्षगतमभ्रान्तं वस्तु प्रत्यक्षमुच्यते। इन्द्रियाणामसंज्ञानं वस्तुतत्त्वे भ्रमः स्मृतः" इति ॥ सु० सू० १।१६ पर —डल्हन

"इन्द्रियों और विषयों के संनिकर्ष (संबन्ध) से जो ज्ञान (बुद्धि) उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह ज्ञान तात्कालिक, निश्चित, यथार्थ और संशयरहित होना चाहिये।

"इन्द्रिय भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—एक मानस प्रत्यक्ष, जो मन का सुखादि अपने विषयों से संनिकर्ष होने पर होता है; तथा दूसरा बाह्य प्रत्यक्ष, जो चक्षु-आदि बाह्य इन्द्रियों का रूपादि अपने विषयों से संनिकर्ष होने पर होता है।

"यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से होता है। इस संनिकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

"इन्द्रिय भेद से प्रत्यक्षजन्य ज्ञान (बुद्धियाँ) पाँच प्रकार की हैं। इन का निर्देश पहले कर आये हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक कारण

सतां च रूपाणामतिसंनिकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः ॥

च० सू० ११।८

× × × अतिसंनिकर्षादनुपलब्धिर्यथा नयनगतकज्जलादेः, अतिविप्रकर्षाद्यथा दूराकाशगतस्य पक्षिणः, आवरणाद् यथा कुड्यादिपिहितस्य घटादेः, करणदौर्बल्याद् यथा कामलाद्युपहतस्य चक्षुषः परशौक्ल्याद्यप्रतिभानं, मनोऽनवस्थानाद्यथा कान्तामुखनिरीक्षणप्रहितमनसः पार्श्वगतवचनानवबोधः, समानाभिहाराद् यथा बिल्वराशिप्रविष्टस्य बिलस्येन्द्रियसंबद्धस्यापि भेदेनाग्रहणम्, अभिभवाद् यथा मध्यंदिने उल्कापातस्य, सौक्ष्म्याद् यथा त्रिचतुर्हस्तप्रमाणदेशवर्त्तिनः कृमिविशेषलिख्यादेरग्रहणम् ॥ —चक्रपाणि

विषय विद्यमान होने पर भी कभी-कभी उस का प्रत्यक्ष नहीं होता। यथा—"रूप विद्यमान हो तो भी निम्न स्थितियों में वह दृष्टिगोचर नहीं होता। (१) वह अति निकट हो तब, जैसे आँख में लगाया अञ्जन। (२) वह अति दूर हो तब, जैसे आकाश में अति दूर स्थित पक्षी। (३) आवरण (आड़) होने पर, जैसे भीत के पीछे स्थित वस्तु। (४) इन्द्रिय के दौर्बल्य से (किसी रोग विशेष से), जैसे कामला आदि रोगों में शुक्लता आदि भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। (५) मन अन्यत्रासक्त होने पर, जैसे काम आदि से आविष्ट चित्त वाला पुरुष समीपस्थ वस्तु को भी नहीं देखता। (६) समान वस्तुओं में मिश्रण हो जाने से ; जैसे एक बिल, बिलों की पूर्व विद्यमान राशि में डाल दिया जाय तो अनन्तर काल में उसे पृथक् देखना शक्य नहीं होता। (७) अभिभव के कारण, जैसे दिवस में सूर्य-किरणों से नक्षत्र, उल्का आदि की किरणें अभिभूत (दब गयी) होने से दिखाई नहीं देतीं। (८) सूक्ष्मता के कारण, जैसे तीन-चार हाथ दूर

लीख पड़ी हो तो दिखाई नहीं देती[1] ।" अन्य इन्द्रियों के विषयों के संबंध में भी यही स्थिति समझनी चाहिये।

सूक्ष्मता के विषय में आधुनिक दृष्टि से थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है। सूर्य-चन्द्रादि प्रकाशमान पिण्डों से निकली किरणें सीधी हमारी चक्षु के संपर्क में आती हैं तो हमें सूर्य-चन्द्रादिका ज्ञान होता है। यही किरणें अन्य वस्तु पर पड़ कर प्रतिक्षिप्त हो कर आती हैं तो उस वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) होती है। ये किरणें सर्वथा सीधी रेखा में गति नहीं करतीं, किन्तु तरङ्ग-परम्परा के रूप में गति करती हैं। इस तरङ्ग-सदृश गति में जो वृत्त-खण्ड (मोड़) बनते हैं उन की लम्बाई[2] प्रत्येक किरण में भिन्न-भिन्न होती है। इस भिन्नता का कारण यह है कि, प्रत्येक किरण में प्रति सेकण्ड जो कम्पन होते हैं उन की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। न्यूनतम कम्पन वाली किरणें जिन्हें हम देख सकते हैं उन में चार सौ मिलिअन-मिलिअन[3] कम्पन प्रतिसेकण्ड होते हैं। ये किरणें जब हमारे दृष्टिपटल[4] द्वारा गृहीत होती हैं

१—सांख्यकारिका में यही बात निम्न कारिका से कही है—"अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च (७)॥ यहाँ आगामी कारिका के 'अनुपलब्धिः, पद का अन्वय है।

२—Wave length—वेव-लैंथ।

३—Million=दस लाख ।

४—Retina—रेटीना।

तो हम सामान्य भाषा में कहते हैं कि हम लाल रङ्ग (रक्त रूप) अथवा लाल रंग की वस्तु देख रहे हैं। इन से उत्तरोत्तर अधिक कम्पन की किरणें दृष्टिपटल पर पड़ने पर क्रमशः नारंगी, पीला हरा, आसमानी, नीला तथा जामुनी वर्ण दृष्टिगोचर होते हैं। जामुनी से अधिक और रक्त से कम कम्पन वाली[1] किरणों को देखने की शक्ति हमें नहीं है।

यही दशा शब्द की है। हम अधिक से अधिक, प्रति सेकण्ड लगभग चलीस हजार कम्पन वाली शब्द-लहरी को ही सुन सकते हैं। इससे अधिक कम्पन-युक्त शब्द-तरंग को ग्रहण करने की हममें शक्ति नहीं है। प्रति सेकण्ड चालीस हजार, और चार सौ मिलिअन--मिलिअन कम्पन वाले तथा इनके मध्यवर्ती शब्दों में भेद परखने की शक्ति हमारे कानों में नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसे शब्दों का अस्तित्व ही नहीं है।

इस विचार-सरणि को आगे बढ़ा कर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि, हम अपनी इन्द्रियों से जो कुछ जानते हैं वही, वैसा ही और उतना ही जगत् नहीं है। इन्द्रियों के प्रकरण में हम देख आये हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय का स्वभाव अपने ही विषय को देखने का है। आँख को धक्का पहुंचने या दृष्टिनाड़ी कट जाय तो भी वेदना का अनुभव न हो कर प्रकाश का ही अनुभव होता है। ऐसी अवस्था में हम इन्द्रियों से किसी वस्तु को जिस

१—इन किरणों को क्रमशः Ultra-Violet— अल्ट्रा-वायोलेट तथा Infra-red—इन्फ्रा-रेड कहते हैं।

स्वरूप में जानते हैं वही उसका यथार्थ स्वरूप है यह कैसे कहा जा सकता है ! इसके सिवाय कई पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि की कई इन्द्रियों में विशेष शक्ति होती है जो उनकी उस-उस इन्द्रिय की रचना में भिन्नता के कारण होती है। इन प्राणियों को वे वस्तुएँ भी इन्द्रियगोचर होती हैं जिन्हें हम जानते नहीं, अतएव जिनका अस्तित्व भी हम नहीं मानते। विषय पाँच ही हैं, उनके भेद उतने ही हैं जिनका उल्लेख किया गया है—यह सब हमारी इन्द्रियों की शक्ति की मर्यादा को ही सूचित करता है, न कि जगत् की एतावत्ता को। अपनी आन्तर शक्तियों को विकसित कर कई साधारण जन भी अतीन्द्रिय वस्तुओं को जानने में समर्थ होते हैं योगियों के सामर्थ्य का वर्णन तो वाचातीत ही है। अस्तु।

सूक्ष्मता आदि के विषय में एक बात और कहनी चाहिए। वस्तु को हम देख सकें इसके लिए आवश्यक है कि उससे प्रतिक्षिप्त हुई किरणें हमारे दृष्टि-पटल पर पुञ्जित हों। अति सूक्ष्म, अतिनिकटस्थ या अतिदूरस्थ वस्तु का प्रतिक्षेप दृष्टि-पटल पर न पड़ने से हम उन्हें देख नहीं पाते। अब प्रबल अणुवीक्षण और दूरवीक्षण यन्त्र के साहाय्य से सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवाणुओं तथा अनन्त दूरी पर स्थित ग्रह-नक्षत्रों को भी देखा जा चुका है।

व्यवधान (भित्ति आदि की आड़) में स्थित या अत्यन्त दूर देश में स्थित वस्तु को भी अपनी गूढ़ शक्तियों के विकास से जाना जा सकता है, यह बात अब सत्य सिद्ध हो चुकी है। कई पुरुष जिनकी एक इन्द्रिय की शक्ति दुर्घटनावश लुप्त हो जाती है,

उनकी अन्य इन्द्रिय का सामर्थ्य बढ़ जाता है, यह बात भी इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है।

विभिन्न रोगों से इन्द्रियशक्ति का सर्वथा या अंशतः लोप, अथवा उनके ज्ञान में अन्यथात्व होना, यथा एक रंग के स्थान पर दूसरा रंग दिखाई देना आदि विक्रियाओं का विवरण रोग-विज्ञान की पुस्तकों में देखना चाहिये।

अब आगे प्रमाण अनुमान का विचार करते हैं।

अनुमान का लक्षण

अनुमानं तु खलु तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ च० वि० ४।४

युक्तिः सम्बन्धोऽविनाभाव इत्यर्थः। तेन अविनाभावजं परोक्षज्ञान-मनुमानमित्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

अथाऽनुमानम्—अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः ; यथा—अग्निं जरण-शक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादि-ग्रहणेनेवमित्यादि ॥

च० वि० ८।४०

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढ़ो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशंबुधाः ॥

च० सू० ११।२१-२२

अनुमानस्वरूपमाह—प्रत्यक्षेत्यादि।—प्रत्यक्षग्रहणं व्याप्तिग्राहकप्रमा-णोपलक्षणार्थं तेन प्रत्यक्षपूर्वमिति व्याप्तिग्राहकप्रमाणपूर्वकम्। त्रिविधमित्य–

नुमानत्रैविध्यं दर्शयति ; तेन, कार्यात् कारणानुमानं, यथा,—गर्भदर्शनान्मैथुनानुमानं ; तथा कारणात् कार्यानुमानं, यथा--बीजात्सहकारिकारणान्तर युक्तात्फलानुमानं ; तथाऽकार्यकारणभूतानां च सामान्यतो दर्शनादनुमानं यथा—धूमाद्वर्तमानक्षणसम्बन्धादग्न्यनुमानम् ; एतत् त्रिविधमनुमानं गृहीतं भवति। त्रिकालमित्यनेन त्रिकालविषयत्वमनुमानस्य दर्शयति। अनुमीयते इत्यत्र 'येन तदनुमानम्' इति वाक्यशेषः। तेन, व्याप्तिग्रहणादनु-अनन्तरं मीयते सम्यङ्निश्चीयते परोक्षार्थो येन तदनुमानं, 'व्याप्तिस्मरण सहायलिङ्गदर्शनमित्यर्थः। त्रिविधमिति यदुक्तं तस्योदाहरणं दर्शयति—वह्निरित्यादि। एतच्च व्याकृतमेव। निगूढोऽदृश्यमानः, एवं व्यवस्यन्त्यतीतमिति व्यवच्छेदः। बीजादिति सहकारिकारणान्तरजलकर्षणादियुक्तादिति बोद्धव्यम्। अनागतं फलं सदृशं व्यवस्यन्तीति सम्बन्धः। 'दृष्ट्वा बीजात् फलं जातम्' इत्यनेन बीजफलयोः कारणकार्यलक्षणां व्याप्ति दर्शयति ; यद्यपि च कारणं कार्य्यं व्यभिचरति, यतो नावश्यं बीजसद्भावे फलं भवति, तथापि सहकारिकारणान्तरयुक्तं बीजं फलं न व्यभिचरति इत्यभिप्रायो बोद्धव्यः ; कारणसामग्री च कार्यं न व्यभिचरत्येव॥

—चक्रपाणि

अनु पश्चादव्यभिचारिलिङ्गाल्लिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानं ; यथा—प्रनष्टे शल्ये चन्दनघृतोपदिग्धायां त्वचि विशोषणविलयनाभ्यामनुमीयते अत्र शल्यमिति॥ सु० सू० १।१६ पर —डल्हन

"किसी प्रत्यक्ष वस्तु के ग्रहण के पश्चात् उससे नित्य संबद्ध परोक्ष वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से हो उसे अनुमान कहते हैं।

"ऊपर दिये 'नित्य संबद्ध' विशेषण से ध्वनित है कि, अनुमान

में एक शर्त आवश्यक है कि प्रत्यक्ष वस्तु का परोक्ष (अप्रत्यक्ष) वस्तु से साहचर्य होना चाहिये। (जैसे दूर पर्वत में धूम को देख कर यदि अग्नि का ज्ञान करना हो तो आवश्यक है कि, भूत-काल के बार-बार के अनुभव के आधार पर हमें यह निश्चित ज्ञान होना चाहिये कि धूम और अग्नि में नित्य साहचर्य है—अर्थात जहाँ-जहाँ धूम हो वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होता है, जैसे पाकशाला आदि में)। इस नित्य साहचर्य को 'युक्ति', 'व्याप्ति' या 'अविनाभाव संबन्ध' कहा गया है।

"अनुमान के सामान्य उदाहरण—यथा, पाचन शक्ति कैसी है—पुरुष क्या और कितना पचा सकता है, यह देखकर उसके अग्नि-बल का ज्ञान होता है; वह कितना मानसिक या शारीरिक श्रम कर सकता है, यह देखकर उसके बल (सामर्थ्य) का अनु-मान होता है; शब्दादि विषयों का ग्रहण कैसा है यह जानकर श्रोत्रादि इन्द्रियों की अविकलता (स्वरूप और क्रिया की दृष्टि से स्वस्थता) का बोध होता है। अथवा, शल्य (काँटा, शस्त्र आदि) गहराई में स्थित हो—दिखाई न देता हो तो उसके ज्ञान के लिए त्वचा पर यत्र-तत्र चन्दन या जमा हुआ घी लगायें। जिस स्थान पर लगा चन्दन सूख जाय या घी पिघल जाय, तो समझें कि उसीके नीचे शल्य है।"

"अनुमान के तीन भेद हैं—(१) कार्य से कारण का अनु-मान यथा, गर्भरूप कार्य को देखकर कारणरूप मैथुन का अनु-मान। (२) कारण से कार्य का अनुमान—यथा, सहायक

कारण युक्त बीज से फलरूप कार्य का अनुमान। (३) प्रत्यक्ष वस्तु न कार्यरूप हो न कारण रूप, ऐसी स्थिति में सामान्यतः पाया जानेवाला अनुमान (सामान्यतोदृष्ट)—यथा, धूम को देखकर अग्नि का अनुमान।

"यह अनुमान भूत, भविष्यत् या वर्तमान तीनों कालों में किसी भी काल में वर्तमान वस्तु के विषय में होता है।"

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अनुमान का ही एक भेद युक्ति है। इस युक्ति[1] का लक्षण और उदाहरण निम्नोक्त है —

युक्ति

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥

च० सू० ११।२५

युक्तेर्लक्षणमाह—बुद्धिरित्यादि।—या बुद्धिर्भावान् पश्यति विषयीकरोति बहुकारणयोगो बहूपपत्तियोगः, जनिश्चायं ज्ञानार्थे, तेन बहूपपत्तियोगज्ञाय-मानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति ऊहलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता। एवमनेन भवितव्यमित्येवंरूप ऊहोऽत्र युक्तिशब्देनाभिधीयते; सा च परमार्थतोऽप्रमाणभूताऽपि वस्तुपरिच्छेदे प्रमाणसहायत्वेन व्याप्रियमाणत्वात्, तथा तयैव ऊहरूपया प्रायो लोकानां व्यवहारादिह प्रमाणत्वेनोक्ता। अत एव प्रदेशान्तरे युक्तिं विना यथोक्तं प्रमाणत्रयं दर्शयिष्यति—"त्रिविधा वा

१—ऊपर अनुमान के लक्षण में जो युक्ति शब्द दिया है, उस का अर्थ 'व्याप्ति' या 'नित्य संबन्ध' है। वह इस युक्ति से भिन्न है।

परीक्षा सहोपदेशेन" (च० वि० ८।८३) इति वचनात्। तथा, उपमानं गृहीत्वा रोगभिषग्जितीये शब्दादीनि चत्वारि प्रमाणान्यभिधास्यति ××× ॥ यत्तु बहुकारणजलकर्षणबीजर्तुसंयोगाद्भावि सस्यज्ञानं युक्तिरुच्यते तच्चानुमानान्नार्थान्तरभूतं ; तत्रानुमानाद्भेदो दुष्कर इति नाद्रियामहे। ××× ॥ —चक्रपाणि

जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसंभवः ।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा ॥
मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसंभवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद् व्याधिनिबर्हिणी ॥

च० सू० ११।२३-२४

×× कर्षणशब्देन कर्षणसंस्कृता भूमिर्गृह्यते। जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यस्य संभवो भवतीति यज्ज्ञानं तद् युक्तिरिति योजनीयम्। षड्धातुसंयोगात् पञ्चमहाभूतात्मसंयोगात्। तथाशब्दो युक्तिरित्याकर्षति। ×× मन्थनशब्देन मन्थनरज्जुरुच्यते। युज्यते संबध्यतेऽनयेति युक्तिः, तया युक्ता युक्तियुक्ता ॥ —चक्रपाणि

"अमुक-अमुक कारणों की विद्यमानता को लक्ष्य में रखते हुए कह सकते हैं कि 'यह बात यों होगी' इस प्रकार जो कल्पना की जाती है उसे युक्ति कहते हैं। जैसे, जल, जोती हुई भूमि, बीज और ऋतु इनका संयोग विद्यमान होगा तो धान्य होगा ; पाँच महाभूत और आत्मा का संयोग होगा तो गर्भोत्पत्ति होगी ; मथने योग्य वस्तु, मन्थन-दण्ड और मन्थनरज्जु होगी तो अग्नि

की उत्पत्ति की शक्यता है ; एवं चारों चरणों की संपत्ति (उत्कर्ष) होगी तो रोग नाश होगा[१] । इस प्रकार की जो कल्पना उसे युक्ति कहते हैं ।" प्रचलित भाषा में इसे दलील कहते हैं ।

प्रत्यक्षादि के साथ कोई-कोई उपमान को भी पृथक् प्रमाण मानते हैं । उसका लक्षणोदाहरण निम्नोक्त है—

उपमान (औपम्य)

औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनं, यथा—दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्य, इष्वासेनारोग्यदस्य ॥ च० वि० ८।४२

अन्येनेति प्रसिद्धेन, अन्यस्येत्यप्रसिद्धस्य । सादृश्यमधिकृत्येति सादृश्यं प्रतिपाद्य संज्ञासंज्ञिसंबन्धं प्रति कारणतया अधिकृत्य । ×× दण्डेन दण्डकस्येति दण्डेन प्रसिद्धेना प्रसिद्धस्य दण्डकस्य साधर्म्यमाख्याच्छ्रुतवान् कुम्भकारदण्डवद्विकारदर्शने सत्ययमसौ दण्डकसंज्ञको विकार इति प्रत्येति । ××× इष्वासेनेति इषुमोक्षकेण, यथा इषुमोक्षकेण लक्ष्येऽनतिविप्रकृष्टे नापराध्यते, तथाऽऽरोग्यदेन वैद्येन वैद्यगुणैरातुरं साधयता ॥

—चक्रपाणि

प्रसिद्धसाधर्म्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्यार्थस्य साधनमुपमानं ; यथा—माषवन्मषकः, तिलमात्रस्तिलकालकः, विदारीकन्दवद् विदारीरोगः, शालूकवत् पनसिकेति ॥ सु० सू० १।१६ पर **—डल्हन**

१—आयुर्वेद-मत से वैद्य, परिचारक, औषध और रोगी ये चार चिकित्सा के चार चरण कहाते हैं । चिकित्सा में यशस्विता के लिए प्रत्येक में चार-चार गुणों का होना आवश्यक कहा गया है । यह विषय च० सू० ९।५-२६ तथा सु० सू० ३४।१५-२४ में देखिये ।

आयुर्वेदभक्तवैद्य

"उपमान अथवा औपम्य उस प्रमाण को कहते हैं कि जिसमें किसी ज्ञात सदृश वस्तु के ज्ञान से अज्ञात सदृश वस्तु का परिचय प्राप्त किया जाता है। यथा, गुरु ने कहा हो कि दण्डक रोग में शरीर दण्ड के सदृश अकड़ जाता है। यह रोग कभी गुरु ने दिखाया न हो परन्तु व्यवहार में शिष्य जब किसी रोग में शरीर को दण्ड के समान स्तब्ध देखे तो उसे ज्ञात हो जाता है कि यह और ऐसा दण्डक रोग होता है। इसी प्रकार धनुष के सादृश्य से धनुःस्तम्भ का, माष के सादृश्य से मस्से का, तिल के सादृश्य से तिल का, विदारी कन्द के सादृश्य से विदारी रोग का, कमल के कन्द के सादृश्य से पनसिका नामक रोग का एवं उत्तम धनुर्धारी जैसे अचूक लक्ष्यवेध करता है उसी प्रकार उत्तम वैद्य निश्चित आरोग्य देता है इस बात का ज्ञान प्राप्त करता है।"

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षणोदाहरणों का निर्देश हुआ। आयुर्वेद में इन का महत्त्व यह है कि इन की सहायता से रोग की परीक्षा होती है। प्रत्येक प्रमाण से रोगों की परीक्षा में क्या-क्या जाना जाता है, इस बात का उल्लेख अब किया जाता है।

आप्तोपदेश से रोग-परीक्षा—

तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः–रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थान[1]-

१—इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्। तत् त्रिविधम्—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति॥ च० नि० १।३

मेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थान[1]मेवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात्; तस्मिन्निय प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ॥ च० वि० ८।६

तत्रेत्यादिनाऽऽप्तोपदेशगम्यमाह। प्रकोपणं वायो रूक्षत्वादिहेतुः। योनिर्वातादयः। आत्मा स्वभावः; यथा रोहिण्या दारुणत्वं, संन्यासस्य शीघ्रोपक्रमणीयत्वादि। अधिष्ठानं शरीरमवयवा मनश्च। इयं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिः, यथा—ज्वरे लङ्घनपाचनाद्यर्था प्रवृत्तिः। निवृत्तिश्च प्रतीकारार्था यथा-नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानादौ निवृत्तिरित्यादि मन्तव्यम् ॥ —चक्रपाणि

"आप्त अर्थात् गुरु आदि के मुख से प्रत्येक रोग के विषय में नीचे लिखी बातें जानी जाती हैं—रोग के प्रत्यासन्न कारणभूत दोष के प्रकोपक (विप्रकृष्ट) कारण ये-ये होते हैं; इस रोग की योनि अर्थात् प्रत्यासन्न या साक्षात् कारणभूत दोष यह है; इस का निदान अर्थात् प्रकोपक कारण का भी कारणभूत प्रज्ञापराधादि कारण इस प्रकार है; अन्य रोगों से इस की विशेषता, इस में विशेषतः लक्ष्य में रखने योग्य बात यह है—जैसे रोहिणी[2] रोग बड़ा भीषण होता है, संन्यास[3] में तत्काल उपाय करना आवश्यक है इत्यादि; इस रोग का अधिष्ठान अर्थात् आश्रय सर्वाङ्ग, अमुक अवयव अथवा मन है; इस में इस-इस प्रकार की वेदना होती

१—प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम् ॥ च० नि० १।९

२—Diphtheria—डिफ्थीरिआ।

३—Apoplexy—ऍपोप्लैक्सी। इन दोनों रोगों के लक्षण गुरुमुख से जानने चाहिये।

है ; इस के लक्षण ये-ये होते हैं ; इस में इस-इस प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध होते हैं ; इस के उपद्रव ये-ये होते हैं ; इस की वृद्धि, क्षय अथवा स्थिति के ये-ये कारण और लक्षण हैं ; इस का परिणाम[1] ये-ये होते हैं ; इस का यह नाम है ; इस में ये-ये योग (नुस्खे, पाठ) दिये जाते हैं ; इस की चिकित्सा में ये-ये वस्तुएँ पथ्य हैं और ये-ये अपथ्य।"

प्रश्न भी आप्तोपदेश का ही एक भेद है। कारण, प्रश्न के द्वारा जो रोगी का नाम, इतिहास, लक्षण आदि जाने जाते हैं, उन के विषय में रोगी अथवा समीपवर्ती स्वजनादि, जानकार होने से, आप्त ही हैं[2]। अथवा कई बार प्रश्नों के द्वारा कई बातें जान कर उन के आधार पर अनुमान किया जाता है। ऐसे स्थलों में इसे आप्तोपदेशाश्रित अनुमान कह सकते हैं। प्रश्न के द्वारा नीचे लिखी बातें जानी जाती हैं।

प्रश्न से रोगपरीक्षा

× × × प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्कसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रायं बलमन्तरग्निं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्तिमप्रवृत्तिं कालप्रकर्षा-

---

१—After-effects—ऐफ्टर-इफेक्ट्स।

२—त्रिविधा वेत्यनेन व्याधिपरीक्षासमये ह्याप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते ; ग्रहणीमार्दवस्वप्नदर्शनादिप्रतिपत्तौ तथा दुरधिगमस्थानसं-श्रयादिप्रतिपत्तौ तथा कोष्ठमृदुदारुणत्वादिपरोक्षायां चातुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियत इति दर्शयति—च० वि० ४।५ पर चक्रपाणि। यहाँ चक्रपाणि ने स्पष्ट ही रोगी (तथा उस के स्वजनों) को भी आप्त कहा है।

दींश्च विशेषान्[१]। आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानीयात् ॥
—सु० सू० १०।५

× × × देशस्त्रिविधो जाङ्गलानूपसाधारणभेदात्। जातिशब्दो ब्राह्मणादिषु वर्तते। कालो द्विविधो नित्यग आवस्थिकश्च; नित्यग ऋतुलक्षणः, आवस्थिको द्विविधः—स्वस्थस्य बाल्यादिभेदेन, व्याधितस्य ज्वरारम्भादि कालावस्थया च। सात्म्यमिति यद्यस्य सेवितं सत् सुखाय संपद्यते तत् तस्य सात्म्यं; तच्च द्विविधं चेष्टाख्यमाहाराख्यं च; चेष्टाख्यं कायवाङ्मनोभेदात् त्रिविधम्, आहाराख्यं रसभेदात् षड्विधम्। आतङ्कसमुत्पत्तिमिति समुत्पत्तिः कारणमुच्यते, तच्च बलवद्विग्रहादि। वेदनासमुच्छ्रायमिति वेदना वातादिवेदनास्तोदादयः, तासां समुच्छ्राय उद्गतिः। बलं व्यायामगम्या शक्तिः। अन्तरग्निमिति कीदृशोऽन्तरग्निः? समो विषमो मन्दो वा। वातमूत्रपुरीषाणामित्यत्रादिशब्दो लुप्तो ज्ञेयः, तेनार्तवाधोगतरक्तपित्तादीनां ग्रहणम्। कालप्रकर्षादींश्च विशेषानिति कियान् कालोऽस्मिन् व्याधावुत्पन्न इत्यादीन् भेदान्, चकाराद् गुह्यदेशप्रवृत्तपूयादीनां ग्रहणम्। × × ×। आत्मासदृशेषु दोषसदृशेषु, विज्ञानाभ्युपायेषु षड्विधेषु श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणप्रश्नेषु। तत्र वातसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु पञ्चेन्द्रियप्रश्नेषु व्रणे सशब्दफेनरक्तानिलादिनिर्गमनं श्रवणेन्द्रियग्राह्यं, पारुष्यरौक्ष्यादिकं त्वगिन्द्रियग्राह्यं, भस्मकपोतास्थिसवर्णत्वं चक्षुरिन्द्रियग्राह्यं, कटुगन्धलाजगन्धादित्वं घ्राणेन्द्रियग्राह्यं, कषायरसत्वं रसनेन्द्रियग्राह्यं, तोदनभेदनच्छेदनादि विशेषाः प्रश्नग्राह्याः; पित्तसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु श्वयथुव्रणादीनामौष्ण्यं त्वगिन्द्रियग्राह्यं, नीलपीतवर्णत्वं चक्षुरिन्द्रियग्राह्यम्, ओषचोषपरिदाहादिका वेदनाविशेषाः प्रश्नग्राह्याः; श्लेष्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु स्निग्धपैच्छिल्यादिकं त्वगिन्द्रियग्राह्यं, श्वेतत्वं चक्षुरिन्द्रियग्राह्यं, माधुर्यादि रसनेन्द्रियग्राह्यं, विस्रगन्धादित्वं घ्राणेन्द्रियग्राह्यं, कण्डूगुरुत्वादि वेदना-

१—इस वचन तथा इस की टीका का अर्थ आगे 'प्रत्यक्ष से रोगपरीक्षा' के प्रकरण में और अंशतः यहाँ भी लिया है।

विशेषाः प्रश्नग्राह्याः। वैद्यो जानीयादिति कान्? व्याधीन्; अधिकार-वशादक्षरैरनुक्तानपि; केषु सत्सु? षड्विधेष्वपि विज्ञानाभ्युपायेष्वा-त्मसदृशेषु वातपित्तश्लेष्मसदृशेषु; कैर्जानीयात्? तत्स्थानीयैः तेषां शब्दा-दीनां स्थानानि श्रोत्रादीनि तेष्वधिकृतैः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः तत्स्थानीयैः एतेनैतदुक्तं भवति—वातादिलिङ्गैरायुर्वेदेष्वनिर्दिष्टनामधेयानपि व्याधीन् कुशाग्रमतिर्वैद्यो जानीयादिति। ××× ॥ —डल्हन

××× ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति ॥ च० वि० ४।८

परिप्रश्नेनैवेति वचनेन यद्यपि ग्रहणीमार्दवाद्यनुमानादपि पार्यते ज्ञातुं, तथाप्यनुमानस्य बुद्धिप्रयासबहुत्वेनातुरपृच्छयैव सुखोपचाररूपया विद्याद् ग्रहणीमार्दवादीनीति दर्शयन्ति। अभिप्रायो भोजनादीच्छा। द्विष्टेष्ट-शब्देन तु द्विष्टेप्सितप्रेष्यादिग्रहणम् ॥ —चक्रपाणि

हेत्वर्तुसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः ॥
च० चि० २५।२३

अग्निश्च यद्यपि 'अग्निं जरणशक्त्या' (च० वि० ४।८) इति वचनाद-नुमानविषय उक्तस्तथापि प्रश्नेनाग्निरवगम्यत एवेति कृत्वेह वचनपरीक्षणी-यतैवोक्ता वह्नेः ॥ ——चक्रपाणि

"प्रश्न से निदान और चिकित्सा में उपयोगी अनेक बातें विदित होती हैं। जैसे—

"देश—देश शब्द से यहाँ केवल भारत, चीन, ब्रिटेन इत्यादि अभिप्रेत नहीं हैं। परन्तु, देखा जाता है कि, वर्षा, वृक्ष-वनस्पति आदि किसी स्थान पर तो अधिक होते हैं और कहीं न्यून या मध्यम। उन्ही के कारण अमुक स्थान पर अमुक दोष अधिक होता है और तज्जन्य रोग भी अधिक होते हैं, पर इतर दोष और तज्जन्य रोग न्यून होते हैं; इतना ही नहीं अन्यत्र वह

दोष प्रकुपित होकर तज्जन्य कोई रोग हुआ हो तो उसकी, इस स्थान पर आने से (सामान्य भाषा में कहें तो जलवायु-परिवर्तन से), औषध और पथ्य के बिना ही शान्ति हो जाती है। स्थानों के इस स्वभाव-भेद को लक्ष्य में रखकर उनके तीन भेद किये गये हैं—

अनूप जाङ्गल और साधारण[1]। इन्हें देश कहा जाता है। रोगी सामान्यतः किस देश में रहता है अथवा रोगी होने के पूर्व किस देश में रहा है, यह विदित हो तो इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि कौन सा दोष रोग का कारणभूत होना संभव है। इसके अतिरिक्त देश शब्द से भारतादि प्रसिद्ध देश अथवा उनके प्रान्त भी ग्राह्य हैं। देखते हैं कि विभिन्न प्रान्तों के निवासियों का आहार-विहार भिन्न-भिन्न होता है। उन आहार-विहारों के कारण उन्हें अमुक रोग होना अधिक संभव होता है। इस बात का विचार रोग-निदान में सहायक होता है[2]।

काल—विभिन्न ऋतुएँ, बाल्य आदि अवस्थाएँ तथा रोगों की साम-निराम, तरुण-जीर्ण आदि अवस्थाएँ—इन सबको आयुर्वेद में काल कहा जाता है, यह काल के प्रकरण में कह आये

१—विभिन्न देशों का स्वरूप जानने के लिए देखिये—सु० सू० ३५।४२-४५ तथा च० क० १।८।

२—च० चि० ३०। ३१५-३२० तथा च० वि० १।२०-२१ में उस काल में विभिन्न देशों में विशेष प्रचलित कुछ द्रव्य तथा उनके दुष्प्रभाव दिखाये हैं।

हैं। भिन्न-भिन्न ऋतु में तथा भिन्न-भिन्न वय में भिन्न-भिन्न दोष का प्रकोप तथा तज्जन्य रोग विशेष होते हैं। रोग वर्तमान ऋतु में उत्पन्न हुआ है या किसी पूर्वतर ऋतु से चालू है, रोगी का वय (उम्र) क्या है, रोग कब आरम्भ हुआ इत्यादि प्रश्नों से विभिन्न कालों को जानने से रोग-निदान में सहायता होती है।

"**कारण या निदान**—रोगोत्पत्ति के कारणभूत प्रज्ञापराध आदि का ज्ञान प्रश्न से ही होता है।

"**जाति**—जाति अर्थात् ब्राह्मणत्वादि के ज्ञान से व्यवसाय का अनुमान होता है। अमुक-अमुक व्यवसाय वालों को अमुक-अमुक रोग विशेष होने की संभावना होती है। (यथा—ब्राह्मणों को प्राय; बैठे रहने से, समय-असमय पर ठण्डी-गरमी सहन करने, पूजापाठ आदि के समय उपस्थित वेग को रोकने, यजमान का दिया जैसा-तैसा प्रायः खा लेने से—विषमाशन से—वातिक रोग होने की संभावना होती है। सुवर्णकारों को फूँकते रहने से श्वासरोग होने की शक्यता होती है और वह असाध्य होता है। इसी प्रकार विभिन्न व्यवसायों से विभिन्न रोगों का विशिष्ट सम्बन्ध है। इनका विशेष अध्ययन चिकित्सा के ग्रन्थों में करना चाहिये।

"**सात्म्य**—जो आहार-विहार जिसे अनुकूल होता है वह उसके लिए सात्म्य कहा जाता है। आहार-विहार के अतिरिक्त

कई लोगों को अहिफेन, भाँग, गाँजा आदि अभ्यास से सात्म्य (ओकःसात्म्य) होते हैं। प्रश्न से इनका ज्ञान होता है, जिससे निदान और औषध-निर्णय में सहायता होती है।

"रोग की उत्पत्ति—रोग की उत्पत्ति अर्थात् रोग का प्रारम्भ कैसे—किन कारणों से हुआ ?—पश्चात् उसका विकास कैसे होता गया ?—यह प्रश्न से विदित होता है। कारण किस दोष के प्रकोप के अनुकूल है यह ज्ञात होने से प्रकुपित दोष का अनुमान सुकर हो जाता है। यथा, बलवान् पुरुष के साथ युद्ध करने से ज्वरादि हुआ हो तो कल्पना हो सकती है कि रोग वात-प्रधान है।

"वेदना—वात से होने वाला तोद (सुई चुभने की-सी व्यथा), भेद (सिर आदि फटने का-सा अनुभव), शूल (छुरा या भाला भोके जाने का सा अनुभव) आदि वातिक वेदनाएँ; ओष (जलन), चोष (चूसे जाने की सी प्रतीति) आदि पैत्तिक वेदनाएँ; एवं कण्डू, गौरव आदि श्लैष्मिक वेदनाएँ प्रश्न से जानी जाती हैं। इनसे रोगारम्भक दोष का ज्ञान होता है।

"बल—शारीरिक-मानसिक श्रम (या औषध के वीर्य को) सहन करने की शक्ति को बल कहते हैं।

"अन्तरग्नि जठराग्नि—अग्नि मन्द (कफप्रधान), तीक्ष्ण

(पित्तप्रधान), विषम (वातप्रधान) अथवा सम[1] कैसा है यह प्रश्न से ज्ञात होता है। (अग्नि उत्तम हो तो रोग शीघ्र शान्त होने की आशा होती है।)

"**कोष्ठ या ग्रहणी**—अन्तरग्नि के साथ कोष्ठ मृदु, क्रूर या मध्य कैसा है, यह भी प्रश्न द्वारा जाना जाता है[2]।

"**मलों की प्रवृत्ति**—अधोवायु, मूत्र, पुरीष, आर्तव अधोगामी रक्तपित्त (गुद आदि से होने वाला रक्तस्राव), मूत्रमार्ग से पूय का स्राव इत्यादि की स्थिति कैसी है, यह बात प्रश्न से विदित होती है।

"**रोग की अवधि**—रोग प्रारम्भ हुए कितना काल हुआ इत्यदि बातें रोगी अथवा उसके परिजनों को पूछने से जानी जाती हैं। (प्रायः रोग जैसे-जैसे जीर्ण होते जाते हैं वैसे-वैसे असाध्य होते जाते हैं। अतः अवधि जानना आवश्यक होता है।

"**स्वप्न**—स्वप्नों से रोग का निदान, साध्यासाध्यता, अरिष्ट (मरण-चिह्न) और प्रधान दोष का ज्ञान होता है। रोगी को स्वप्न कैसे आते हैं, यह प्रश्न से ही विदित होता है।

"**भोजन की इच्छा**—कौन-सा आहार-द्रव्य या अन्य वस्तु

१—चारों अग्नियों का विशेष वर्णन जानने के लिए देखिये—शरीर-क्रियाविज्ञान पृ० ३८३।२—कोष्ठों का स्वरूप जानने के लिए देखिये—शरीरक्रियाविज्ञान पृ० ३८५।

पसन्द या नापसन्द है, तबियत कैसी है, पहले से अच्छी या खराब ये बातें भी प्रश्न से जानी जाती हैं।

"इनके अतिरिक्त अन्य कई बातें जिनका रोगी अथवा स्वजनों ने प्रत्यक्ष किया हो उन्हें उनसे पूछने से बहुत-सी जानकारी प्राप्त होती है" और उसके आधार पर तथा निज प्रत्यक्ष के अनुसार वैद्य कई बातों को अनुमान से जान सकता है। अनुमानगम्य बातों का उल्लेख आगे करेंगे।

प्रत्यक्ष से रोग परीक्षा

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्; तद्यथा अन्त्रकूजनं, सन्धिस्फुटनमङ्गुलीपर्वणां च, स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत; वर्णसंस्थान[1] प्रमाणच्छायाः शरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत। × × × गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत; स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तम्॥ च० वि० ४।७

अङ्गुलीपर्वणां च स्फुटनमिति संबन्धः। अन्येऽपि चेति कासहिक्काशब्दादयः। यानि चान्यानीत्यनेन लक्षणप्रभादीनि गृह्यन्ते।

—चक्रपाणि

वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियानां च दर्शनात्।
स्पर्शान्मार्दवशैत्ये तु परीक्ष्ये सविपर्यये॥

च० चि० २५।२२-२३

१—संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च सा। च० इ० ७।८॥

इन्द्रियाणि च यद्यपि अतीन्द्रियत्वादनुमानगम्यानि; तथापीह तदधिष्ठानानामिन्द्रियशब्देनोपादानम्। ××× सविपर्यये इति काठिन्यौष्ण्ये ××× दर्शनशब्दश्चात्र साक्षादुपलब्धिवचनः, तेन व्रणगतगन्धेनापि व्रणपरीक्षणं संगृहीतं भवति। दर्शनशब्देन च गृहीतोऽपि स्पर्श इह भूयसा व्याप्रियमाणत्वात् पुनरुक्तः॥ —चक्रपाणि

तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणस्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते—'तत्र सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दोनिर्गच्छति' (सु० सू० २६।१०) इत्येवमादयः ; स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयो ज्वरशोफादिषु ; चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः ; रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः ; घ्राणेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानां च गन्धविशेषाः॥

सु० सू० १०।५

×× उपचयः स्थौल्यम्, अपचयः कार्श्यं, बलमत्रोत्साहः। ननु प्रमेहादिषु रसा मधुरादयो मक्षिकापिपीलिकाद्युपसर्पणेन भिषग्भिरनुमेयाः, तत् कथं रसनेन्द्रियविज्ञेया इति? उच्यते, नात्र भिषजां रसनेन्द्रियं किन्तु पिपीलिकादीनामित्यदोषः॥ —डह्लन

"रोगी की परीक्षा करते हुए, उसके शरीर में रस को छोड़ कर अन्य जितने भी शब्दादि विषय हैं उनको अपनी ज्ञानेन्द्रियों से जाने। रस के प्रत्यक्ष का निषेध इसलिए है कि वह घृणाजनक होने से उसका आगे कहे प्रकार से अनुमान ही करना चाहिये।

"अन्त्रकूजन (पेट में गुड़गुड़ी), सन्धियों में स्फुटन (वाता-

धिक्य से कड़-कड़ बोलना), कास, हिक्का आदि शब्दों की परीक्षा श्रोत्रेन्द्रिय से करे। (संप्रति, हृदय और फुप्फुस के प्राकृत-विकृत शब्दों की परीक्षा के लिए स्टेथोस्कोप[१] का पुष्कल व्यवहार होता है। इसका भी अभ्यास रोग-परीक्षा में उपयोगी है। परन्तु इस तथा अन्य अन्त्रों के भरोसे रह कर रोग-परीक्षा की अपनी नैसर्गिक शक्ति को कुण्ठित नहीं करना चाहिये–तस्मात् प्रयत्नमातिष्ठेद् भिषक् स्वगुणसम्पदि—च० सू० ६।२५)।

"वय, वर्ण, आकृति, प्रमाण (अवयवों की तथा सम्पूण शरीर की लम्बाई-चौड़ाई), छाया, शरीर में दिखाई देने वाली स्वाभाविक बातें तथा उनमें विकृतियाँ, चक्षु आदि इन्द्रियों की स्वाभाविकता या विकृति, शरीर की पुष्टि या क्षीणता, आयु के लक्षण, उत्साह इत्यादि बातों को चक्षुरिन्द्रिय से जाने। (इन दिनों चक्षुरिन्द्रिय की सहायता के लिए एक्स-रे, अणुवीक्षण[२] आदि का अविष्कार हुआ है। इनका उपयोग उत्तम है, पर इनके विषय में भी ऊपर कही बात को स्मरण रखना चाहिये)।

"स्वेद, मल, मूत्र, व्रण आदि के स्वाभाविक गन्ध, अरिष्ट (मरण-सूचक) गन्ध आदि को घ्राणेन्द्रिय से जाने।

"शीत-उष्ण, श्लक्ष्ण-कर्कश, मृदु-कठिन आदि स्पर्शों को त्वगिन्द्रिय से जाने। (शीत-उष्ण की परीक्षा के लिए आजकल

१—Stethoscope.

२—Microscope—माइक्रोस्कोप।

तापमापक[1] का व्यवहार होता है। उसके विषय में ज्ञातव्य बातें जानना आवश्यक है)।

"शल्यतन्त्र में व्रणों के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जानी जाती हैं। उनका विशेष निर्देश शल्यतन्त्रों में देखा जा सकता है।"

प्रत्यक्ष, प्रश्नरूप आप्तोपदेश तथा गुरूपदेशरूप आप्तोपदेश के आधार पर अनुमान से रोग-परीक्षा में नीचे लिखी बातें जानी जाती हैं।

अनुमान से रोगपरीक्षा

रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्, यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसंदेहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद् धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्, एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत ॥ च० वि० ४।७

इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः संगेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन,

१—Thermometer-थर्मोमीटर।

द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेण ॥ च० वि० ४।८

भूयोऽनुमानज्ञेया इत्यनेनानुमानगम्यतया वक्ष्यमाणाः केचिदग्निबलादय आतुरोपदेशगम्या अपि भवन्तीति सूचयति। मनोऽर्थाव्यभिचरणेनेति सतीन्द्रियाणामर्थसंबन्धे यदिदं कदाचिच्छब्दं प्रत्येति, कदाचिद्रसमित्याद्ययौगपद्येन सर्वार्थान् प्रत्येति, तेनास्ति कारणान्तरमिन्द्रियार्थग्राहकं मन इत्यनुमीयते। ज्ञानं व्यवसायेनेति व्यवसायः प्रवृत्तिः, यथा—पेयजले पानार्था प्रवृत्तिः, तेनानुमीयते जलज्ञानमस्य जातं, कथमन्यथा ज्ञानकार्यार्थक्रियायां प्रवर्तत इति। रजः संगेनेति नार्यादिसंगेन, तत्कारणं रजोऽनुमीयते। अभिद्रोहः परपीडार्था प्रवृत्तिः। दैन्यं रोदनादि। आमोदो नृत्यगीतवादित्राद्युत्सवकरणम्। तोषो मुखनयनप्रसादादिः, एतेन प्रीतिस्तोषमात्रं, हर्षस्तु प्रीतिविशेषो मनउद्रेककारक इत्युक्तं भवति। धैर्यं विपद्यपि मनसोऽदैन्यम्। वीर्यमारब्धदुष्करकार्येष्वव्यावृत्तिर्मनसः। उत्थानेनेति क्रियारम्भेण। अवस्थानं स्थिरमतित्वम्। अविभ्रमेणेत्यभ्रान्त्या। श्रद्धामिच्छाम्। अभिप्रायेणेति अभ्यर्थनेन। ग्रहणेनेति ग्रन्थादिधारणेन। स्मृतिमिति स्मृतिजनकं संस्कारम्; स्मरणेन हि तत्कारणं संस्कारोऽनुमीयते। ह्रियमिति लज्जाम्। अपत्रपणेनेति लज्जिताकारेण। शीलमिति सहजं वस्तुषु रागम्। अनुशीलनेनेति अनुशीलनं संततशीलनं तेन; सततं यमर्थं सेवते तच्छीलोऽयमित्यनुमीयते। प्रतिषेधेनेति व्यावृत्त्या। उपेत्य

धीयते इति उपधिश्छद्म इत्यर्थः, तमनुबन्धेनेति उत्तरकालीनफलेन ; उत्तरकालं हि भ्रात्रादिवधेन फलेन ज्ञायते—यदयमुन्मत्तछद्मप्रचारी चन्द्रगुप्त इति । विधेयतयेति विधेयप्रचारेण । वयःप्रभृतीनि व्याधिसमुत्थानान्तानि चत्वारि यथासंख्यं कालादिविशेषेण ज्ञायन्ते । तत्र कालविशेषेण षोडशवर्षादिना वयो बाल्यादि ज्ञायते ; देशेन तु भक्तिरिच्छा ज्ञायते, यथा हि—अयं मध्यदेशीयस्तेनास्यगोधूममाषादिष्विच्छाऽनुमीयते ; यस्माच्चेदमस्योपशेते तेनेदमस्य सात्म्यमिति ज्ञायते ; वेदनाविशेषेण व्याधिसमुत्थानं ज्ञायते, यथा—यस्मादयं संतापवेदनावान्, तस्मादस्य ज्वरव्याधिसमुत्थानं भूतमित्यादि ज्ञेयम् । गूढलिङ्गमिति विशेषणेनागूढलिङ्गे व्याधौ लिङ्गैरेवावधारिते नोपशयानुपशयाभ्यां परीक्षा करणीयेति दर्शयति । अपचारविशेषेणेति महताऽपचारेण भूरिदोषो भवति, स्वल्पेन स्वल्प इति । कल्याणाभिनिवेशेनेति श्रेयस्करमार्गानुष्ठानेन ; एतद्धि अचिरश्रेयसामेव भवति । सत्त्वमिति सत्त्वगुणोद्रेकम् । अविकारेणेति रागद्वेषविकाराभावेन ॥ —चक्रपाणि

"रोगी के शरीर में—मुख, त्वचा आदि में—जो विभिन्न अस्वाभाविक रस होते हैं उनके ज्ञान से दोष तथा रोग की परीक्षा में सहायता होती है । (यथा—मुख में तिक्त रस हो तो पित्ताधिक्य का अनुमान होता है—इत्यादि)। यह रस यद्यपि रसनेन्द्रियगम्य होता है तथापि उसकी परीक्षा घृणावश अपनी रसना से करना शक्य नहीं होता । अतः उसकी अनुमानादि से परीक्षा करनी होती है । यथा—रोगी के मुखगत रस की परीक्षा उसे पूछ कर करे । शरीर में विरसता--अस्वाभाविक रस का

प्रसार—हो तो उसे जुंओं के शरीर छोड़ कर भागने से करे। शरीर पर मक्खियाँ बैठती हों तो शरीर में माधुर्य है[1] इस बात का अनुमान करे। गुद, योनि आदि मार्गों से कभी-कभी दूषित रक्त के समान शुद्ध रक्त (धारि रक्त, जीवरक्त) भी निकलता है। दूषित रक्त का समान्यतया निकलने देना ही अभीष्ट होता है, जब कि शुद्ध रक्त एक बिन्दु भी बाहर न जाय यह वाञ्छनीय होता है। इन मार्गों से निकलता रक्त शुद्ध है या दूषित, इस बात की शङ्का हो तो निकले हुए रक्त का चावल या सत्तू में मिला कौए या कुत्ते के सामने रखे। वे खायँ तो जीवरक्त समझें अन्यथा पित्तदूषित रक्त मानें।[2]

"रस के अतिरिक्त निम्नोक्त बातें भी अनुमान से जानी जाती हैं।—रोगी की पाचनशक्ति कैसी है इससे उसके अग्निबल को जाने। श्रम करने की शक्ति को देखकर बल का अनुमान करे। शब्दादि विषयों का ग्रहण कैसा है इससे ज्ञानेन्द्रियों की स्वकार्यक्षमता की परीक्षा करे। जिस अर्थ का ग्रहण अभीष्ट है उसी का ग्रहण होता है या नहीं इस पर से मन के आरोग्य का

१—इक्षुमेह में (जिसे प्रचलित भाषा में मधुमेह कहते हैं) तथा उसके विना भी रस-रक्त में द्राक्षाशर्करा (Glycogen–ग्लायकोजन) की उपस्थिति होने से शरीर में माधुर्य होता है। इस रोग को अंग्रेजी में Glycemia-ग्लायकोमिया (शब्दार्थ—रक्त में शर्करा) कहते हैं। मधुमेह शब्दकी अनुकृति में इसे मधुरक्त कह सकते हैं। मधुरक्त तथा इक्षुमेह में मधुररस किंवा शर्करा की परीक्षा आजकल रासायनिक विधियों से की जाती है।

२—यह विषय विस्तार से शरीरक्रियाविज्ञान पृ० १६० पर देखिये।

अनुमान करे। ज्ञान होता है या नहीं और होता है तो वह यथार्थ है वा नहीं इस बात का अनुमान प्रवृत्ति—चेष्टा—से करे। जैसे, प्यास लगे तो, जल पीने की प्रवृत्ति हो तो, समझे कि रोगी को जल आदि का यथार्थ ज्ञान है। विषय-सेवा की इच्छा तीव्र है या मन्द इस बात से रोगी के रजोगुण की इयत्ता (प्रमाण) की परीक्षा करे। अयथार्थ या मिथ्याज्ञान से मोह (मूढ़ता—तमोगुण) की, अन्यों को पीडा देने की प्रवृत्ति से क्रोध की, रोदन आदि के द्वारा प्रकट की गयी दीनता से शोक की, नृत्य-गीत-वाद्य आदि के द्वारा रोगी उत्सव मनाता हो तो उससे हर्ष की, एवं मुखनेत्रादि से प्रसन्नता झलकती हो तो प्रीति (स्नेह) की परीक्षा करे। विषाद अर्थात् चित्त के भङ्ग (घबराहट) को देख कर भय का, अविषाद अर्थात् मन की दृढता को देख कर धैर्य (विपत्ति में भी अदीनता) का, एवं अभीष्ट कार्यों में उत्साह और तत्परता को देख कर वीर्य (विकट भी कार्यों में मन का व्यथित और विमुख न होना) का अनुमान करे। भ्रमका अभाव देख कर स्थिरबुद्धिता, तत्-तत् वस्तु की माँग देख कर इच्छा, कही हुई या लिखी हुई वस्तु के समझने (ग्रहण) की शक्ति कैसी है इसपर से मेधा और रोगी वस्तुओं का नाम ठीक-ठीक लेता है या नहीं इस पर से संज्ञा अर्थात् वस्तुओं के नामों के स्मरण की शक्ति को जाने। स्मरण को देखकर स्मृतिशक्ति को, लज्जा के लक्षण देखकर ह्री (निन्दित कर्मों के प्रति जन्मजात लज्जा) को, बार-बार अमुक आहार-विहार के प्रति प्रवृत्ति देखकर शील

अर्थात् स्वभावतः किन वस्तुओं में रोगी का अनुराग है इस बात को, नकार (नहीं चाहिये इस प्रकार संकेत या वाणी द्वारा जतलाना) द्वारा वस्तुविशेष के प्रति द्वेष—अरुचि—को तथा परिणाम देखकर छल-कपट को—अर्थात् रोगी ने अपथ्यादि करके भी झूठ बोलकर छिपाया हो तो उसे दुष्परिणाम देखकर—जाने। अलोलुपता को देखकर धृति—संयम—का, रोगी को जैसा कहें वैसा करता हो तो आज्ञाकारिता का, बताये काल से वय का, देश अर्थात् कहाँ का रहने वाला है, इस बात को जान कर भक्ति अर्थात् इच्छा का—जैसे मध्य देश का है, यह विदित हो जाय तो इसकी गेहूं और उर्द खाने की अभिरुचि है इस बात का—अनुमान करे। रोगी को कौन वस्तु हितकर पड़ती है यह (उपशय) जानकर उसके सात्म्य (अनुकूल) का, और तत्-तत् वेदना (लक्षण) देखकर रोग का—जैसे संताप हो तो ज्वर का अनुमान करे। रोग के लक्षण स्पष्ट न हों तो कौन आहारद्रव्य, विहार या औषधद्रव्य रोगी को हितकर—उसके रोग की शान्ति करने वाला (उपशय) है और कौन अहितकर (अनुपशय) —इस बात को पूछकर किंवा परीक्षार्थ स्वयं उपयोग कराकर जान कर, रोग को जाने[१]। रोगी ने स्वस्थवृत्त के नियमों का भङ्ग

१—रोग के ज्ञान के उपायभूत जो पांच प्रकार के निदान शास्त्र में कहे हैं उनमें एक 'उपशयानुपशय' भी है। इसका विशेष विवरण जानने के लिए च० वि० १।१० तथा चक्रपाणि की टीका देखिये। आयुर्वेद-जगत् में उपशयानुपशय के लक्षणसंम्बन्धी प्रसिद्ध श्लोक अ० हृ० नि०१।६-७

(अपचार) कितने प्रमाण में किया है यह जानकर दोष की इयत्ता कितनी है इस बात को, अरिष्ट (मरण-सूचक चिह्न)[1] देखकर मरण की निकटता को, रोगी की प्रवृत्ति हितकर बातों के करने के प्रति है यह देखकर उसके निश्चित और निकटवर्ती कल्याण को, एवं रागद्वेषादि विकारों का अभाव देखकर सत्त्वगुण के उत्कर्ष का[2] अनुमान करे। ''

दर्शन, प्रश्न और स्पर्शरूप त्रिविध परीक्षा

ऊपर कह आये हैं कि रोगी तथा उसके स्वजन भी वैद्य के प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देते हुए 'आप्त' ही होते हैं, तथा उनका उत्तर आप्तोपदेश ही होता है। रोगी की परीक्षा में तत्काल

तथा माधवनिदान, पञ्चनिदान श्लोक ८-९—इन स्थलों पर देखिये। डाक्टर लोग 'यह मैलेरिया है या टायफायड' इस बात की परीक्षा के लिये प्रथम समुचित मात्रा में क्वीनाइन देते हैं। उससे ज्वर उतर गया तो मैलेरिया का निदान करते हैं; ज्वर न उतरा तो मैलेरिया के अतिरिक्त कोई ज्वर है, यह निर्णय करते हैं। उपशयानुपशय से रोगपरीक्षा का यह उत्तम उदाहरण है। इसे 'Tentative diagnosis टेण्टेटिव डायग्नोसिस = परीक्षार्थ निदान' कहते हैं।

१—निश्चित मरण-सूचक चिह्नों, स्वप्नों तथा दूतों का आयुर्वेदीय संहिताओं में विस्तार से उल्लेख है। इस उपेक्षित प्रकरण पर वैद्यों को अवश्य ध्यान देना चाहिये ऐसा मेरा नम्र मत है। चरक में समस्त इन्द्रियस्थान (बारह अध्याय) तथा सुश्रुत में सूत्रस्थान अ० २९ से ३३ तक यह विषय आया है।

२—क्रोध, शोक, रजोगुण, विषाद आदि मनो भावों का रोगों से गाढ़ सम्बन्ध है, यह मन के प्रकरण अध्याय सातवां में देख आये हैं।

व्यवहार में आनेवाला आप्तोपदेश यह प्रश्नोत्तररूप आप्तोपदेश ही होता है। गुरूपदेशरूप आप्तोपदेश का तदनुसार विमर्श के अतिरिक्त तत्काल साक्षात् उपयोग नहीं होता। अपरंच, स्पर्श-परीक्षा यद्यपि प्रत्यक्ष का ही एक भेद है तथापि उसका प्रचुर उपयोग होने के कारण ब्राह्मणकौण्डिन्य न्याय से उसका अन्य प्रत्यक्षों से अलग ग्रहण किया जा सकता है। शेष प्रत्यक्षों में दर्शन का ही विशेष व्यवहार होने से उसीका निर्देश किया जा सकता है। अनुमान परीक्षा क्योंकि दर्शन, प्रश्न और स्पर्शन के अनन्तर और तदाश्रित होती है, अतः उसका उसीमें अन्तर्भाव हो जाता है। इस विचार-पद्धति के अनुसार रोग-परीक्षा के तीन अङ्ग रह जाते हैं—दर्शन, प्रश्न और स्पर्श।" रोग-परीक्षा के ये तीन भेद ही वैद्य-संप्रदाय में विशेष प्रसिद्ध हैं। अब यही बात चरक तथा उसके टीकाकार चक्रपाणि के शब्दों में देखिये—

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा मता।
वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात् ॥
हेत्वर्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः।
स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये[1] ॥

च० चि० २५।२२-२३

परीक्षात्रैविध्यमुक्तं विभजते—दर्शनेत्यादि। × × × अनुमानं च यद्यपि परीक्षाधिकारे प्रोक्तं—'द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च'

१—इन पद्यों में आये परीक्षणीय विषयों का निर्देश ऊपर कर आये हैं।

(च० वि० ४।५) इत्यादिना, तथाप्यत्रानुमानस्य प्रायो व्यापाराभावादनुपादानमिति ब्रूते, किन्तु दर्शनादिपूर्वकत्वादनुमानस्य दर्शनादिना अनुमानमप्यतीन्द्रियादिषु ग्राहकं संगृहीतमिति युक्तं पश्यामः । ×× दर्शनशब्देन च गृहीतोऽपि स्पर्श इह भूयसा व्याप्रियमाणत्वात् पुनरुक्तः ॥

—चक्रपाणि

चिकित्साशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त :— , दर्शन, त्रिगुण, सृष्टि क्रम, पञ्च महाभूत, जड़ धातु पुरुष, कर्म पुरुष, मन और इन्द्रिय काल और दिशा, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, प्रमाण ॥

उपसंहार

चिकित्साशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त, जिन्हें अन्य विषय प्रारम्भ करने के पूर्व अवश्य जानना चाहिये, उनका दस अध्यायों में हम ने निरूपण किया। पदार्थविज्ञान में आयुर्वेदीय संहिता के ही वचन और सिद्धान्त रहें, इस बात का मैंने आग्रह रखा है, यह बात पुस्तक के पन्ने पलटने से ही वाचक जान जायँगे। इस प्रकरण में—चरक वि० अ० ८ में आयी संभाषा तथा वाद-सम्बन्धी विभिन्न संज्ञाओं (वादमार्गपद) तथा सुश्रुत में वर्णित इसीसे मिलती-जुलती 'तन्त्रयुक्तियों' (सु० उ० ३५ संपूर्ण) का भी उल्लेख कई लेखक करते हैं। पर मेरी समझ में उनका आधारभूत सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं; प्रथम वर्ष के विद्यार्थी के लिए वे क्लिष्ट भी हैं। उनका अध्यापन स्नातकोत्तर परीक्षा में—जिसमें संपूर्ण ग्रन्थ नियत होता है—ही समीचीन होगा। यों कई वादमार्गपदों का मैंने प्रकरणवशात् निर्देश भी किया है—इति शम्।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता, पटना, झांसी और नागपुर
का
संक्षिप्त परिचय

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का जो उन्नत स्वरूप आज देश के सामने है, इस के पीछे एक गौरवपूर्ण अतीत, एक संघर्षमय जीवन और एक साहसिकतापूर्ण अध्यवसाय का चिरस्मरणीय इतिहास भी है। आज से ३१ साल पूर्व जब इस कारकाने की नींव दी गयी थी, तो शायद यह अन्दाज नहीं था कि इस कारखाने का यशगान भारत के गांव-गांव, घर-घर और नगर-नगर में होने लगेगा, इसकी औषधियां विदेशी-औषधियों से टक्कर लेकर उन्हें पराजित करेंगी और देशी चिकित्सा-पद्धति की धाक देश के शिक्षित-अशिक्षित सभी लोगों में जमा कर आयुर्वेद के उद्धार का कारण बनेंगी।

बैद्यनाथ धाम (देवघर) हिन्दुओं का अति पुनीत, सिद्धपीठ-तीर्थस्थान है। बाबा बैद्धनाथ के समक्ष किया गया शुभ-संकल्प कभी विफल नहीं होता। आज भी लाखों नर-नारी बाबा के धाम पर पहुंच कर शुभ-संकल्प करते और मनोरथ की सिद्धि प्राप्त करते हैं। इसी पुनीत तीर्थस्थान में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की नींव डाल कर आयुर्वेद के उद्धार का जो संकल्प किया गया था, उसी के अनुसार उस महायज्ञ में भागीरथ प्रयत्न किया गया। बाबा के सम्मुख किया गया संकल्प सफल हुआ। विशुद्ध

और असली दवाओं के निर्माण एवं जनता-जनार्दन की सेवा के फलस्वरूप श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन एवं उसकी औषधों की पहुँच आज देश के गाँव-गाँव, नगर-नगर और घर-घर में हो चुकी है। बहुत सूक्ष्म रूप में हम उस संगठन का परिचय आपको यहां कराना चाहते हैं।

रिसर्च-विभाग

यह विभाग "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" के जन्मकाल के कुछ ही दिन बाद खुल गया था। किन्तु पहले इस काम को काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, गुरुकुल काँगड़ी तथा ऋषिकुल विद्यालयों को आर्थिक सहायता देकर कराया जाता था। किन्तु भगवान की दया से अब गत वर्ष से एक स्वतन्त्र-विभाग इसके लिए खोल दिया गया है। वास्तव में यह विभाग ही औषध-निर्माण का आधार है। इस विभाग से "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" को ही नहीं, समस्त आयुर्वेद जगत् को लाभ है।

यह विभाग सारे हिन्दुस्तान के प्रत्येक भाग में अलग-अलग नामों से या एक ही नाम से प्रचलित औषधों और वनस्पतियों को एकत्रित करता है। इस कार्य में हमारी सभी शाखाओं, वेतनभोगी-कर्मचारियों, कमीशन-एजेण्टों और दवा-विक्रेताओं के अलावा स्वतन्त्र वैद्य, डाक्टर, सरकारी जङ्गलात व कृषि-विभाग से भरपूर सहायता मिलती है।

वनौषधियों की छानबीन के लिए भारत के ख्यातनामा वनौषधि-विशेषज्ञ, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी के प्रोफेसर ठाकुर बलवन्त सिंह, एम० एस-सी०, आयुर्वेदाचार्य के नायकत्व में विशेषज्ञों की एक टोली बिहार के जंगलों का दौरा कर रही है। ठाकुर बलवन्त सिंह भारत के गिने हुए चार-पाँच सर्वश्रेष्ठ बनौषधिशास्त्र-वेत्ताओं (Botanists) में से एक हैं। इन विशेषज्ञों की खोज के बाद जो महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट छप कर तैयार होगी, वह आयुर्वेद-जगत् को "श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" की एक अमूल्य देन होगी।

आज इस बात की जरूरत है कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों से ढूँढ़-ढूँढ़ कर बनौषधियों को निकाला जाय, उनसे औषध-निर्माण-कार्य को सुसम्पन्न और परिपूर्ण बनाया जाय। विदेशी औषधों का आधार मुख्यतः खनिज धातुएँ हैं, क्योंकि उन्हें ताजी वनौषधियाँ उपलब्ध नहीं, पर आयुर्वेदीय औषधों का प्रधान आधार तो वनौषधियाँ ही हैं, जो रोग-नाशक शक्तियों और स्वास्थ्यदायक गुणों में अद्वितीय हैं, एवं शरीर को हानि पहुंचानेवाले दुर्गुणों से मुक्त हैं। इसलिये हमारे रिसर्चविभाग ने इस कार्य को बड़े पैमाने पर शुरू किया है। हमारी विस्तृत-योजना के अनुसार शीघ्र ही ५० हजार रुपये प्रति वर्ष खर्चकर आतुरालय और रिसर्च-भवन खोला जायगा, जिसमें सभी मूल द्रव्यों का वैज्ञानिक परीक्षण होगा। इस कार्य से समस्त औषध-निर्माण जगत् लाभान्वित होगा।

वनौषधि-विक्री-विभाग

असली वनौषधियों के अभाव में आयुर्वेदीय औषधों के निर्माण में कितनी कठिनाई होती है, यह सभी वैद्य जानते हैं। जब हमारे जैसे साधन-सम्पन्न कारखाने को इस कार्य में कठिनाई होती है, तो छोटे पैमाने पर औषध बनानेवाले वैद्य के लिए तो असली बनौषधियों का प्राप्त करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। नतीजा यह होता है कि असली वनौषधियों के अभाव में बाजारू नकली चीजों पर निर्भर रहना पड़ता है। फलतः शुद्ध औषधों के नहीं प्रस्तुत होने से आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति एवं वैद्य की शिकायत होती है। इसलिए "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" ने औषध बनानेवालों को असली वनौषधि प्राप्त करने में सुविधा देने के विचार से इस विभाग को खोला है। उचित मूल्य पर ताजा और असली बनौषधि देना इस विभाग का काम है। इस विभाग के द्वारा थोक भाव से विक्री की जाती है। जिन लोगों को अधिक परिमाण में वनौषधियाँ चाहिये उन्हें हमारे इस विभाग से पत्र-व्यवहार करना चाहिए।

परीक्षण-विभाग

इसमें इकट्ठी की हुई जड़ी-बूटियाँ, असिद्ध खनिज एवं औषध-निर्माण के काम में आनेवाली अन्य वस्तुओं का परीक्षण स्वयं अपने प्रयोगशाला में अनुभवी और योग्य वैद्यों और रसायन-शास्त्रियों द्वारा किया जाता है। अन्यान्य सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओं को नियमित रिसर्च-कार्य के लिए आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन भी इस विभाग द्वारा दिया जाता है।

औषध-निर्माण-विभाग

इस विभाग में विशेषज्ञ-आयुर्वेदाचार्यों और निर्माणकुशल वैद्यशास्त्रियों का एक पूरा दल काम करता है; जिनकी देख-रेख में औषधों का शुद्ध शास्त्रीय रीति से निर्माण होता है और निर्माण की अवस्था में भवन के मालिक लोग जो स्वयं औषध-विज्ञान के कुशल ज्ञाता हैं, उपस्थित रहकर निरीक्षण करते हैं। साथ ही इस विभाग को दूसरे विभागों के विशेषज्ञों की सहायता भी मिलती है। इस प्रकार इस विभाग के सुन्दर-संगठन और उचित देख-रेख का ही फल है कि आज "श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" की बनी हुई औषधें सबसे अच्छी और असली समझी जाती हैं।

निर्माण-विभाग का प्रबन्ध—कुशलता और विशुद्धता के कारण ही असली औषधों की पंक्ति में वैद्यनाथ औषधें सब से आगे हैं। देश के बड़े-बड़े नेताओं, विद्वानों और वैद्यों ने हमारी औषधों की विशुद्धता की केवल प्रशंसा ही नहीं की है, बल्कि स्वयम् वैद्यनाथ दवाओं का व्यवहार कर उसकी असलियत का अनुभव किया है। यही कारण है कि हमारी दवाओं की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और इतनी बढ़ी कि एक स्थान से सारे देश में माल भेजना कठिन हो गया। इसलिए **कलकत्ता, पटना, झांसी** और **नागपुर** चार स्थानों में औषधनिर्माण के लिए वृहत् केन्द्र खोलने पड़े। खनिज द्रव्यों एवं वनौषधियों की प्राप्ति, आवश्यक जलवायु का सुपास एवं

निर्माण की सुगमता के खयाल से भी भिन्न-भिन्न स्थानों में निर्माणशाला का खोलना आवश्यक हुआ ।

"श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" ने अपनी निर्माणशालाओं की सुव्यवस्था के कारण आयुर्वेदीय औषधों का उत्तम स्टैण्डर्ड कायम करने में अभूतपूर्व सफलता पायी है । इसलिए भारतवर्ष में हमारी निर्माणशाला को लोग आदर्श मानते हैं ।

पैकिंग-विभाग

दवाओं की सुन्दर और साफ पैकिङ्ग के लिए भी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० प्रसिद्ध है । यह हमारे पैकिङ्ग-विभाग के सुन्दर प्रबन्ध का ही फल है । सुन्दर और साफ पात्रों में दवा रखने और उनकी हिफाजत के लिए सुन्दर पैकिङ्ग करने से दवाएँ बहुत दिनों तक बिगड़ने नहीं पातीं और उनके गुण बरकरार रहते हैं । साथ ही वर्तमान समय में औषधों की सुन्दर पैकिङ्ग का भी एक खास महत्त्व है । "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" के पैकिङ्ग-विभाग ने इस दिशा में क्रान्ति की है ।

दवा की सच्ची तौल, लेबुल आदि लगाने की सफाई उतनी ही अच्छी है, जितनी श्रेष्ठ इसकी दवा है ।

आडर-सप्लाई-विभाग

हमारी औषधों की मांग जिस तेजी के साथ बढ़ी और जितने बड़े-बड़े आर्डर हमारे पास आने लगे हैं, यदि सप्लाई-विभाग का संगठन उत्तम नहीं रहता, तो इतनी खूबी से हम देश के कोने-कोने में माल पहुंचाने में सफल नहीं होते ।

हमारा यह विभाग पूर्णरूपेण सुसंगठित है । एजेन्सियों से आनेवाली दवाओं की मांग को ठीक-ठीक जाँच कर भेजना इस विभाग का काम है ।

प्रबन्ध-विभाग

सारे कारखाने का व्यवस्थित रहना, हर अङ्ग का ठीक से काम करना प्रबन्ध-विभाग पर ही निर्भर करता है। हमने शुरू से ही प्रबन्ध की उत्तमता पर ध्यान रखा है। प्रबन्ध की उत्तमता योग्य कर्मचारी-मण्डल तथा मालिकों की सतत देख-रेख पर निर्भर करता है। इस विभाग में योग्य कर्मचारीमण्डल (staff) के ऊपर मैनेजर, सहायक मैनेजर, वैद्यराज एवं निरीक्षक हैं, जिससे प्रबन्ध की उत्तमता के विषय में भी हमारा कारखाना सर्वश्रेष्ठ है।

एकाउन्ट्स-विभाग

इस विभाग में कारखाने के आमद-खर्च का पैसे-पैसे का हिसाब रखने के लिए योग्य मुनीमों और एकाउन्टेन्टों का एक बहुत बड़ा समूह काम करता है।

प्रचार–विभाग

हमारी औषधों के असली प्रचारक तो उसके ग्राहक ही हैं। जो आदमी एक बार दवा ले जाता है वह स्वयम् तो वैद्यनाथ दवाओं का भक्त बन ही जाता है, वह उन औषधों के बारे में चारो ओर प्रचार भी करता है। वैद्यनाथ औषधोंके घर-घर प्रचलित होनेका असली कारण यही है। लेकिन फिर भी हमारी असली दवाओं की लोगों को जानकारी हो जाय और नकली दवाओं और नक्कालों से बचे रहें, इसलिए हमारा यह विभाग पंचाङ्ग, ट्रैक्ट, हैण्डबिल, पोस्टर तथा दूसरे-दूसरे प्रकार के साहित्यों के जरिये प्रचार करता है।

प्रेस व प्रकाशन–विभाग

आयुर्वेदीय ग्रन्थों एवं लेबुल, सेवनविधि तथा प्रचार-विभाग के साहित्य की छपाई का काम इतना अधिक हमारे यहाँ होता है कि उसके लिये एक

बड़ा प्रेस खोलने का प्रबन्ध करना पड़ा। उस प्रेस का कर्मचारीमण्डल (staff) भी बड़ा ही योग्य और अनुभवशील है। हमारे प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रकाशित "सचित्र आयुर्वेद" नामक मासिक पत्र आयुर्वेद का सर्वश्रेष्ठ पत्र समझा जाता है। हमारे इसी विभाग द्वारा प्रकाशित आयुर्वेद के उत्तमोत्तम ग्रन्थ आज आयुर्वेद-साहित्य का भण्डार भर रहे हैं।

स्वास्थ्य-रक्षा एवं धर्मार्थ विभाग

इस विभाग का काम है, जगह-जगह आवश्यकतानुसार धर्मार्थ-औषधालय खोलना तथा अन्य उपायों से, जैसे पीड़ित-क्षेत्रों में औषध और वैद्य भेज कर—दुःखी एवं असहाय प्राणियों की सेवा करना। इसके अलावा हमारे वैद्य मुहल्ले-मुहल्ले तथा गाँव-गाँव में घूम-घूम कर आयुर्वेदीय स्वास्थ्य-रक्षा का प्रचार करते तथा तत्सम्बन्धी साहित्य एवं संयम-नियम, भोजन के बारे में छपा चार्ट बाँटते हैं ; ताकि लोग उन नियमों पर चल कर बीमार न होने पावें।

इस विभाग का यह काम है कि वह इस बात का यत्न करे कि लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन कर स्वस्थ रहें।

एजेन्सी और बिक्री-विभाग

सारे देश में हमारे ४५ से भी अधिक बिक्री-केन्द्र और १४ हजार से अधिक एजेन्सियाँ हैं। इनका अलग-अलग हिसाब-किताब तथा रेकार्ड रखने के लिए एक खास विभाग है जिसमें योग्य कार्यकर्त्ता काम करते हैं।

नयी एजेन्सी

नयी एजेन्सी के लिये चिट्ठी, रजिष्ट्री, तथा तार का हमारे आफिस में तांता-सा बंधा रहता है। इसके अलावे हमारे प्रत्येक कार्यालय में प्रतिदिन दो चार सज्जन रेल-किराया खर्च करके सिर्फ इसी काम के लिये आते रहते हैं। ऐसे सज्जनों की सुविधा के लिये हम यह निवेदन कर देना आवश्यक

समझते हैं कि उनके यहां से हमारा कलकत्ता, पटना, झांसी या नागपुर का जो कार्यालय नजदीक पड़ता हो उसी कार्यालय से पत्र व्यवहार करना चाहिये। नयी एजेन्सी के लिये पत्र आने पर सर्व-प्रथम "संक्षिप्त परिचय" नाम की पुस्तिका उनके पास तत्काल भेज दी जाती है। उस पुस्तिका को पढ़ने से एजेन्सी-सम्बन्धी मोटा-मोटी जानकारी हो जाती है। "संक्षिप्त परिचय" पुस्तिका के साथ ही एक छपा फार्म भी भेजा जाता है जिस में लिखे प्रश्नों का उत्तर आने पर ही यह निश्चय किया जाता है कि अमुक स्थान में एजेन्सी दी जायगी या नहीं। जहाँ की एजेन्सी देनी होती है, उनके पास पूरी जानकारी के लिये एजेन्सी-नियम तथा एजेण्ट बनने सम्बन्धी अन्य आवश्यक साहित्य भेज दिये जाते हैं और इसके अनुसार आर्डर आदि आने पर एजेन्सी कायम करके माल भेज दिया जाता है और उनका नाम वैद्यनाथ के अधिकार प्राप्त एजेण्टों में लिख लिया जाता है। हिन्दुस्तान के सभी मुख्य-मुख्य शहरों, कस्बों तथा देहातों में हमारे एजेण्ट मौजूद हैं, और हमारी दवाओं की एजेन्सी की बदौलत आर्थिक लाभ के साथ ही साथ नाम और यश भी कमा रहे हैं।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के कुछ उल्लेखनीय प्रयत्न

(१) श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की बिक्री पर ज्यादे-से ज्यादे ५) रु० सैकड़ा के अलावा बाकी सब आयुर्वेद की उन्नति में खर्च होता है और होता रहेगा। आयुर्वेद की दवाइयां सर्वोत्तम बनाने (रिसर्च) में ही सबसे ज्यादे खर्च होता है।

(२) राष्ट्रोन्नति और सेवा-भावना से आयुर्वेद की दवा बनानेवालों को पूर्ण प्रोत्साहन दिया जाता है। बहुत बड़ी तादाद में आयुर्वेद की दवाइयाँ किस तरह बनानी चाहिये, तथा वे निश्चित गुणकारी कैसे हो सकती हैं, उनको वर्तमान रुचि के अनुकूल कैसे बनाया जा सकता है, इत्यादि हमारा महत्वपूर्ण अनुभव वे खुद देख कर जान सकते हैं। हिन्दुस्तान के

स्वतन्त्र होने के बाद नये राष्ट्रका निर्माण हो रहा है, उसमें आयुर्वेद चिकित्सा-प्रणाली को सुन्दर अवसर मिलने वाला है। दवाओं के निर्माण के बृहद् आयोजन द्वारा ही हम डाक्टरी दवाओं तथा चिकित्सा से लड़कर उन्हें इस देश से खतम कर राष्ट्रीय चिकित्सा के आसन पर आयुर्वेद को बैठा सकते हैं। "श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०" इसके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है।

(३) आयुर्वेद-विद्यालयों से निकलनेवाले वैद्य पूर्णविद्वान और सेवा-भावयुक्त हों—इसके लिये आर्थिक सहायता और छात्र-वृत्तियाँ पहले से ज्यादे कर दी गई हैं। बिहार-गवर्नमेंट और काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेद-विभाग की प्रबन्ध-सदस्यता हमने इसी उद्देश्य से स्वीकार की है।

(४) आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के आधार पर डाक्टरी के टक्कर की पाठ्य पुस्तकें प्रस्तुत करने के उद्देश्य से **"शरीर-क्रिया-विज्ञान" "पदार्थ - विज्ञान" "मानसरोग-विज्ञान" "सिद्धयोग-संग्रह" आयुर्वेदीय पदार्थ - विज्ञान, यूनानी सिद्धयोगसंग्रह** और **"आरोग्य-प्रकाश"** आदि ग्रन्थों का प्रकाशन भी इसी उद्देश्य से हुआ है। आरोग्यप्रकाश का तो ऐसा प्रचार हुआ कि देखते-देखते उसके सात संस्करणों में ५३००० कापियाँ बिक गयीं और आठवें संस्करण में १५००० कापी फिर छापी गयी हैं। सिद्धियोग-संग्रह का तीसरा संस्करण छपा है और शरीर-क्रिया-विज्ञान का द्वितीय संस्करण 'आयुर्वेद क्रियाशारीर' के नाम से छप रहा है। ये भी आयुर्वेद के सर्वोत्तम ग्रन्थ माने गये हैं।

(५) यूनानी चिकित्सा भी हमारे लिये उपयोगी है। पूर्ण अधिकारी विद्वान द्वारा राष्ट्र-भाषा में **"यूनानी सिद्धयोग-संग्रह"** लिखवा कर इस अभाव की पूर्ति की गई है।

(६) भारतीयों की तन्दुरुस्ती का सुधार आयुर्वेद के आधारसे ही हो सकता है—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये **"सचित्र आयुर्वेद"** नाम का मासिक पत्र प्रकाशित कर रहे हैं। 'पथ्यापथ्य' 'किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य'

आदि सरीखी पुस्तकें तथा छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी प्रकाशित होते रहते हैं।

(७) अपने धर्मार्थ आयुर्वेदीय दवाखानों की संख्या अब चारों ओर हो गई है। यहाँ गरीब रोगियों को उत्तम दवा ही मुफ्त नहीं दी जाती, बल्कि पथ्य भी मुफ्त दिया जाता है। हर जगह स्वास्थ्य-रक्षा-केन्द्र भी खोले गये हैं।

(८) धर्मार्थ दवाखानों को हमारे यहाँ से लागत मूल्य में दवा दी जाती थी ; अब प्रमाणित धर्मार्थ दवाखानों को मुफ्त दवा भेजने का भी प्रबन्ध किया गया है।

(९) हैजा, महामारी, मलेरिया, बाढ़ आदि से पीड़ित प्राणियों की सेवा के लिये १ वैद्य, २ कम्पाउण्डर, और २ नौकरों की एक मंडली संगठित की गई है जो पर्व, मेले आदि पर भी सेवा करने जाती है। इसके अलावे इन स्थानों में भी बीमारियों से बचने के उपाय छपवा कर काफी तादाद में बँटवाए जाते हैं।

(१०) हर वर्ष हमारे सभी कारखानों एवं बिक्री-केन्द्रों में श्री धन्वन्तरि जयन्ती मनायी जाती है, जिसमें हजारों वैद्य भाग लेते हैं। करीब दश हजार रुपये हर साल इसमें खर्च किये जाते हैं। वैद्यों में भ्रातृभाव और संगठन के लिये इसका अधिक प्रचार करने की हमारी योजना है।

(११) राष्ट्रीय काम में भी उत्साहपूर्वक धन दिया जाता है। कई विद्यालय, स्कूल, आश्रम, पुस्तकालय आदि सिर्फ हमारे ही खर्च से चलते हैं।

(१२) आयुर्वेद की उन्नति के लिये हम अपने प्रभाव को भी काम में लाते हैं। हमारा प्रयत्न है कि 'कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल' आयुर्वेद को पर्याप्त प्रोत्साहन दे। बिहार में तो निश्चित रूप से आयुर्वेद को प्रोत्साहन मिलेगा, ऐसी हमारी आशा है।

श्र

यौँ वि
शो चिकित्स
जमा कर आयु
वैद्यनाथ
है। बाबा बै
होता। आज
संकल्प करते अ
में श्री बैद्यनाथ
जो संकल्प कि
किया गया।

my god thou

40
50 (a0)

My god thou

1. Thou My knowledge increa
day by day.

2.

श्री

नाथ
। बाबा बै
होता। आ
संकल्प करते अ
में श्री वैद्यनाथ
जो संकल्प कि
किया गया।

श्र

ाथ
। बाबा
ाता। आ
संकल्प करते
में श्री वैद्यना
जो संकल्प कि
किया गया।

श्र

क व
वयाँ
शी चिकि
जमा कर अ
वैद्यना
है। बाबा
होता। अ
संकल्प करते
में श्री बैद्यन
जो संकल्प
किया गया।

प्राक्कथन

आधुनिक चिकित्साशास्त्र के यथार्थ ज्ञान के लिए जैसे आधुनिक पदार्थ-विज्ञान (फिजिक्स और केमिस्ट्री) के ज्ञान की आवश्यकता है वैसे ही भारतीय चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) को ठीक समझने के लिए आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। आयुर्वेद के वर्तमान समय में उपलब्ध चरक, सुश्रुत, भेलसंहिता, काश्यपसंहिता, रस-वैशेषिक सूत्र, अष्टाङ्गसंग्रह आदि संहिताग्रन्थों में पदार्थविज्ञान का विषय भिन्न-भिन्न स्थलों में प्रसंगवशात् लिखा हुआ विकीर्ण (बिखरे) रूप में प्राप्त होता है। उनका एकत्र संग्रह कर के स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में पाठ्य-ग्रन्थ तय्यार करना नितान्त आवश्यक है। आधुनिक पदार्थविज्ञान (भौतिक शास्त्र) में केवल जड़सृष्टि का विचार और विवरण किया गया है। परन्तु भारतीय दार्शनिकों और आयुर्वेदाचार्यों ने जड़ और चेतन उभयविध सृष्टि का विचार और विवरण किया है। अतः भारतीय दर्शनों एवं आयुर्वेद में पञ्च महाभूतों और भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त आत्मा, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन आदि का भी वर्णन पाया जाता है।

आयुर्वेद के पदार्थविज्ञान के आदि स्रोत वेद, गीता, महाभारत, पुराण, मन्वादि स्मृति तथा दर्शनग्रन्थ हैं। तथापि आयुर्वेदाचार्यों ने इन ग्रन्थों के सब-के-सब विचारों और सिद्धान्तों को सर्वत्र वैसे-का-वैसा अविकल रूप में नहीं लिया है, किन्तु उनको अपने चिकित्साशास्त्र के अनुकूल ढाँचे में बैठाकर उनका निरूपण किया है। अतः आयुर्वेद में कहीं-कहीं दार्शनिक विच[illegible]चार भी पाये जाते हैं।

आयुर्वेद के शिक्षणालयों में पदार्थविज्ञान विषय सिखाते हुए इस तथ्य को दृष्टि में रखना चाहिए। प्रायः यह विषय तर्कसंग्रह और सांख्यकारिका द्वारा सिखाया जाता है। वह ठीक नहीं है। कारण, आयुर्वेद का अपना स्वतन्त्र पदार्थविज्ञान है, जो दार्शनिक पदार्थविज्ञान से कई अंशों में भिन्न है। आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान का बोध इन ग्रन्थों से सम्यक् नहीं होता है।

आयुर्वेदमहाविद्यालयों में पदार्थविज्ञान विषय के अध्यापन के लिए एक ग्रन्थ वैद्य रामरक्षजी पाठक, प्रिंसिपल अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय ने लिखा है। इसे श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ने प्रकाशित किया है। इस विषय पर श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय के वाइस-प्रिंसिपल वैद्य रणजित राय जी आयुर्वेदालंकार का लिखा हुआ यह द्वितीय ग्रन्थ भी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा प्रकाशित हो रहा है। अपनी-अपनी दृष्टि से विषय के प्रतिपादन का भरसक प्रयत्न दोनों विद्वान् लेखकों ने किया है। दोनों ने विषय के दो पहलुओं में एक-एक का स्वतन्त्र निरूपण किया है। आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान को यथावत् समझने के लिये दोनों ही ग्रन्थों का अध्ययन और अध्यापन में उपयोग अध्यापक, विद्यार्थी एवं वैद्यजन करें ऐसा मेरा अनुरोध है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक श्री वैद्य रामनारायण जी शर्मा को अनेक धन्यवाद देता हूँ।

टॉ॰ वीगास स्ट्रीट,
मुंबई

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य